मानसरोवर

(भाग : ५)

लेखक
प्रेमचन्द

सरस्वती प्रेस बनारस

विषय-सूची

मन्दिर

(१)

मातृ-प्रेम ! तुझे धन्य है। संसार में और जो कुछ है, मिथ्या है, निस्सार है। मातृ-प्रेम ही सत्य है, अक्षय है, अनश्वर है। तीन दिन से सुखिया के मुँह में न अन्न का एक दाना गया था, न पानी की एक बूँद। सामने पुआल पर माता का नन्हा-सा लाल पड़ा कराह रहा था। आज तीन दिन से उसने आँखें न खोली थीं। कभी उसे गोद में उठा लेती, कभी पुआल पर सुला देती। हँसते-खेलते बालक को अचानक क्या हो गया, यह कोई नहीं बताता था। ऐसी दशा में माता को भूख और प्यास कहाँ? एक बार पानी का एक घूँट मुँह में लिया था, पर कण्ठ के नीचे न ले जा सकी। इस दुखिया की विपत्ति का वारपार न था। साल-भर के भीतर दो बालक गंगा की गोद में सौंप चुकी थी। पतिदेव पहले ही सिधार चुके थे। अब उस अभागिनी के जीवन का आधार, अवलम्ब, जो कुछ था, यही बालक था। हाय! क्या ईश्वर इसे भी उसकी गोद से छीन लेना चाहते हैं?—यह कल्पना करते ही माता की आँखों से झर-झर आँसू बहने लगते थे। इस बालक को वह एक क्षण-भर के लिए भी अकेला न छोड़ती थी। उसे साथ लेकर घास छीलने जाती। घास बेचने बाजार जाती, तो बालक गोद में होता। उसके लिए उसने नन्हीं-सी खुरपी और नन्हीं-सी खाँची बनवा दी थी। जियावन माता के साथ घास छीलता और गर्व से कहता—अम्माँ, हमें भी बड़ी-सी खुरपी बनवा दो, हम बहुत-सी घास छीलेंगे; तुम द्वारे माची पर बैठी रहना, अम्माँ, मैं घास बेच लाऊँगा। माँ पूछती—हमारे लिए क्या-क्या लाओगे, बेटा? जियावन लाल-लाल साड़ियों का वादा करता। अपने लिए बहुत-सा गुड़ लाना चाहता था। वे ही भोली-भोली बातें इस समय याद आ-आकर माता के हृदय को शूल के समान बेध रही थीं। जो बालक को देखता, यही कहता कि किसी की डीठ है, पर किसकी डीठ है? इस विधवा का भी संसार में कोई वैरी है? अगर उसका नाम मालूम हो जाता, तो सुखिया जाकर उसके चरणों पर गिर पड़ती और बालक को उसकी गोद में

रख देती। क्या उसका हृदय दया से न पिघल जाता ? पर नाम कोई नहीं बताता। हाय! किससे पूछे, क्या करे ?

(२)

तीन पहर रात बीत चुकी थी। सुखिया का चिन्ता-व्यथित चञ्चल मन कोठे-कोठे दौड़ रहा था। किस देवी की शरण जाय, किस देवता की मनौती करे, इसी सोच में पड़े-पड़े उसे एक झपकी आ गई। क्या देखती है कि उसका स्वामी आकर बालक के सिरहाने खड़ा हो जाता है और बालक के सिर पर हाथ फेरकर कहता है—रो मत, सुखिया! तेरा बालक अच्छा हो जायगा। कल ठाकुरजी की पूजा कर दे, वही तेरे सहायक होंगे। यह कहकर वह चला गया। सुखिया की आँख खुल गई। अवश्य ही उसके पतिदेव आये थे, इसमें सुखिया को ज़रा भी सन्देह न हुआ। उन्हें अब भी मेरी सुधि है, यह सोचकर उसका हृदय आशा से परिप्लावित हो उठा। पति के प्रति श्रद्धा और प्रेम से उसकी आँखें सजल हो गईं। उसने बालक को गोद मे उठा लिया और आकाश की ओर ताकती हुई बोली—भगवन्! मेरा बालक अच्छा हो जाय, मैं तुम्हारी पूजा करूँगी। अनाथ विधवा पर दया करो।

उसी समय जियावन की आँखें खुल गईं। उसने पानी माँगा। माता ने दौड़कर कटोरे में पानी लिया और बच्चे को पिला दिया।

जियावन ने पानी पीकर कहा—अम्माँ, रात है कि दिन ?

सुखिया—अभी तो रात है, बेटा, तुम्हारा जी कैसा है ?

जियावन—अच्छा है, अम्माँ! अब मैं अच्छा हो गया।

सुखिया—तुम्हारे मुँह में घी-शक्कर, बेटा, भगवान् करे तुम जल्द अच्छे हो जाओ! कुछ खाने को जी चाहता है ?

जियावन—हाँ अम्माँ, थोड़ा-सा गुड़ दे दो।

सुखिया—गुड़ मत खाओ भैया, अवगुन करेगा। कहो तो खिचड़ी बना दूँ।

जियावन—नहीं मेरी अम्माँ, जरा-सा गुड़ दे दो, तो तेरे पैरों पड़ूँ।

माता इस आग्रह को न टाल सकी। उसने थोड़ा-सा गुड़ निकालकर जियावन के हाथ में रख दिया और हाँड़ी का ढक्कन लगाने जा रही थी कि किसी ने बाहर से आवाज़ दी। हाँड़ी वहीं छोड़कर वह किवाड़ खोलने चली गई। जियावन ने गुड़ की दो पिण्डियाँ निकाल लीं और जल्दी-जल्दी चट कर गया।

(३)

दिन-भर जियावन की तबीयत अच्छी रही। उसने थोड़ी-सी खिचड़ी खाई, दो-एक बार धीरे-धीरे द्वार पर भी आया और हमजोलियों के साथ खेल न सकने पर भी उन्हें खेलते देखकर उसका जी बहल गया। सुखिया ने समझा, बच्चा अच्छा हो गया। दो-एक दिन में जब पैसे हाथ में आ जायँगे, तो वह एक दिन ठाकुरजी की पूजा करने चली जायगी। जाड़े के दिन झाड़ू-बहारू, नहाने-धोने और खाने-पीने में कट गये, मगर जब सन्ध्या-समय फिर जियावन का जी भारी हो गया, तब सुखिया घबरा उठी। तुरन्त मन में शंका उत्पन्न हुई कि पूजा में विलम्ब करने से ही बालक फिर मुरझा गया है। अभी थोड़ा-सा दिन बाकी था। बच्चे को लेटाकर वह पूजा का सामान तैयार करने लगी। फूल तो ज़मींदार के बगीचे में मिल गये। तुलसीदल द्वार ही पर था; पर ठाकुरजी के भोग के लिए कुछ मिष्टान्न तो चाहिए; नहीं तो गाँववालों को बाँटेगी क्या? चढ़ाने के लिए कम-से-कम एक आना तो चाहिए ही। सारा गाँव छान आई, कहीं पैसे उधार न मिले। तब वह हताश हो गई। हाय रे अदिन! कोई चार आने पैसे भी नहीं देता। आखिर उसने अपने हाथों के चाँदी के कड़े उतारे और दौड़ी हुई बनिये की दुकान पर गई, कड़े गिरों रखे, बतासे लिये और दौड़ी हुई घर आई। पूजा का सामान तैयार हो गया, तो उसने बालक को गोद में उठाया और दूसरे हाथ में पूजा की थाली लिये मन्दिर की ओर चली।

मन्दिर में आरती का घण्टा बज रहा था। दस-पाँच भक्त-जन खड़े स्तुति कर रहे थे। इतने में सुखिया जाकर मन्दिर के सामने खड़ी हो गई।

पुजारी ने पूछा—क्या है रे? क्या करने आई है?

सुखिया चबूतरे पर आकर बोली—ठाकुरजी की मनौती की थी, महाराज, पूजा करने आई हूँ।

पुजारीजी दिन-भर ज़मींदार के असामियों की पूजा किया करते थे; और शाम-सबेरे ठाकुरजी की। रात को मन्दिर ही में सोते थे, मन्दिर ही में आपका भोजन भी बनता था, जिससे ठाकुरद्वारे की सारी अस्तरकारी काली पड़ गई थी। स्वभाव के बड़े दयालु थे, निष्ठावान् ऐसे कि चाहे कितनी ही ठण्ढ पड़े, कितनी ही ठण्ढी हवा चले, बिना स्नान किये मुँह में पानी तक न डालते थे। अगर इस पर उनके हाथों और पैरों में मैल की मोटी तह जमी हुई थी, तो इसमें उनका कोई दोष न था!

बोले—तो क्या भीतर चली आयेगी? हो तो चुकी पूजा। यहाँ आकर भरभष्ट करेगी?

एक भक्तजन ने कहा—ठाकुरजी को पवित्र करने आई है!

सुखिया ने बड़ी दीनता से कहा—ठाकुरजी के चरन छूने आई हूं, सरकार! पूजा की सब सामग्री लाई हूँ।

पुजारी—कैसी बेसमझी की बात करती है रे, कुछ पगली तो नहीं हो गई है। भला, तू ठाकुरजी को कैसे छुयेगी?

सुखिया को अब तक कभी ठाकुरद्वारे में आने का अवसर न मिला था। आश्चर्य से बोली—सरकार, वह तो संसार के मालिक हैं। उनके दरसन से तो पापी भी तर जाता है, मेरे छूने से उन्हें कैसे छूत लग जायगी?

पुजारी—अरे, तू चमारिन है कि नहीं रे?

सुखिया—तो क्या भगवान् ने चमारों को नहीं सिरजा है? चमारों का भगवान् कोई और है? इस बच्चे की मनौती है, सरकार!

इस पर वही भक्त महोदय, जो अब स्तुति समाप्त कर चुके थे, डपटकर बोले—मार के भगा दो चुड़ैल को। भरभष्ट करने आई है, फेंक दो थाली-वाली। ससार में तो आप ही आग लगी हुई है, चमार भी ठाकुरजी की पूजा करने लगेंगे, तो पिरथी रहेगी कि रसातल को चली जायगी?

दूसरे भक्त महाशय बोले—अब बेचारे ठाकुरजी को भी चमारों के हाथ का भोजन करना पड़ेगा। अब परलय होने मे कुछ कसर नहीं है।

ठण्ढ पड़ रही थी, सुखिया खड़ी काँप रही थी और यहाँ धर्म के ठेकेदार लोग समय की गति पर आलोचनाएँ कर रहे थे। बच्चा मारे ठण्ढ के उसकी छाती में घुसा जाता था, किन्तु सुखिया वहाँ से हटने का नाम न लेती थी। ऐसा मालूम होता था कि उसके दोनों पाँव भूमि में गड़ गये हैं। रह-रहकर उसके हृदय में ऐसा उद्-गार उठता था कि जाकर ठाकुरजी के चरणों पर गिर पड़े। ठाकुरजी क्या इन्हीं के हैं, हम गरीबों का उनसे कोई नाता नहीं है, ये लोग कौन होते हैं रोकनेवाले, पर यह भय होता था कि इन लोगों ने कहीं सचमुच थाली-वाली फेंक दी, तो क्या करूँगी? दिल मे ऐंठकर रह जाती थी। सहसा उसे एक बात सूझी। वह वहाँ से कुछ दूर जाकर वृक्ष के नीचे अँधेरे में छिपकर इन भक्तजनों के जाने की राह देखने लगी।

(४)

आरती और स्तुति के पश्चात् भक्तजन बड़ी देर तक श्रीमद्भागवत का पाठ करते रहे। उधर पुजारीजी ने चूल्हा जलाया और खाना पकाने लगे। चूल्हे के सामने बैठे हुए 'हूँ-हूँ' करते जाते थे और बीच-बीच में टिप्पणियाँ भी करते जाते थे। दस बजे रात तक कथा-वार्ता होती रही और सुखिया वृक्ष के नीचे ध्यानावस्था में खड़ी रही।

सारे भक्त लोगों ने एक-एक करके घर की राह ली। पुजारीजी अकेले रह गये। अब सुखिया आकर मन्दिर के बरामदे के सामने खड़ी हो गई, जहाँ पुजारीजी आसन जमाये बटलोई का क्षुधावर्धक मधुर संगीत सुनने में मग्न थे। पुजारीजी ने आहट पाकर गरदन उठाई, तो सुखिया को खड़ी देखा। चिढ़कर बोले—क्यों रे, तू अभी यहीं खड़ी है?

सुखिया ने थाली ज़मीन पर रख दी और एक हाथ फैलाकर भिक्षा-प्रार्थना करती हुई बोली—महाराजजी, मैं बड़ी अभागिनी हूँ। यही बालक मेरे जीवन का अलम है, मुझ पर दया करो। तीन दिन से इसने सिर नहीं उठाया। तुम्हें बड़ा जस होगा, महाराजजी!

यह कहते-कहते सुखिया रोने लगी। पुजारीजी दयालु तो थे, पर चमारिन को ठाकुरजी के समीप जाने देने का अश्रुतपूर्व घोर पातक वह कैसे कर सकते थे? न-जाने ठाकुरजी इसका क्या दण्ड दें। आखिर उनके भी तो बाल-बच्चे थे। कहीं ठाकुरजी कुपित होकर गाँव का सर्वनाश कर दें, तो! बोले—घर जाकर भगवान् का नाम ले, तेरा बालक अच्छा हो जायगा। मैं यह तुलसीदल देता हूँ, बच्चे को खिला दे, चरणामृत उसकी आँखों में लगा दे। भगवान् चाहेंगे, तो सब अच्छा ही होगा।

सुखिया—ठाकुरजी के चरणों पर गिरने न दोगे, महाराजजी? बड़ी दुखिया हूँ, उधार काढ़कर पूजा की सामग्री जुटाई है। मैंने कल सपना देखा था महाराज, कि ठाकुरजी की पूजा कर, तेरा बालक अच्छा हो जायगा। तभी दौड़ी आई हूँ। मेरे पास एक रुपया है। वह मुझसे ले लो; पर मुझे एक छन-भर ठाकुरजी के चरनों पर गिर लेने दो।

इस प्रलोभन ने पण्डितजी को एक क्षण के लिए विचलित कर दिया; किन्तु मूर्खता के कारण ईश्वर का भय उनके मन में कुछ-कुछ बाकी था। सँभलकर बोले—

अरी पगली, ठाकुरजी भक्तों के मन का भाव देखते हैं कि चरन पर गिरना देखते हैं। सुना नहीं है—'मन चङ्गा तो कठौती में गङ्गा'। मन में भक्ति न हो, तो लाख कोई भगवान् के चरनों पर गिरे, कुछ न होगा। मेरे पास एक जन्तर है। दाम तो उसका बहुत है; पर तुझे एक ही रुपये में दे दूँगा। उसे बच्चे के गले में बाँध देना। बस, कल बच्चा खेलने लगेगा।

सुखिया—तो ठाकुरजी की पूजा न करने दोगे ?

पुजारी—तेरे लिए इतनी ही पूजा बहुत है। जो बात कभी नहीं हुई, वह आज मैं कर दूँ और गाँव पर कोई आफत-विपत पड़े, तो क्या हो, इसे भी तो सोच! तू यह जन्तर ले जा, भगवान् चाहेंगे, तो रात ही भर में बच्चे का क्लेश कट जायगा। किसी की डीठ पड़ गई है। है भी तो चोंचाल। मालूम होता है, छत्तरी बस है।

सुखिया—जबसे इसे जर आया है, मेरे प्रान नहों में समाये हुए हैं।

पुजारी—बड़ा होनहार बालक है। भगवान् जिला दें, तो तेरे सारे सङ्कट हर लेगा। यहाँ तो बहुत खेलने आया करता था। इधर दो-तीन दिन से नहीं देखा था।

सुखिया—तो जन्तर को कैसे बाँधूँगी, महाराज ?

पुजारी—मैं कपड़े में बाँधकर देता हूँ। बस, गले में पहना देना। अब तू इस बेला नवीन बस्तर कहाँ खोजने जायगी।

सुखिया ने दो रुपये पर कड़े गिरों रखे थे। एक पहले ही भँज चुका था। दूसरा पुजारीजी को भेंट किया और जन्तर लेकर मन को समझाती हुई घर लौट आई।

(५)

सुखिया ने घर पहुँचकर बालक के गले में यन्त्र बाँध दिया, पर ज्यों-ज्यों रात गुजरती थी, उसका ज्वर भी बढता जाता था, यहाँ तक कि तीन बजते-बजते उसके हाथ-पाँव शीतल होने लगे। तब वह घबड़ा उठी और सोचने लगी—हाय! मैं व्यर्थ ही सङ्कोच में पड़ी रही और बिना ठाकुरजी के दर्शन किये चली आई। अगर मैं अन्दर चली जाती और भगवान् के चरणों पर गिर पड़ती, तो कोई मेरा क्या कर लेता ? यही न होता, कि लोग मुझे धक्के देकर निकाल देते, शायद मारते भी; पर मेरा मनोरथ तो पूरा हो जाता। यदि मैं ठाकुरजी के चरणों को अपने आँसुओं से भिगो देती और बच्चे को उनके चरणों मे सुला देती, तो क्या उन्हें दया न आती ?

वह तो दयामय भगवान् हैं, दीनों की रक्षा करते हैं, क्या मुझ पर दया न करते ? यह सोचकर सुखिया का मन अधीर हो उठा। नहीं, अब विलम्ब करने का समय न था। वह अवश्य जायगी और ठाकुरजी के चरणों पर गिरकर रोयेगी। उस अबला के आशंकित हृदय को अब इसके सिवा और कोई अवलम्ब, कोई आश्रय न था। मन्दिर के द्वार बन्द होंगे, तो वह ताले को तोड़ डालेगी। ठाकुरजी क्या किसी के हाथों बिक गये हैं कि कोई उन्हें बन्द कर रखे।

रात के तीन बज गये थे। सुखिया ने बालक को कम्मल से ढाँपकर गोद में उठाया, एक हाथ में थाली उठाई और मन्दिर की ओर चली। घर से बाहर निकलते ही शीतल वायु के झोंकों से उसका कलेजा काँपने लगा। शीत से पाँव शिथिल हुए जाते थे। उस पर चारों ओर अन्धकार छाया हुआ था। रास्ता दो फरलाँग से कम न था। पगडण्डी वृक्षों के नीचे-नीचे गई थी। कुछ दूर दाहिनी ओर एक पोखरा था, कुछ दूर बाँस की कोठियाँ। पोखरे में एक धोबी मर गया था और बाँस की कोठियों में चुड़ैलों का अड्डा था। बाईं ओर हरे-भरे खेत थे। चारों ओर सन-सन हो रहा था, अन्धकार साँय-साँय कर रहा था। सहसा गीदड़ों ने कर्कश स्वर से हुआँ-हुआँ करना शुरू किया। हाय! अगर कोई उसे एक लाख रुपये देता, तो भी इस समय वह यहाँ न आती; पर बालक की ममता सारी शंकाओं को दबाये हुए थी। 'हे भगवान्! अब तुम्हारा ही आसरा है!' यही जपती वह मन्दिर की ओर चली जा रही थी।

मन्दिर के द्वार पर पहुँचकर सुखिया ने जञ्जीर टटोलकर देखी। ताला पड़ा हुआ था। पुजारीजी बरामदे से मिली हुई कोठरी में किवाड़ बन्द किये सो रहे थे। चारों ओर अँधेरा छाया हुआ था। सुखिया चबूतरे के नीचे से एक ईंट उठा लाई और जोर-जोर से ताले पर पटकने लगी। उसके हाथों में न जाने इतनी शक्ति कहाँ से आ गई थी। दो ही तीन चोटों में ताला और ईंट दोनों टूटकर चौखट पर गिर पड़े। सुखिया ने द्वार खोल दिया और अन्दर जाना ही चाहती थी कि पुजारी किवाड़ खोलकर हड़बड़ाये हुए बाहर निकल आये और 'चोर, चोर!' का गुल मचाते गाँव की ओर दौड़े। जाड़ों में प्रायः पहर रात रहे ही लोगों की नींद खुल जाती है। यह शोर सुनते ही कई आदमी इधर-उधर से लालटेनें लिये हुए निकल पड़े और पूछने लगे—कहाँ है, कहाँ है? किधर गया?

पुजारी—मन्दिर का द्वार खुला पड़ा है। मैंने खट-खट की आवाज़ सुनी।

सहसा सुखिया बरामदे से निकलकर चबूतरे पर आई और बोली—चोर नहीं है, मैं हूँ; ठाकुरजी की पूजा करने आई थी। अभी तो अन्दर गई भी नहीं। मार हल्ला मचा दिया।

पुजारी ने कहा—अब अनर्थ हो गया। सुखिया मन्दिर में जाकर ठाकुरजी को भ्रष्ट कर आई।

फिर क्या था, कई आदमी झल्लाये हुए लपके और सुखिया पर लातों और घूँसों की मार पड़ने लगी। सुखिया एक हाथ से बच्चे को पकड़े हुए थी और दूसरे हाथ से उसकी रक्षा कर रही थी। एकाएक एक बलिष्ठ ठाकुर ने उसे इतनी ज़ोर से धक्का दिया कि बालक उसके हाथ से छूटकर जमीन पर गिर पड़ा, मगर वह न रोया, न बोला, न साँस ली। सुखिया भी गिर पड़ी थी। सँभलकर बच्चे को उठाने लगी, तो उसके मुख पर नजर पड़ी। ऐसा जान पड़ा, मानो पानी में परछाईं हो। उसके मुँह से एक चीख निकल गई। बच्चे का माथा छूकर देखा। सारी देह ठण्ढी हो गई थी। एक लम्बी साँस खींचकर वह उठ खड़ी हुई। उसकी आँखों में आँसू न आये। उसका मुख क्रोध की ज्वाला से तमतमा उठा, आँखों से अंगारे बरसने लगे। दोनों मुट्ठियाँ बँध गईं। दाँत पीसकर बोली—पापियो, मेरे बच्चे के प्राण लेकर अब दूर क्यों खड़े हो? मुझे भी क्यों नहीं उसी के साथ मार डालते? मेरे छू लेने से ठाकुरजी को छूत लग गई। पारस को छूकर लोहा सोना हो जाता है, पारस लोहा नहीं हो जाता। मेरे छूने से ठाकुरजी अपवित्र हो जायँगे! मुझे बनाया तो छूत नहीं लगी? लो, अब कभी ठाकुरजी को छूने नहीं आऊँगी। ताले में बन्द करके रखो, पहरा बैठा दो। हाय, तुम्हें दया छू भी नहीं गई! तुम इतने कठोर हो! बाल-बच्चे-वाले होकर भी तुम्हें एक अभागिनी माता पर दया न आई! तिस पर धरम के ठेकेदार बनते हो! तुम सब-के-सब हत्यारे हो, निपट हत्यारे हो। डरो मत, मैं थाना-पुलिस नहीं जाऊँगी, मेरा न्याय भगवान् करेंगे, अब उन्हीं के दरबार में फरियाद करूँगी।

किसी ने चूँ न की, कोई मिनमिनाया तक नहीं। पाषाण-मूर्तियों की भाँति सब-के-सब सिर झुकाये खड़े रहे।

इतनी देर में सारा गाँव जमा हो गया था। सुखिया ने एक बार फिर बालक

के मुँह की ओर देखा। मुँह से निकला—हाय मेरे लाल! फिर वह मूच्छित होकर गिर पड़ी। प्राण निकल गये। बच्चे के लिए प्राण दे दिये।

माता, तू धन्य है! तुझ-जैसी निष्ठा, तुझ-जैसी श्रद्धा, तुझ-जैसा विश्वास देवताओं को भी दुर्लभ है!

— —

निमन्त्रण

पण्डित मोटेराम शास्त्री ने अन्दर जाकर अपने विशाल उदर पर हाथ फेरते हुए यह पद पञ्चम स्वर में गाया—

अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम,
दास मलूका कह गये, सबके दाता राम !

सोना ने प्रफुल्लित होकर पूछा—कोई मीठी ताज़ी खबर है क्या ?

शास्त्रीजी ने पैंतरे बदलकर कहा—मार लिया आज। ऐसा ताककर मारा कि चारों खाने चित्त। सारे घर का नेवता ! सारे घर का ! वह बढ-बढ़कर हाथ मारूँगा कि देखनेवाले दग रह जायँगे। उदर महाराज अभी से अधीर हो रहे हैं।

सोना—कहीं पहले की भाँति अब की भी धोखा न हो। पक्का-पोढ़ा कर लिया है न ?

मोटेराम ने मूँछें ऐंठते हुए कहा—ऐसा असगुन मुँह से न निकालो। बड़े जप-तप के बाद यह शुभ दिन आया है। जो तैयारियाँ करनी हों, कर लो।

सोना—वह तो करूँगी ही। क्या इतना भी नहीं जानती ? जन्म-भर घास थोड़े ही खोदती रही हूँ; मगर है घर-भर का न ?

मोटेराम—अब और कैसे कहूँ ? पूरे घर-भर का है। इसका अर्थ समझ में न आया हो तो मुझसे पूछो। विद्वानों की बात समझना सबका काम नहीं। अगर उनकी बात सभी समझ लें, तो उनकी विद्वत्ता का महत्त्व ही क्या रहे। बताओ क्या समझीं ? मैं इस समय बहुत ही सरल भाषा में बोल रहा हूँ; मगर तुम नहीं समझ सकीं। बताओ, 'विद्वत्ता' किसे कहते हैं ? 'महत्त्व' ही का अर्थ बताओ। घर-भर का निमन्त्रण देना क्या दिल्लगी है ! हाँ, ऐसे अवसर पर विद्वान् लोग राजनीति से काम लेते हैं और उसका वही आशय निकालते हैं, जो अपने अनुकूल हो। मुरादपुर की रानी साहब सात ब्राह्मणों को इच्छापूर्ण भोजन कराना चाहती हैं। कौन-कौन महाशय मेरे साथ जायँगे, यह निर्णय करना मेरा काम है। अलगू-

राम शास्त्री, बेनीराम शास्त्री, छेदीराम शास्त्री, भवानीराम शास्त्री, फेंकूराम शास्त्री, मोटेराम शास्त्री आदि जब इतने आदमी अपने घर ही में हैं, तब बाहर कौन ब्राह्मणों को खोजने जाय ।

सोना—और सातवाँ कौन है ?

मोटे०—बुद्धि को दौड़ाओ ।

सोना—एक पत्तल घर लेते आना ।

मोटे०—फिर वही बात कही जिसमें बदनामी हो । छि-छि, पत्तल घर लाऊँ । उस पत्तल में वह स्वाद कहाँ, जो यजमान के घर बैठकर भोजन करने मे है । सुनो, सातवें महाशय हैं—पण्डित सोनाराम शास्त्री ।

सोना—चलो, दिल्लगी करते हो । भला, मैं कैसे जाऊँगी ?

मोटे०—ऐसे ही कठिन अवसरों पर तो विद्या की आवश्यकता पड़ती है । विद्वान् आदमी अवसर को अपना सेवक बना लेता है, मूर्ख अपने भाग्य को रोता है । सोना देवी और सोनाराम शास्त्री में क्या अन्तर है, जानती हो ? केवल परिधान का । परिधान का अर्थ समझती हो ? परिधान 'पहनाव' को कहते हैं । इसी साड़ी को मेरी तरह बाँध लो, मेरी मिरज़ई पहन लो, ऊपर से चादर ओढ लो । पगड़ी मैं बाँध दूँगा । फिर कौन पहचान सकता है ?

सोना ने हँसकर कहा—मुझे तो लाज लगेगी ।

मोटे०—तुम्हें करना ही क्या है ? बातें तो हम करेंगे ।

सोना ने मन-ही-मन आनेवाले पदार्थों का आनन्द लेकर कहा—बड़ा मज़ा होगा !

मोटे०—बस, अब विलम्ब न करो । तैयारी करो, चलो ।

सोना – कितनी फकी बना लूँ ?

मोटे०—यह मैं नहीं जानता । बस, यही आदर्श सामने रखो कि अधिक-से-अधिक लाभ हो ।

सहसा सोना देवी को एक बात याद आ गई । बोली—अच्छा, इन बिछुओं को क्या करूँगी ?

मोटेराम ने त्योरी चढाकर कहा – इन्हें उठाकर रख देना, और क्या करोगी ?

सोना—हाँ जी, क्यों नहीं । उतारकर रख क्यों न दूँगी ।

मोटे०—तो क्या तुम्हारे बिछुए पहनने ही से मैं जी रहा हूँ ? जीता पौष्टिक पदार्थों के सेवन से। तुम्हारे बिछुओं के पुण्य से नहीं जीता।

सोना—नहीं भाई, मैं बिछुए न उतारूँगी।

मोटेराम ने सोचकर कहा—अच्छा, पहने चलो। कोई हानि नहीं। गोवर्द्धन धारी यह बाधा भी हर लेंगे। बस, पाँव में बहुत-से कपड़े लपेट लेना। मैं कह दूँग इन पण्डितजी को पीलपाँव हो गया है। क्यों कैसी सूझी ?

पण्डिताइन ने पतिदेव को प्रशंसा-सूचक नेत्रों से देखकर कहा—जन्म-भर पढ़ नहीं है।

(२)

सन्ध्या-समय पण्डितजी ने पाँचो पुत्रों को बुलाया और उपदेश देने लगे— पुत्रो, कोई काम करने के पहले खूब सोच-समझ लेना चाहिए कि कैसे क्या होगा मान लो, रानी साहब ने तुम लोगों का पता-ठिकाना पूछना आरम्भ किया, तो तु लोग क्या उत्तर दोगे ? यह तो महान् मूर्खता होगी कि तुम सब मेरा नाम लो सोचो, कितने कलंक और लज्जा की बात होगी कि मुझ-जैसा विद्वान् केवल भोज के लिए इतना बड़ा कुचक्र रचे। इसलिए, तुम सब थोड़ी देर के लिए भूल जाओ कि मेरे पुत्र हो। कोई मेरा नाम न बतलाये। संसार में नामों की कमी नहीं, को अच्छा-सा नाम चुनकर बता देना। पिता का नाम बदल देने से कोई गाली नह लगती। यह कोई अपराध नहीं।

अलगू—आप ही न बता दीजिए।

मोटे०—अच्छी बात है, बहुत अच्छी बात है। हाँ, इतने महत्त्व का का मुझे स्वयं करना चाहिए। अच्छा सुनो—अलगूराम के पिता का नाम है पण्डि केशव पाँड़े, खूब याद कर लो। बेनीराम के पिता का नाम है पण्डित मँगरू ओझ खूब याद रखना। छेदीराम के पिता हैं, पण्डित दमड़ी तिवारी, भूलना नहीं भवानी, तुम गंगू पाँड़े बतलाना, खूब याद कर लो। अब रहे फेकूराम, तुम बेट बतलाना सेतूराम पाठक। हो गये सब! हो गया सबका नाम-करण! अच्छा, अ मैं परीक्षा लूँगा। होशियार रहना। बोलो अलगू, तुम्हारे पिता का क्या नाम है ?

अलगू—पण्डित केशव पाँड़े ?

'बेनीराम, तुम बताओ।'

'दमड़ी तिवारी।'

छेदी—यह तो मेरे पिता का नाम है।

बेनी—मैं तो भूल गया।

मोटे०—भूल गये! पण्डित के पुत्र होकर तुम एक नाम भी नहीं याद रख सकते। बड़े दुःख की बात है! मुझे पाँचो नाम याद हैं, तुम्हें एक नाम भी याद नहीं! सुनो, तुम्हारे पिता का नाम है पण्डित मँगरू ओझा।

पण्डितजी लड़कों की परीक्षा ले ही रहे थे कि उनके परम मित्र पण्डित चिन्तामणिजी ने द्वार पर आवाज़ दी। पण्डित मोटेराम ऐसे घबराये कि सिर-पैर की सुधि न रही। लड़कों को भगाना ही चाहते थे कि पण्डित चिन्तामणि अन्दर चले आये। दोनों सज्जनों में बचपन से ही गाढ़ी मैत्री थी। दोनों बहुधा साथ-साथ भोजन करने जाया करते थे, और यदि पण्डित मोटेराम अव्वल रहते, तो पण्डित चिन्तामणि के द्वितीय पद में कोई बाधक न हो सकता था, पर आज मोटेरामजी अपने मित्र को साथ नहीं ले जाना चाहते थे। उनको साथ ले जाना, अपने घरवालो में से किसी एक को छोड़ देना था और इतना महान् आत्मत्याग करने के लिए वे तैयार न थे।

चिन्तामणि ने यह समारोह देखा, तो प्रसन्न होकर बोले—क्यों भाइ, अकेले-ही-अकेले! मालूम होता है, आज कहीं गहरा हाथ मारा है।

मोटेराम ने मुँह लटकाकर कहा—कैसी बातें करते हो, मित्र! ऐसा तो कभी नहीं हुआ कि मुझे कोई सुअवसर मिला हो और मैंने तुम्हें सूचना न दी हो। कदाचित् कुछ समय ही बदल गया, या किसी ग्रह का फेर है। कोई झूठ को भी नहीं बुलाता।

पण्डित चिन्तामणि ने अविश्वास के भाव से कहा—कोई न-कोई बात तो मित्र अवश्य है, नहीं तो ये बालक क्यों जमा हैं?

मोटे०—तुम्हारी इन्हीं बातों पर मुझे क्रोध आता है। लड़कों की परीक्षा ले रहा हूँ। ब्राह्मण के बालक हैं। चार अक्षर पढ़े बिना इनको कौन पूछेगा?

चिन्तामणि को अब भी विश्वास न आया। उन्होंने सोचा—लड़को से ही इस बात का पता लग सकता है। फेकूराम सबसे छोटा था। उसी से पूछा—क्या पढ़ रहे हो, बेटा? हमें भी सुनाओ।

मोटेराम ने फेकूराम को बोलने का अवसर न दिया। डरे कि यह तो सारा भंडा फोड़ देगा। बोले—यह अभी क्या पढ़ेगा। दिन-भर खेलता है। फेकूराम इतना बड़ा अपराध अपने नन्हें-से सिर पर क्यों लेता। बाल-सुलभ गर्व से बोला—हमको तो याद है, पण्डित सेतूराम पाठक। हम पाठ भी याद कर लें, तिस पर भी कहते हैं, हरदम खेलता है?

यह कहते हुए फेकूराम ने रोना शुरू किया।

चिन्तामणि ने बालक को गले लगा लिया और बोले—नहीं बेटा, तुमने अपना पाठ सुना दिया है। तुम खूब पढ़ते हो। यह सेतूराम पाठक कौन हैं, बेटा! मोटेराम ने बिगड़कर कहा—तुम भी लड़कों की बातों में आते हो। सुन लिया होगा किसी का नाम। (फेकू से) जा बाहर खेल।

चिन्तामणि अपने मित्र की घबराहट देखकर समझ गये कि कोई-न-कोई रहस्य अवश्य है। बहुत दिमाग लड़ाने पर भी सेतूराम पाठक का आशय उनकी समझ में न आया। अपने परम मित्र की इस कुटिलता पर मन में दुखित होकर बोले—अच्छा, आप पाठ पढ़ाइए और परीक्षा लीजिए। मैं जाता हूँ। तुम इतने स्वार्थी हो, इसका मुझे गुमान तक न था। आज तुम्हारी मित्रता की परीक्षा हो गई।

पण्डित चिन्तामणि बाहर चले गये। मोटेरामजी के पास उन्हें मनाने के लिए समय न था। फिर परीक्षा लेने लगे।

सोना ने कहा—मना लो, मना लो। रूठे जाते हैं। परीक्षा फिर ले लेना।

मोटे०—जब कोई काम पड़ेगा, मना लूँगा। निमन्त्रण की सूचना पाते ही इनका सारा क्रोध शान्त हो जायगा। हाँ भवानी, तुम्हारे पिता का क्या नाम है, बोलो?

भवानी—गंगू पाँड़े।

मोटे०—और तुम्हारे पिता का नाम फेकू?

फेकू—बता तो दिया, उस पर कहते हैं, पढ़ता नहीं?

मोटे०—हमें भी बता दो।

फेकू—सेतूराम पाठक तो है?

मोटे०—बहुत ठीक, हमारा लड़का बड़ा राजा है। आज तुम्हें अपने साथ बैठायेंगे और सबसे अच्छा माल तुम्हीं को खिलायेंगे।

सोना—हमें भी तो कोई नाम बता दो।

मोटेराम ने रसिकता से मुसकराकर कहा—तुम्हारा नाम है पण्डित मोहन-सरूप सुकुल।

सोनादेवी ने लजाकर सिर झुका लिया।

(३)

सोनादेवी तो लड़कों को कपड़े पहनाने लगीं। उधर फेकू आनन्द की उमंग में घर से बाहर निकला। पण्डित चिन्तामणि रूठकर तो चले थे; पर कुतूहलवश अभी तक द्वार पर दबके खड़े थे। जिन बातों की भनक इतनी देर में उनके कानों मे पड़ी, उससे यह तो ज्ञात हो गया कि कहीं निमन्त्रण है, पर कहाँ है, कौन-कौनसे लोग निमन्त्रित हैं, यह कुछ ज्ञात न हुआ था। इतनेमें फेकू बाहर निकला, तो उन्होंने उसे गोद में उठा लिया और बोले—कहाँ नेवता है, बेटा?

अपनी जान में तो उन्होंने बहुत धीरे से पूछा था; पर न-जाने कैसे पण्डित मोटेराम के कान में भनक पड़ गई। तुरन्त बाहर निकल आये। देखा, तो चिन्ता-मणिजी फेकू को गोद में लिये कुछ पूछ रहे हैं। लपककर लड़के का हाथ पकड़ लिया और चाहा कि उसे अपने मित्र की गोद से छीन लें, मगर चिन्तामणिजी को अभी अपने प्रश्न का उत्तर न मिला था। अतएव वे लड़के का हाथ छुड़ाकर उसे लिये हुए अपने घर की ओर भागे। मोटेराम भी यह कहते हुए उनके पीछे दौड़े—उसे क्यों लिये जाते हो? धूर्त कहीं का, दुष्ट! चिन्तामणि, मैं कहे देता हूँ, इसका नतीजा अच्छा न होगा; फिर कभी किसी निमन्त्रण में न ले जाऊँगा। भला चाहते हो, तो उसे उतार दो...। मगर चिन्तामणि ने एक न सुनी। भागते ही चले गये। उनकी देह अभी सँभाल के बाहर न हुई थी, दौड़ सकते थे; मगर मोटेरामजी को एक-एक पग आगे बढ़ना दुस्तर हो रहा था। भैंसे की भाँति हाँफते थे और नाना प्रकार के विशेषणों का प्रयोग करते दुल्की चाल से चले जाते थे। और यद्यपि प्रतिक्षण अन्तर बढता जाता था, पर पीछा न छोड़ते थे। अच्छी घुड़दौड़ की। नगर के दो महात्मा दौड़ते हुए ऐसे जान पड़ते थे, मानो दो गैंडे चिड़िया-घर से भाग आये हों। सैकड़ों आदमी तमाशा देखने लगे। कितने ही बालक उनके पीछे तालियाँ बजाते हुए दौड़े। कदाचित् यह दौड़ पण्डित चिन्तामणि के घर ही पर समाप्त होती; पर पण्डित मोटेराम धोती के ढीली हो जाने के कारण उलझकर गिर पड़े। चिन्तामणि ने पीछे

फिरकर यह दृश्य देखा, तो रुक गये और फेकूराम से पूछा—क्यों बेटा, कहाँ नेवता है ?

फेकू—बता दें, तो हमें मिठाई दोगे न ?

चिन्ता०—हाँ, दूँगा, बताओ।

फेकू—रानी के यहाँ।

चिन्ता०—कहाँ की रानी ?

फेकू—यह मैं नहीं जानता। कोई बड़ी रानी हैं।

नगर में कई बड़ी-बड़ी रानियाँ थी। पण्डितजी ने सोचा, सभी रानियों के द्वार पर चक्कर लगाऊँगा। जहाँ भोज होगा, वहाँ कुछ भीड़भाड़ होगी ही, पता चल जायगा। वह निश्चय करके वे लौट पड़े। सहानुभूति प्रकट करने में अब कोई बाधा न थी। मोटेरामजी के पास आये, तो देखा कि वे पड़े कराह रहे हैं। उठने का नाम नहीं लेते। घबराकर पूछा—गिर कैसे पड़े मित्र, यहाँ कहीं गढ़ा भी तो नहीं है !

मोटे०—तुमसे क्या मतलब ! तुम लड़के को ले जाओ, जो कुछ पूछना चाहो, पूछो।

चिन्ता०—मैं यह कपट-व्यवहार नहीं करता। दिल्लगी की थी, तुम बुरा मान गये। ले उठ तो, बैठो राम का नाम लेके। मैं सच कहता हूँ, मैंने कुछ नहीं पूछा।

मोटे०—चल झूठा !

चिन्ता०—जनेऊ हाथ में लेकर कहता हूँ।

मोटे०—तुम्हारी शपथ का विश्वास नहीं।

चिन्ता०—तुम मुझे इतना धूर्त समझते हो ?

मोटे०—इससे कहीं अधिक। तुम गगा मे डूबकर शपथ खाओ, तो भी मुझे विश्वास न आये।

चिन्ता०—दूसरा यह बात कहता, तो मूँछ उखाड़ लेता।

मोटे०—तो फिर आ जाओ !

चिन्ता०—पहले पण्डिताइन से पूछ आओ।

मोटेराम यह भस्मक व्यंग्य न सह सके। चट उठ बैठे और पण्डित चिन्तामणि

ा हाथ पकड़ लिया। दोनों मित्रों मे मल्ल-युद्ध होने लगा। दोनों हनुमानजी की तुति कर रहे थे और इतने ज़ोर से गरज-गरजकर मानो सिंह दहाड़ रहे हों। वस ऐसा जान पड़ता था मानो दो पीपे आपस में टकरा रहे हों।

मोटे०—महाबली विक्रम वजरगी।

चिन्ता०—भूत-पिशाच निकट नहिं आवे।

मोटे०—जय-जय-जय हनुमान गुसाईं।

चिन्ता०—प्रभु, रखिए लाज हमारी।

मोटे० (विगड़कर) यह हनुमान-चालीसा में नहीं है।

चिन्ता०—यह हमने स्वय रचा है। क्या तुम्हारी तरह की यह रटन्त विद्या है। जितना कहो उतना रच दें?

मोटे० अबे, हम रचने पर आ जायॅ तो एक दिन में एक लाख स्तुतियाँ रच डालें, किन्तु इतना अवकाश किसे है।

दोनों महात्मा अलग खड़े होकर अपने-अपने ,रचना-कौशल की डींगें मार रहे थे। मल्ल-युद्ध शास्त्रार्थ का रूप धारण करने लगा, जो विद्वानों के लिए उचित है। इतने में किसी ने चिन्तामणिजी के घर जाकर कह दिया कि पण्डित मोटेराम और चिन्तामणिजी में वड़ी लड़ाई हो रही है। चिन्तामणिजी तीन महिलाओं के स्वामी थे। कुलीन ब्राह्मण थे, पूरे बीस बिस्वे। उस पर विद्वान् भी उच्चकोटि के, दूर-दूर तक यजमानी थी। ऐसे पुरुषों को सब अधिकार है। कन्या के साथ-साथ जब प्रचुर दक्षिणा भी मिलती हो, तब कैसे इनकार किया जाय। इन तीनों महिलाओं का सारे महल्ले में आतक छाया हुआ था। पण्डितजी ने उनके नाम वहुत ही रसीले रखे थे। वड़ी स्त्री को 'अमिरती, मँझली को 'गुलाबजामुन' और छोटी को मोहन-भोग कहते थे, पर मुहल्लेवालों के लिए तीनों महिलाएँ त्रयताप से कम न थीं। घर में नित्य आँसुओं की नदी वहती रहती--खून की नदी तो पण्डितजी ने भी कभी नहीं बहाई, अधिक-से-अधिक शब्दों की ही नदी बहाई थी, पर मजाल न थी कि बाहर का आदमी किसी को कुछ कह जाय। सकट के समय तीनों एक हो जाती थीं। यह पण्डितजी के नीति-चातुर्य का सुफल था। ज्योंही खबर मिली कि पण्डित चिन्तामणि पर सकट पड़ा हुआ है, तीनों त्रिदोषों की भाँति कुपित होकर घर से निकलीं और उनमें जो अन्य दोनों-जैसी मोटी नहीं थी, सबसे पहले समर भूमि के

समीप जा पहुँची। पण्डित मोटेरामजी ने उसे आते देखा, तो समझ गये कि अब कुशल नहीं। अपना हाथ छुड़ाकर बगटुट भागे, पीछे फिरकर भी न देखा। चिन्तामणिजी ने बहुत ललकारा, पर मोटेराम के क़दम न रुके।

चिन्ता०--अजी भागे क्यों, ठहरो, कुछ मज़ा तो चखते जाओ!

मोटे०--मैं हार गया भाई, हार गया।

चिन्ता०—अजो, कुछ दक्षिणा तो लेते जाओ।

मोटेराम ने भागते हुए कहा—दया करो, भाई, दया करो।

(४)

आठ बजते-बजते पण्डित मोटेराम ने स्नान और पूजा करके कहा – अब विलम्ब नहीं करना चाहिए, फकी तैयार है न?

सोना—फकी लिये तो कबसे बैठी हूँ, तुम्हें तो जैसे किसी बात की सुध ही नहीं रहती। रात को कौन देखता है कि कितनी देर पूजा करते हो।

मोटे०—मैं तुमसे एक नहीं, हज़ार बार कह चुका कि मेरे कामों में मत बोला करो। तुम नहीं समझ सकतीं कि मैंने इतना विलम्ब क्यों किया। तुम्हें ईश्वर ने इतनी बुद्धि ही नहीं दी। जल्दी जाने से अपमान होता है। यजमान समझता है, लोभी है, भुक्खड़ है। इसी लिए चतुर लोग विलम्ब किया करते हैं, जिसमें यजमान समझे कि पण्डितजी को इसकी सुध ही नहीं है, भूल गये होंगे। बुलाने को आदमी भेजें। इस प्रकार जाने मे जो मान-महत्त्व है, वह मरभुखों की तरह जाने में क्या कभी हो सकता है? मैं बुलावे की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। कोई-न-कोई आता ही होगा। लाओ थोड़ी फकी। बालकों को खिला दी है न?

सोना—उन्हें तो मैंने साँझ ही को खिला दी थी।

मोटे०— कोई सोया तो नहीं?

सोना—आज भला कौन सोयेगा? सब भूख-भूख चिल्ला रहे थे, तो मैंने एक पैसे का चबेना मँगवा दिया। सब-के-सब ऊपर बैठे खा रहे हैं। सुनते नहीं हो, मार-पीट हो रही है।

मोटेराम ने दाँत पीसकर कहा--जी चाहता है कि तुम्हारी गरदन पकड़कर ऐंठ दूँ। भला, इस वेला चबेना मँगाने का क्या काम था? चबेना खा लेंगे, तो वहाँ क्या तुम्हारा सिर खायेंगे। छि! छि!! ज़रा भी बुद्धि नहीं!

सोना ने अपराध स्वीकार करते हुए कहा--हाँ, भूल तो हुई, पर सब-के-सब इतना कोलाहल मचाये हुए थे कि सुना नहीं जाता था।

मोटे०—रोते ही थे न, रोने देती। रोने से उनका पेट न भरता, बल्कि और भूख खुल जाती।

सहसा एक आदमी ने बाहर से आवाज़ दी—पण्डितजी, महारानी बुला रही हैं, और लोगों को लेकर जल्दी चलो।

पण्डितजी ने पत्नी की ओर गर्व से देखकर कहा—देखा, इसे निमन्त्रण कहते हैं। अब तैयारी करनी चाहिए।

बाहर आकर पण्डितजी ने उस आदमी से कहा--तुम एक क्षण और न आते, तो मैं कथा सुनाने चला गया होता। मुझे बिलकुल याद न थी। चलो, हम बहुत शीघ्र आते हैं।

(५)

नौ बजते-बजते पण्डित मोटेराम बाल-गोपाल-सहित रानी साहब के द्वार पर जा पहुँचे। रानी बड़ी विशालकाय तेजस्विनी महिला थीं। इस समय वे कारचोबीदार तकिया लगाये तख़्त पर बैठी हुई थीं। दो आदमी हाथ बाँधे पीछे खड़े थे। बिजली का पखा चल रहा था। पण्डितजी को देखते ही रानी ने तख़्त से उठकर चरण-स्पर्श किया, और इस बालक-मण्डली को देखकर मुसकराती हुई बोली- इन बच्चों को आप कहाँ से पकड़ लाये?

मोटे०--करता क्या, सारा नगर छान मारा, पर किसी पण्डित ने आना स्वीकार न किया। कोई किसी के यहाँ निमन्त्रित है, कोई किसी के यहाँ। तब तो मैं बहुत चकराया। अन्त में मैंने उनसे कहा--अच्छा, आप नहीं चलते तो हरि-इच्छा, लेकिन ऐसा कीजिए कि मुझे लज्जित न होना पड़े। तब जबरदस्ती प्रत्येक के घर से जो बालक मिला, उसे पकड़ लाना पड़ा। क्यो फेकूराम, तुम्हारे पिताजी का क्या नाम है?

फेकूराम ने गर्व से कहा—पण्डित सेतूराम पाठक।

रानी—बालक तो बड़ा होनहार है।

और बालकों को भी उत्कठा हो रही थी कि हमारी परीक्षा भी ली जाय; लेकिन जब पण्डितजी ने उनसे कोई प्रश्न न किया, उधर रानी ने फेकूराम की प्रशसा कर दी, तब तो वे अधीर हो उठे। भवानी बोला--मेरे पिता का नाम है पण्डित गंगा पाँडे।

छेदी बोला--मेरे पिता का नाम है दमड़ी तिवारी।

वेनीराम ने कहा--मेरे पिता का नाम है पण्डित मँगरू ओझा।

अलगूराम समझदार था। चुपचाप खड़ा रहा। रानी ने उससे पूछा तुम्हारे पिता का क्या नाम है, जी?

अलगूराम को इस वक्त पिता का निर्दिष्ट नाम याद न आया। न यही सूझी कि कोई और नाम ले ले। हतबुद्धि-सा खड़ा रहा। पण्डित मोटेराम ने जब उसकी ओर दाँत पीसकर देखा, तब रहा-सहा हवास भी गायब हो गया।

फेकू ने कहा—हम बता दें। भैया भूल गये।

रानी ने आश्चर्य से पूछा— क्या अपने पिता का नाम भूल गया? यह तो विचित्र बात देखी।

मोटेराम ने अलगू के पास जाकर कहा- केसे है। अलगूराम बोल उठा—केशव पाँड़े।

रानी—तो अब तक क्यों चुप था?

मोटे०—कुछ ऊँचा सुनता है, सरकार?

रानी—मैंने सामान तो बहुत-सा मँगवा रखा है। सब खराब होगा। लड़के क्या खायँगे!

मोटे०—सरकार इन्हें बालक न समझें। इनमें जो सबसे छोटा है, वह दो पत्तल खाकर उठेगा।

(६)

जब सामने पत्तलें पड़ गईं और भण्डारी चाँदी की थालों में एक-से-एक उत्तम पदार्थ ला-लाकर परसने लगा, तब पण्डित मोटेरामजी की आँखें खुल गईं। उन्हें आये-दिन निमन्त्रण मिलते रहते थे। पर ऐसे अनुपम पदार्थ कभी सामने न आये थे। घी की ऐसी सोंधी सुगन्ध उन्हें कभी न मिली थी। प्रत्येक वस्तु से केवड़े और गुलाब की लपटें उड़ रही थीं, घी टपक रहा था। पण्डितजी ने सोचा—ऐसे पदार्थों से कभी पेट भर सकता है! मनों खा जाऊँ, फिर भी और खाने को जी चाहे। देवतागण इनसे उत्तम और कौन-से पदार्थ खाते होंगे? इनसे उत्तम पदार्थों की तो कल्पना भी नहीं हो सकती।

पण्डितजी को इस वक्त अपने परममित्र पण्डित चिन्तामणि की याद आई।

अगर वे होते, तो रंग जम जाता। उनके बिना रंग फीका रहेगा। यहाँ दूसरा कौन है, जिससे लाग-डाट करूँ। लड़के दो-दो पत्तलों में चें बोल जायँगे। सोना कुछ साथ देगी; मगर कब तक! चिन्तामणि के बिना रंग न गठेगा। वे मुझे ललकारेंगे, मैं उन्हें ललकारूँगा। उस उमंग में पत्तलों को कौन गिनती। हमारी देखा-देखी लड़के भी डट जायँगे। ओह, बड़ी भूल हो गई। यह खयाल मुझे पहले न आया। रानी साहब से कहूँ, बुरा तो न मानेंगी। उँह! जो कुछ हो, एक बार ज़ोर तो लगाना ही चाहिए। तुरन्त खड़े होकर रानी साहब से बोले--सरकार! आज्ञा हो, तो कुछ कहूँ।

रानी--कहिए, कहिए महाराज, क्या किसी वस्तु की कमी है?

मोटे०--नहीं सरकार, किसी बात की नहीं। ऐसे उत्तम पदार्थ तो मैंने कभी देखे भी न थे। सारे नगर में आपकी कीर्ति फैल जायगी। मेरे एक परम मित्र पण्डित चिन्तामणिजी हैं, आज्ञा हो तो उन्हें भी बुला लूँ। बड़े विद्वान् कर्मनिष्ठ ब्राह्मण हैं। उनके जोड़ का इस नगर में दूसरा नहीं है। मैं उन्हें निमन्त्रण देना भूल गया। अभी सुध आई है।

रानी--आपकी इच्छा हो, तो बुला लीजिए, मगर जाने-आने में देर होगी और भोजन परोस दिया गया है।

मोटे०--मैं अभी आता हूँ सरकार, दौड़ता हुआ जाऊँगा।

रानी--मेरी मोटर ले लीजिये।

जब पण्डितजी चलने को तैयार हुए, तब सोना ने कहा--तुम्हें आज क्या हो गया है जी! उसे क्यों बुला रहे हो?

मोटे०--कोई साथ देनेवाला भी तो चाहिए?

सोना--मैं क्या तुमसे दब जाती?

पण्डितजी ने मुस्कराकर कहा--तुम जानती नहीं, घर की बात और है; दङ्गल की बात और। पुराना खिलाड़ी मैदान में जाकर जितना नाम करेगा, उतना नया पट्ठा नहीं कर सकता। वहाँ बल का काम नहीं, साहस का काम है। बस, यहाँ भी वही हाल समझो। आज झण्डे गाड़ दूँगा। समझ लेना।

सोना--कहीं लड़के सो जायँ तो?

मोटे०--और भूख खुल जायगी। जगा तो मैं लूँगा।

सोना—देख लेना, आज वह तुम्हें पछाड़ेगा। उसके पेट में तो शनीचर है।

मोटे०—बुद्धि की सर्वत्र प्रधानता रहती है। यह न समझो कि भोजन करने की कोई विद्या ही नहीं। इसका भी एक शास्त्र है, जिसे मथुरा के शनीचरानन्द महाराज ने रचा है। चतुर आदमी थोड़ी-सी जगह में गृहस्थी का सब सामान रख देता है। अनाड़ी बहुत-सी जगह में भी यही सोचता रहता है कि कौन वस्तु कहाँ रखूँ। गँवार आदमी पहले से ही हबक-हबककर खाने लगता है और चट एक लोटा पानी पीकर अफर जाता है। चतुर आदमी बड़ी सावधानी से खाता है, उसको कौर नीचे उतारने के लिए पानी की आवश्यकता नहीं पड़ती। देर तक भोजन करते रहने से वह सुपाच्य भी हो जाता है। चिन्तामणि मेरे सामने क्या ठहरेगा!

(७)

चिन्तामणिजी अपने आँगन में उदास बैठे हुए थे। जिस प्राणी को वह अपना परमहितैषी समझते थे, जिसके लिए वे अपने प्राण तक देने को तैयार रहते थे, उसी ने आज उनके साथ बेवफाई की। बेवफाई ही नहीं की, उन्हें उठाकर दे मारा। पण्डित मोटेराम के घर से तो कुछ जाता न था। अगर वे चिन्तामणिजी को भी साथ लेते जाते, तो क्या रानी साहब उन्हें दुत्कार देतीं। स्वार्थ के आगे कौन किसको पूछता है! उन अमूल्य पदार्थों की कल्पना करके चिन्तामणि के मुँह से लार टपकी पड़ती थी। अब सामने पत्तल आ गई होगी! अब थालों में अमिरतियाँ लिये भण्डारीजी आये होंगे! ओहो, कितनी सुन्दर, कोमल, कुरकुरी, रसीली, अमिरतियाँ होंगी! अब बेसन के लड्डू आये होंगे। ओहो, कितने सुडौल, मेवों से भरे हुए, घी से तरातर लड्डू होंगे। मुँह में रखते-ही-रखते घुल जाते होंगे, जीभ भी न डुलानी पड़ती होगी। अहा! अब मोहन-भोग आया होगा! हाय रे दुर्भाग्य! मैं यहाँ पड़ा सड़ रहा हूँ और वहाँ यह बहार! बड़े निर्दयी हो मोटेराम, तुमसे इस निष्ठुरता की आशा न थी।

अमिरतीदेवी बोली—तुम इतना दिल क्यों छोटा करते हो। पितृपक्ष तो आ ही रहा है, ऐसे-ऐसे न-जाने कितने नेवते आयेंगे।

चिन्तामणि—आज किसी अभागे का मुँह देखकर उठा था। लाओ तो पत्रा, देखूँ, कैसा मुहूर्त है। अब नहीं रहा जाता। सारा नगर छान डालूँगा, कहीं तो पता चलेगा, नासिका तो दहनी चल रही है।

एकाएक मोटर की आवाज़ आई। उसके प्रकाश से पण्डितजी का सारा घर जगमगा उठा। वे खिड़की से झाँकने लगे, तो मोटेराम को मोटर से उतरते देखा। एक लम्बी साँस लेकर चारपाई पर गिर पड़े। मन में कहा कि दुष्ट भोजन करके अब यहाँ मुझसे बखान करने आया है?

अमिरतीदेवी ने पूछा—कौन है डाढीजार, इतनी रात को जगावत है!

मोटे०—हम हैं हम! गाली न दो।

अमिरती—अरे दुर मुँहझौंसे, तैं कौन है! कहते हैं हम हैं हम! को जाने तै कौन हस?

मोटे०—अरे हमारी बोली नहीं पहचानती हो। खूब पहचान लो। हम हैं, तुम्हारे देवर।

अमिरती - ऐ दुर, तोरे मुँह मे का लागे। तोर लहास उठे। हमार देवर बनत है, डाढीजार।

मोटे०—अरे, हम हैं मोटेराम शास्त्री। क्या इतना भी नहीं पहचानती! चिन्तामणिजी घर में हैं?

अमिरती ने किवाड़ खोल दिया और तिरस्कार-भाव से बोली—अरे तुम ये! तो नाम क्यों नहीं बताते थे? जब इतनी गालियाँ खा लीं, तो बोल निकला। क्या है, क्या?

मोटे० —कुछ नहीं, चिन्तामणिजी को शुभ-सवाद देने आया हूँ। रानी साहब ने उन्हें याद किया है।

अमिरती—भोजन के बाद बुलाकर क्या करेंगी?

मोटे०—अभी भोजन कहाँ हुआ है! मैंने जब इनकी विद्या, कर्मनिष्ठा, सद्विचार की प्रशसा की, तब मुग्ध हो गई। मुझसे कहा कि उन्हें मोटर पर लाओ। क्या सो गये?

चिन्तामणि चारपाई पर पड़े-पडे सुन रहे थे। जी में आता था, चलकर मोटेराम के चरणों पर गिर पड़ूँ। उनके विषय मे अब तक जितने कुत्सित विचार उठे थे, सब लुप्त हो गये। ग्लानि का आविर्भाव हुआ। रोने लगे।

'अरे भाई, आते हो या सोते ही रहोगे!'—यह कहते हुए मोटेराम उनके सामने जाकर खड़े हो गये।

चिन्ता०—तब क्यों न ले गये ? जब इतनी दुर्दशा कर लिये, तब आये। अभी तक पीठ में दर्द हो रहा है।

मोटे०—अजी, वह तर माल खिलाऊँगा कि सारा दर्द-वर्द भाग जायगा। तुम्हारे यजमानों को भी ऐसे पदार्थ मयस्सर न हुए होंगे। आज तुम्हें बदकर पछाड़ूँगा।

चिन्ता०—तुम बेचारे मुझे क्या पछाड़ोगे। सारे शहर मे तो कोई ऐसा माई का लाल दिखाई नहीं देता। हमें शनीचर का इष्ट है।

मोटे०—अजी, यहाँ बरसों तपस्या की है। भडारे का भडारा साफ कर दें और इच्छा ज्यों-की-त्यों बनी रहे। बस, यही समझ लो कि भोजन करके हम खड़े नहीं हो सकते। चलना तो दूसरी बात है। गाड़ी पर लदकर आते हैं।

चिन्ता०—तो यह कौन बड़ी बात है। यहाँ तो टिकठी पर उठाकर लाये जाते हैं। ऐसी-ऐसी डकारें लेते हैं कि जान पड़ता है, बम-गोला छूट रहा है। एक बार खोफिया पुलिस ने बम-गोले के सन्देह मे घर की तलाशी तक ली थी।

मोटे०—झूठ बोलते हो। कोई इस तरह नहीं डकार सकता।

चिन्ता०—अच्छा, तो आकर सुन लेना। डरकर भाग न जाओ, तो सही।

एक क्षण में दोनों मित्र मोटर पर बैठे और मोटर चली।

(८)

रास्ते मे पण्डित चिन्तामणि को शका हुई कि कहीं ऐसा न हो कि मैं पण्डित मोटेराम का पिछलग्गू समझा जाऊँ और मेरा यथेष्ट सम्मान न हो। उधर पण्डित मोटेराम को भी भय हुआ कि कहीं ये महाशय मेरे प्रतिद्वन्द्वी न बन जायँ और रानी साहब पर अपना रङ्ग जमा लें।

दोनों अपने-अपने मसूबे बाँधने लगे। ज्योंही मोटर रानी के भवन में पहुँची, दोनो महाशय उतरे। अब मोटेराम चाहते थे कि पहले मैं रानी के पास पहुँच जाऊँ और कह दूँ कि पण्डित को ले आया, और चिन्तामणि चाहते थे कि पहले मैं रानी के सम्मुख जा पहुँचूँ और अपना रङ्ग जमा दूँ। दोनों कदम बढाने लगे। चिन्तामणि हल्के होने के कारण जरा आगे बढ़ गये, तो पण्डित मोटेराम दौड़ने लगे। चिन्तामणि भी दौड़ पड़े। घुड़दौड़-सी होने लगी। मालूम होता था कि दो गैंडे भागे जा रहे हैं। अन्त को मोटेराम ने हाँफते हुए कहा—राजसभा में दौड़ते हुए जाना उचित नहीं।

चिन्ता०—तो तुम धीरे-धीरे आओ न, दौड़ने को कौन कहता है।

मोटे०—ज़रा रुक जाओ, मेरे पैर में काँटा गड़ गया है।

चिन्ता०—तो निकाल लो, तब तक मैं चलता हूँ।

मोटे०—मैं न कहता, तो रानी तुम्हें पूछती भी न!

मोटेराम ने बहुत बहाने किये, पर चिन्तामणि ने एक न सुना। भवन में पहुँचे। रानी साहब बैठी कुछ लिख रही थीं और रह-रहकर द्वार की ओर ताक लेती थीं कि सहसा पण्डित चिन्तामणि उनके सामने आ खड़े हुए और यों स्तुति करने लगे—

'हे हे यशोदे तू बालकेशव, मुरारनामा'..'

रानी—क्या मतलब है! अपना मतलब कहो?

चिन्ता०—सरकार को आशीर्वाद देता हूँ। सरकार ने इस दास चिन्तामणि को निमन्त्रित करके जितना अनुग्रसित (अनुगृहीत) किया है, उसका बखान शेपनाग अपनी सहस्र जिभ्याद्वारा भी नहीं कर सकते।

रानी—तुम्हारा ही नाम चिन्तामणि है! वे कहाँ रह गये पण्डित मोटेराम शास्त्री?

चिन्ता०—पीछे आ रहा है, सरकार, मेरे बराबर आ सकता है, भला! मेरा तो शिष्य है।

रानी—अच्छा, तो वे आपके शिष्य हैं!

चिन्ता०—मैं अपने मुँह से अपनी बड़ाई नहीं करना चाहता, सरकार! विद्वानों को नम्र होना चाहिए, पर जो यथार्थ है, वह तो संसार जानता है। सरकार, मैं किसी से वाद-विवाद नहीं करता, यह मेरा अनुशीलन (अभीष्ट) नहीं। मेरे शिष्य भी बहुधा मेरे गुरु बन जाते हैं, पर मैं किसी से कुछ नहीं कहता। जो सत्य है, वह सभी जानते हैं।

इतने मे पण्डित मोटेराम भी गिरते-पड़ते हाँफते हुए आ पहुँचे और यह देखकर कि चिन्तामणि भद्रता और सभ्यता की मूर्ति बने खड़े हैं, वे देवोपम शान्ति के साथ खड़े हो गये।

रानी—पण्डित चिन्तामणि बड़े साधु-प्रकृति विद्वान् हैं। आप उनके शिष्य हैं, फिर भी वे आपको अपना शिष्य नहीं कहते।

मोटे०—सरकार, मैं इनका दासानुदास हूँ।

चिन्ता०—जगतारिणी, मैं इनका चरण-रज हूँ।

मोटे०—रिपुदलसंहारिणीजी, मैं इनके द्वार का कूकर हूँ।

रानी—आप दोनों सज्जन पूज्य हैं। एक-से-एक बढ़े हुए। चलिए, भोजन कीजिए।

(९)

सोनारानी बैठी पण्डित मोटेराम की राह देख रही थीं। पति की इस मित्र-भक्ति पर उन्हें बड़ा क्रोध आ रहा था। बड़े लड़कों के विषय में तो कोई चिन्ता न थी ; लेकिन छोटे बच्चों के सो जाने का भय था। उन्हें किस्से-कहानियाँ सुना-सुनाकर बहला रही थीं कि भडारी ने आकर कहा—महाराज चलो। दोनों पण्डितजी आसन पर बैठ गये। फिर क्या था, बच्चे कूद-कूदकर भोजनशाला मे जा पहुँचे। देखा, तो दोनों पण्डित दो वीरों की भाँति आमने-सामने डटे बैठे हैं। दोनों अपना-अपना पुरुषार्थ दिखाने के लिए अधीर हो रहे थे।

चिन्ता०—भडारीजी, तुम परोसने में बड़ा विलम्ब करते हो। क्या भीतर जाकर सोने लगते हो?

भडारी—चुपाई मारे बैठे रहो, जौन कुछ होई, सब आय जाई। घबड़ाये का नहीं होत। तुम्हारे सिवाय और कोई जिवैया नहीं बैठा है।

मोटे०—भैया, भोजन करने के पहले कुछ देर सुगन्ध का स्वाद तो लो।

चिन्ता०—अजी सुगन्ध गया चूल्हे में, सुगन्ध देवता लोग लेते हैं। अपने लोग तो भोजन करते हैं।

मोटे०—अच्छा बताओ, पहले किस चीज़ पर हाथ फेरोगे?

चिन्ता० —मैं जाता हूँ, भीतर से सब चीज़ें एक साथ लिये आता हूँ।

मोटे०—धीरज धरो भैया, सब पदार्थों को आ जाने दो। ठाकुरजी का भोग तो लग जाय।

चिन्ता०—तो बैठे क्यों हो, तब तक भोग ही लगाओ। एक बाधा तो मिटे। नहीं, लाओ मैं चटपट भोग लगा दूँ। व्यर्थ देर करोगे।

इतने में रानी आ गईं। चिन्तामणि सावधान हो गये। रामायण की चौपाइयों का पाठ करने लगे—

'रहा एक दिन अवधि अधारा। समुझत मन दुख भयउ अपारा ॥
कौशलेश दशरथ के जाये। हम पितु वचन मानि वन आये ॥
उलटि पलटि लङ्का कपि जारी। कूद परा तव सिन्धु मझारी ॥
जेहि पर जाकर सत्य सनेहू। ता तेंहि मिले न कछु सदेहू ॥
जामवन्त के बचन सुहाए। सुनि हनुमान हृदय अति भाए ॥'

पण्डित मोटेराम ने देखा कि चिन्तामणि का रग जमता जाता है, तो वे भी अपनी विद्वत्ता प्रकट करने को व्याकुल हो गये। बहुत दिमाग लड़ाया ; पर कोई श्लोक, कोई मन्त्र, कोई कवित्त याद न आया। तब उन्होंने सीधे-सीधे राम-नाम का पाठ आरम्भ कर दिया—

'राम भज, राम भज, राम भज रे मन'—इन्होंने इतने ऊँचे स्वर से जाप करना शुरू किया कि चिन्तामणि को भी अपना स्वर ऊँचा करना पड़ा। मोटेराम और ज़ोर से गरजने लगे। इतने में भडारीजी ने कहा—महाराज, अब भोग लगाइए। यह सुनकर उस प्रतिस्पर्द्धा का अन्त हुआ। भोग की तैयारी हुई। बालवृन्द सजग हो गया। किसी ने घटा लिया, किसी ने घड़ियाल, किसी ने शख, किसी ने करताल, चिन्तामणि ने आरती उठा ली। मोटेराम मन में ऐंठकर रह गये। रानी के समीप जाने का यह अवसर उनके हाथ से निकल गया।

पर यह किसे मालूम था कि विधि-वाम उधर कुछ और ही कुटिल क्रीड़ा कर रहा है? आरती समाप्त हो गई थी, भोजन शुरू होने को ही था कि एक कुत्ता न-जाने किधर से आ निकला। पण्डित चिन्तामणि के हाथ से लड्डू थाल में गिर पड़ा। पण्डित मोटेराम अकचकाकर रह गये। सर्वनाश!

चिन्तामणि ने मोटेराम से इशारे में कहा—अब क्या करते हो मित्र कोई उपाय निकालो, यहाँ तो कमर टूट गई।

मोटेराम ने लम्बी साँस खींचकर कहा—अब क्या हो सकता है? यह ससुर आया किधर से?

रानी पास ही खड़ी थीं, उन्होंने कहा—अरे, कुत्ता किधर से आ गया? यह तो रोज़ बँधा रहता था, आज कैसे छूट गया? अब तो रसोई भ्रष्ट हो गई।

चिन्ता०—सरकार, आचार्यों ने इस विषय में···

मोटे०—कोई हर्ज नहीं है, सरकार, कोई हर्ज नहीं है!

सोना—भाग्य फूट गया। जोहत-जोहत आधीरात बीते गई, तब ई बिपत फाट परी।

चिन्ता०—सरकार, स्वान के मुख में अमृत.......

मोटे०—तो अब आज्ञा हो, तो चलें।

रानी—हाँ, और क्या। मुझे बड़ा दुःख है कि इस कुत्ते ने आज इतना बड़ा अनर्थ कर डाला। तुम बड़े गुस्ताख हो गये टामी। भंडारी, ये पत्तल उठाकर मेहतर को दे दो।

चिन्ता०—(सोना से) छाती फटी जाती है।

सोना को बालकों पर दया आई। बेचारे इतनी देर देवोपम धैर्य के साथ बैठे थे। बस चलता, तो कुत्ते का गला घोंट देती। बोली—लरकन का तो दोष नाहीं परत है। इन्हें काहे नाहीं खवाय देत कोऊ।

चिन्ता०—मोटेराम महादुष्ट है। इसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है।

सोना—ऐसे तो बड़े विद्वान् बनत रहैं। अब काहे नाहीं बोलत बनत। मुँह में दही जम गया, जीभै नहीं खुलत है।

चिन्ता०—सत्य कहता हूँ, रानी को चकमा देता। इस दुष्ट के मारे सब खेल बिगड़ गया। सारी अभिलाषा मन में रह गई। ऐसे पदार्थ अब कहाँ मिल सकते हैं?

सोना—सारी मनुसई निकस गई। घर ही में गरजै के सेर हैं।

रानी ने भंडारी को बुलाकर कहा—इन छोटे-छोटे तीनों बच्चों को खिला दो। ये बेचारे क्यों भूखों मरें। क्यों फेकूराम, मिठाई खाओगे?

फेकू—इसीलिए तो आये हैं।

रानी—कितनी मिठाई खाओगे?

फेकू—बहुत-सी, (हाथों से बताकर) इतनी।

रानी—अच्छी बात है। जितनी खाओगे, उतनी मिलेगी; पर जो बात मैं पूछूँ, वह बतानी पड़ेगी। बताओगे न?

फेकू—हाँ बताऊँगा, पूछिए।

रानी—झूठ बोले, तो एक मिठाई भी न मिलेगी। समझ गये?

फेकू—मत दीजियेगा। मैं झूठ बोलूँगा ही नहीं।

रानी—अपने पिता का नाम बताओ।

मोटे०—बालकों को हरदम सब बातें स्मरण नहीं रहतीं। उसने तो आते-ही आते बता दिया था।

रानी—मैं फिर पूछती हूँ, इसमें आपकी क्या हानि है?

चिन्ता०—नाम पूछने में कोई हर्ज नहीं।

मोटे०—तुम चुप रहो चिन्तामणि, नहीं तो ठीक न होगा। मेरे क्रोध को अभी तुम नहीं जानते। दबा बैठूँगा, तो रोते भागोगे।

रानी—आप तो व्यर्थ इतना क्रोध कर रहे हैं। बोलो फेकूराम, चुप क्यों हो? फिर मिठाई न पाओगे।

चिन्ता०—महारानी की इतनी दया-दृष्टि तुम्हारे ऊपर है, बता दो बेटा!

मोटे०—चिन्तामणिजी, मैं देख रहा हूँ, तुम्हारे अदिन आये हैं। वह नहीं बताता, तुम्हारा साझा—आये वहाँ से बड़े खैरख्वाह बन के।

सोना—अरे हाँ, लरकन से ई सब पँवार-से का मतलब। तुमका धरम परे मिठाई देव, न धरम परे न देव। ई का कि बाप का नाम, बताओ तब मिठाई देव।

फेकूराम ने धीरे से कोई नाम लिया। इस पर पण्डितजी ने उसे इतने जोर से डाटा कि उसकी आधी बात मुँह में ही रह गई।

रानी—क्यों डाटते हो, उसे बोलने क्यों नहीं देते? बोलो बेटा!

मोटे०—आप हमें अपने द्वार पर बुलाकर हमारा अपमान कर रही हैं।

चिन्ता०—इसमें अपमान की तो कोई बात नहीं है, भाई!

मोटे०—अब हम इस द्वार पर कभी न आयेंगे। यहाँ सत्पुरुषों का अपमान किया जाता है।

अलगू—कहिए तो मैं चिन्तामणि को एक पटकन दूँ।

मोटे०—नहीं बेटा, दुष्टों को परमात्मा स्वयं दण्ड देता है। चलो यहाँ से चलें। अब भूलकर भी यहाँ न आयेंगे। खिलाना न पिलाना, द्वार पर बुलाकर ब्राह्मणों का अपमान करना। तभी तो देश मे आग लगी हुई है।

चिन्ता०—मोटेराम, महारानी के सामने तुम्हें इतनी कटु बातें न करनी चाहिए।

मोटे०—बस, चुप ही रहना, नहीं तो सारा क्रोध तुम्हारे ही सिर जायगा। माता-पिता का पता नहीं, ब्राह्मण बनने चले हैं। तुम्हें कौन कहता है ब्राह्मण?

चिन्ता०—जो कुछ मन चाहे, कह लो। चन्द्रमा पर थूकने से थूक अपने ही

मुँह पर पड़ता है। जब तुम धर्म का एक लक्षण भी नहीं जानते, तब तुमसे क्या बातें करूँ। ब्राह्मण को धैर्य रखना चाहिए।

मोटे०—पेट के गुलाम हो। ठकुरसोहाती कर रहे हो, कि एकाध पत्तल मिल जाय। यहाँ मर्यादा का पालन करते हैं!

चिन्ता०—कह तो दिया भाई कि तुम बड़े, मैं छोटा, अब और क्या कहूँ। तुम सत्य कहते होगे, मैं ब्राह्मण नहीं, शूद्र हूँ।

रानी—ऐसा न कहिए चिन्तामणिजी, आप यदि जन्म से शूद्र भी हों, तो इतने गुण रखते हुए आप ब्राह्मण ही हैं।

मोटे०—अच्छा चिन्तामणिजी, इसका बदला न लिया तो कहना!

यह कहते हुए पण्डित मोटेराम बालक-वृन्द के साथ बाहर चले आये और भाग्य को कोसते हुए घर को चले। बार-बार पछता रहे थे कि इस दुष्ट चिन्तामणि को क्यों बुला लाया।

सोना ने कहा—भण्डा फूटत-फूटत बच गया। फेकुआ नाँव बताय देत। काहे रे, अपने बाप केर नाँव बताय देते!

फेकू—और क्या। वे तो सच-सच पूछती थीं!

मोटे०—चिन्तामणि ने रङ्ग जमा लिया, अब आनन्द से भोजन करेगा।

सोना—तुम्हार एको विद्या काम न आई। ऊ तौन बाजी मार लेगा।

मोटे०—मैं तो जानता हूँ, रानी ने जान-बूझकर कुत्ते को बुला लिया।

सोना—मैं तो ओका मुँहे देखत ताड़ गई कि हमका पहचान गई।

इधर तो ये लोग पछताते चले जाते थे। उधर चिन्तामणि की पाँचों घी में थीं। आसन मारे भोजन कर रहे थे। रानी अपने हाथों से मिठाइयाँ परोस रही थीं, वार्त्तालाप भी होता जाता था।

रानी—बड़ा धूर्त है। मैं तो बालकों को देखते ही समझ गई। अपनी स्त्री को भेष बदलकर लाते उसे लज्जा भी न आई।

चिन्ता०—मुझे कोस रहे होंगे।

रानी—मुझसे उड़ने चला था। मैंने भी कहा था—बचा, तुमको ऐसी शिक्षा दूँगी कि उम्र-भर याद करोगे। टामी को बुला लिया।

चिन्ता० - सरकार की बुद्धि को धन्य है!

———

रामलीला

इधर एक मुद्दत से रामलीला देखने नहीं गया। बन्दरों के भद्दे चेहरे लगाये, आधी टाँगों का पाजामा और काला रग का ऊँचा कुरता पहने आदमियों को दौड़ते, हू-हू करते देखकर अब हँसी आती है, मज़ा नहीं आता। काशी की लीला जगद्-विख्यात है। सुना है, लोग दूर-दूर से देखने आते हैं। मैं भी बड़े शौक से गया; पर मुझे तो वहाँ की लीला और किसी वज्र देहात की लीला में कोई अन्तर न दिखाई दिया। हाँ, रामनगर की लीला में कुछ साज़-सामान अच्छे हैं। राक्षसों और बन्दरों के चेहरे पीतल के हैं, गदाएँ भी पीतल की, कदाचित् वनवासी भ्राताओं के मुकुट सच्चे काम के हों; लेकिन साज़-सामान के सिवा वहाँ भी वही हू-हू के सिवा और कुछ नहीं। फिर भी लाखों आदमियों की भीड़ लगी रहती है।

लेकिन एक ज़माना वह था, जब मुझे भी रामलीला में आनन्द आता था। आनन्द तो बहुत हलका-सा शब्द है। वह आनन्द उन्माद से कम न था। सयोग-वश उन दिनों मेरे घर से बहुत थोड़ी दूर पर रामलीला का मैदान था, और जिस घर में लीला-पात्रों का रूप-रग भरा जाता था, वह तो मेरे घर से बिलकुल मिला हुआ था। दो बजे दिन से पात्रों की सजावट होने लगती थी। मैं दोपहर ही से वहाँ जा बैठता, और जिस उत्साह से दौड़-दौड़कर छोटे-मोटे काम करता, उस उत्साह से तो आज अपनी पेंशन लेने भी नहीं जाता। एक कोठरी मे राजकुमारो का शृङ्गार होता था। उनकी देह में रामरज पीसकर पोती जाती, मुँह पर पाउडर लगाया जाता और पाउडर के ऊपर लाल, हरे, नीले रग की बुँदकियाँ लगाई जाती थीं। सारा माथा, भौंहें, गाल, ठोड़ी बुँदकियों से रच उठती थीं। एक ही आदमी इस काम में कुशल था। वही बारी-बारी से तीनों पात्रों का शृङ्गार करता था। रग की प्यालियों मे पानी लाना, रामरज पीसना, पखा झलना मेरा काम था। जब इन तैयारियों के बाद विमान निकलता, तो उस पर रामचन्द्रजी के पीछे बैठकर मुझे जो उल्लास, जो गर्व, जो रोमाच होता था, वह अब लाट साहब के दरबार मे कुरसी पर बैठकर

भी नहीं होता। एक बार जब होम-मेम्बर साहब ने व्यवस्थापक-सभा में मेरे एक प्रस्ताव का अनुमोदन किया था, उस वक्त मुझे कुछ उसी तरह का उल्लास, गर्व और रोमाञ्च हुआ था। हाँ, एक बार जब मेरा ज्येष्ठ पुत्र नायब-तहसीलदारी में नामज़द हुआ तब भी ऐसी ही तरंगें मन में उठी थीं ; पर इनमें और उस बाल-विह्वलता में बड़ा अन्तर है। तब तो ऐसा मालूम होता था कि मैं स्वर्ग मे बैठा हूँ।

निषाद-नौका-लीला का दिन था। मैं दो-चार लड़कों के बहकाने में आकर गुल्ली-डंडा खेलने लगा था। आज शृङ्गार देखने न गया। विमान भी निकला ; पर मैंने खेलना न छोड़ा। मुझे अपना दाँव लेना था। अपना दाँव छोड़ने के लिए उससे कहीं बढ़कर आत्मत्याग की ज़रूरत थी, जितनी मैं कर सकता था। अगर दाँव देना होता, तो मैं कब का भाग खड़ा होता, लेकिन पदाने मे कुछ और ही बात होती है, खैर, दाँव पूरा हुआ। अगर मैं चाहता, तो धाँधली करके दस-पाँच मिनट और पदा सकता था, इसकी काफी गुञ्जाइश थी, लेकिन अब इसका मौका न था। मैं सीधे नाले की तरफ दौड़ा। विमान जल-तट पर पहुँच चुका था। मैंने दूर से देखा—मल्लाह किश्ती लिये आ रहा है। दौड़ा, लेकिन आदमियों की भीड़ में दौड़ना कठिन था। आखिर जब मैं भीड़ हटाता, प्राण-पण से आगे बढता घाट पर पहुँचा, तो निषाद अपनी नौका खोल चुका था। रामचन्द्र पर मेरी कितनी श्रद्धा थी! अपने पाठ की चिन्ता न करके उन्हें पढ़ा दिया करता था, जिसमें वह फेल न हो जायँ। मुझसे उम्र ज़्यादा होने पर भी वह नीची कक्षा में पढते थे। लेकिन, वही रामचन्द्र नौका पर बैठे इस तरह मुँह फेरे चले जाते थे, मानो मुझसे जान-पहचान ही नहीं। नक़ल में भी असल की कुछ-न-कुछ बू आ ही जाती है। भक्तों पर जिनकी निगाह सदा ही तीखी रही है, वह मुझे क्यों उबारते? मैं विकल होकर उस बछड़े की भाँति कूदने लगा, जिसकी गरदन पर पहली बार जुआ रखा गया हो। कभी लपककर नाले की ओर जाता, कभी किसी सहायक की खोज में पीछे की तरफ दौड़ता। पर सब-के-सब अपनी धुन मे मस्त थे ; मेरी चीख-पुकार किसी के कानों तक न पहुँची। तबसे बड़ी-बड़ी विपत्तियाँ झेलीं, पर उस समय जितना दुःख हुआ, उतना फिर कभी न हुआ।

मैंने निश्चय किया था कि अब रामचन्द्र से कभी न बोलूँगा, न कभी खाने की कोई चीज़ ही दूँगा, लेकिन ज्यों ही नाले को पार करके वह पुल की ओर लौटे,

में दौड़कर विमान पर चढ़ गया, और ऐसा खुश हुआ, मानो कोई बात ही न हुई थी।

(२)

रामलीला समाप्त हो गई थी। राजगद्दी होनेवाली थी, पर न-जाने क्यों देर हो रही थी। शायद चन्दा कम वसूल हुआ था। रामचन्द्र की इन दिनों कोई बात भी न पूछता था। न घर जाने की ही छुट्टी मिलती थी, न भोजन का ही प्रबन्ध होता था। चौधरी साहब के यहाँ से एक सीधा कोई तीन बजे दिन को मिलता था। बाकी सारे दिन कोई पानी को भी नहीं पूछता। लेकिन, मेरी श्रद्धा अभी तक ज्यों-की-त्यों थी। मेरी दृष्टि में वह अब भी रामचन्द्र ही थे। घर पर मुझे खाने की कोई चीज़ मिलती, वह लेकर रामचन्द्र को दे आता। उन्हे खिलाने मे मुझे जितना आनन्द मिलता था, उतना आप खा जाने मे कभी न मिलता। कोई मिठाई या फल पाते ही मैं बेतहाशा चौपाल की ओर दौड़ता। अगर रामचन्द्र वहाँ न मिलते, तो उन्हें चारो ओर तलाश करता, और जब तक वह चीज़ उन्हें न खिला लेता, मुझे चैन न आता था।

ख़ैर, राजगद्दी का दिन आया। रामलीला के मैदान में एक बड़ा-सा शामियाना ताना गया। उसकी ख़ूब सजावट की गई। वेश्याओं के दल भी आ पहुँचे। शाम को रामचन्द्र की सवारी निकली, और प्रत्येक द्वार पर उनकी आरती उतारी गई। श्रद्धानुसार किसी ने रुपये दिये, किसी ने पैसे। मेरे पिता पुलिस के आदमी थे, इसलिए उन्होंने बिना कुछ दिये ही आरती उतारी। उस वक्त मुझे जितनी लज्जा आई, उसे बयान नहीं कर सकता। मेरे पास उस वक्त सयोग से एक रुपया था। मेरे मामाजी दशहरे के पहले आये थे और मुझे एक रुपया दे गये थे। उस रुपये को मैंने रख छोड़ा था। दशहरे के दिन भी उसे खर्च न कर सका। मैंने तुरन्त वह रुपया लाकर आरती की थाली में डाल दिया। पिताजी मेरी ओर कुपित-नेत्रों से देखकर रह गये। उन्होंने कुछ कहा तो नहीं, लेकिन मुँह ऐसा बना लिया, जिससे प्रकट होता था कि मेरी इस धृष्टता से उनके रोब में बट्टा लग गया। रात के दस बजते-बजते यह परिक्रमा पूरी हुई। आरती की थाली रुपयों और पैसों से भरी हुई थी। ठीक तो नहीं कह सकता, मगर अब ऐसा अनुमान होता है कि चार-पाँच सौ रुपयों से कम न थे। चौधरी साहब इनसे कुछ ज्यादा ही खर्च कर

चुके थे। उन्हें इसकी बड़ी फिक्र हुई कि किसी तरह कम-से-कम दो सौ रुपये और वसूल हो जायँ। और इसकी सबसे अच्छी तरकीब उन्हें यही मालूम हुई कि वेश्याओं-द्वारा महफिल में वसूली हो। जब लोग आकर बैठ जायँ, और महफिल का रङ्ग जम जाय, तो आबादीजान रसिकजनों की कलाइयाँ पकड़-पकड़कर ऐसे हाव-भाव दिखायें कि लोग शरमाते-शरमाते भी कुछ-न-कुछ दे ही मरें। आबादी-जान और चौधरी साहब में सलाह होने लगी। मैं सयोग से उन दोनों प्राणियों की बातें सुन रहा था। चौधरी साहब ने समझा होगा, यह लौंडा क्या मतलब समझेगा। पर यहाँ ईश्वर की दया से अक्ल के पुतले थे। सारी दास्तान समझ मे आती जाती थी।

चौधरी—सुनो आबादीजान, यह तुम्हारी ज़्यादती है। हमारा और तुम्हारा कोई पहला साबिका तो है नहीं। ईश्वर ने चाहा, तो यहाँ हमेशा तुम्हारा आना-जाना लगा रहेगा। अबकी चन्दा बहुत कम आया, नहीं तो मैं तुमसे इतना इसरार न करता।

आबादी०—आप मुझसे भी ज़मींदारी चालें चलते हैं, क्यों? मगर यहाँ हुज़ूर की दाल न गलेगी। वाह! रुपये तो मैं वसूल करूँ, और मूछों पर ताव आप दें। कमाई का यह अच्छा ढग निकाला है। इस कमाई से तो वाकई आप थोड़े दिनों मे राजा हो जायँगे। उसके सामने ज़मींदारी झक मारेगी! बस, कल ही से एक चकला खोल दीजिए! खुदा की क़सम, मालामाल हो जाइएगा।

चौधरी—तुम तो दिल्लगी करती हो, और यहाँ क़ाफिया तग हो रहा है।

आबादी०—तो आप भी तो मुझी से उस्तादी करते हैं। यहाँ आप जैसे काँइयों को रोज उँगलियों पर नचाती हूँ।

चौधरी—आखिर तुम्हारी मशा क्या है?

आबादी०—जो कुछ वसूल करूँ, उसमें आधा मेरा और आधा आपका। लाइए, हाथ मारिए।

चौधरी—यही सही।

आबादी०—अच्छा, तो पहले मेरे सौ रुपये गिन दीजिए। पीछे से आप अलसेठ करने लगेंगे।

चौधरी—वाह! वह भी लोगी और यह भी।

आबादी०—अच्छा! तो क्या आप समझते थे कि अपनी उजरत छोड़ दूँगी? वाह री आपकी समझ! खूब, क्यों न हो। दीवाना बकारे ख्वेश हुशियार।

चौधरी—तो क्या तुमने दोहरी फीस लेने की ठानी है?

आबादी०—अगर आपको सौ दफे गरज हो, तो! वरना मेरे सौ रुपये तो कहीं गये ही नहीं। मुझे क्या कुत्ते ने काटा है, जो लोगों की जेब में हाथ डालती फिरूँ?

चौधरी की एक न चली। आबादी के सामने दबना पड़ा। नाच शुरू हुआ। आबादीजान बला की शोख औरत थी। एक तो कमसिन, उस पर हसीन। और, उसकी अदाएँ तो इस गजब की थीं कि मेरी तबीयत भी मस्त हुई जाती थी। आदमियों को पहचानने का गुण भी उसमें कुछ कम न था। जिसके सामने बैठ गई, उससे कुछ-न-कुछ ले ही लिया। पाँच रुपये से कम तो शायद ही किसी ने दिये हों। पिताजी के सामने भी वह जा बैठी। मैं मारे शर्म के गड़ गया। जब उसने उनकी कलाई पकड़ी, तब तो मैं सहम उठा। मुझे यकीन था कि पिताजी उसका हाथ झटक देंगे। और शायद दुत्कार भी दें, किन्तु यह क्या हो रहा है! ईश्वर! मेरी आँखें धोका तो नहीं खा रही हैं! पिताजी मूँछों में हँस रहे हैं। ऐसी मृदु-हँसी उनके चेहरे पर मैंने कभी नहीं देखी थी। उनकी आँखों से अनुराग टपका पड़ता था। उनका एक-एक रोम पुलकित हो रहा था, मगर ईश्वर ने मेरी लाज रख ली। वह देखो, उन्होंने धीरे से आबादी के कोमल हाथों से अपनी कलाई छुड़ा ली। अरे! यह फिर क्या हुआ? आबादी तो उनके गले में बाँहें डाले देती है। अब की पिताजी जरूर उसे पीटेंगे। चुड़ैल को ज़रा भी शर्म नहीं।

एक महाशय ने मुसकिराकर कहा—यहाँ तुम्हारी दाल न गलेगी, आबादीजान! और दरवाजा देखो।

बात तो इन महाशय ने मेरे मन की कही, और बहुत ही उचित कही, लेकिन न-जाने क्यों पिताजी ने उनकी ओर कुपित-नेत्रों से देखा, और मूँछों पर ताव दिया। मुँह से तो वह कुछ न बोले, पर उनके मुख की आकृति चिल्लाकर सरोष शब्दों में कह रही थी—तू बनिया, मुझे समझता क्या है? यहाँ ऐसे अवसर पर जान तक निसार करने को तैयार हैं। रुपये की हकीकत ही क्या! तेरा जी चाहे आज़मा ले। तुझसे दूनी रक़म न दे डालूँ, तो मुँह न दिखाऊँ! महान् आश्चर्य!

घोर अनर्थ ! अरे ज़मीन, तू फट क्यों नहीं जाती ? आकाश, तू फट क्यों नहीं पड़ता ? अरे, मुझे मौत क्यों नहीं आ जाती ! पिताजी जेब मे हाथ डाल रहे हैं। वह कोई चीज़ निकाली, और सेठजी को दिखाकर आबादीजान को दे डाली। आह ! यह तो अशर्फी है। चारों ओर तालियाँ बजने लगीं। सेठजी उल्लू बन गये। पिताजी ने मुँह की खाई, इसका निश्चय मैं नहीं कर सकता। मैंने केवल इतना देखा कि पिताजी ने एक अशर्फी निकालकर आबादीजान को दी। उनकी आँखों में इस समय इतना गर्वयुक्त उल्लास था, मानो उन्होंने हातिम की कब्र पर लात मारी हो। यही पिताजी हैं, जिन्होंने मुझे आरती में एक रुपया डालते देखकर मेरी ओर इस तरह से देखा था, मानो मुझे फाड़ ही खायँगे। मेरे उस परमोचित व्यवहार से उनके रोब में फ़र्क़ आता था, और इस समय इस घृणित, कुत्सित और निन्दित व्यापार पर गर्व और आनन्द से फूले न समाते थे।

आबादीज़ान ने एक मनोहर मुसकान के साथ पिताजी को सलाम किया और आगे बढ़ी, मगर मुझसे वहाँ न बैठा गया। मारे शर्म के मेरा मस्तक झुका जाता था, अगर मेरी आँखों-देखी बात न होती, तो मुझे इस पर कभी एतबार न होता। मैं बाहर जो कुछ देखता-सुनता था, उसकी रिपोर्ट अम्माँ से ज़रूर करता था। पर इस मामले को मैंने उनसे छिपा रखा। मैं जानता था, उन्हे यह बात सुनकर बड़ा दु ख होगा।

रात-भर गाना होता रहा। तबले की धमक मेरे कानों में आ रही थी। जी चाहता था, चलकर देखूँ, पर साहस न होता था। मैं किसी को मुँह कैसे दिखाऊँगा ? कहीं किसी ने पिताजी का जिक्र छेड़ दिया, तो मैं क्या करूँगा ?

प्रात काल रामचन्द्र की बिदाई होनेवाली थी। मैं चारपाई से उठते ही आँखें मलता हुआ चौपाल की ओर भागा। डर रहा था कि कहीं रामचन्द्र चले न गये हों। पहुँचा, तो देखा—तायफ़ों की सवारियाँ जाने को तैयार हैं। बीसों आदमी हसरत-नाक मुँह बनाये उन्हें घेरे खड़े हैं। मैंने उनकी ओर आँख तक न उठाई। सीधा रामचन्द्र के पास पहुँचा। लक्ष्मण और सीता बैठे रो रहे थे, और रामचन्द्र खड़े काँधे पर लुटिया-डोर डाले उन्हें समझा रहे थे। मेरे सिवा वहाँ और कोई न था। मैंने कुण्ठित-स्वर से रामचन्द्र से पूछा—क्या तुम्हारी बिदाई हो गई ?

रामचन्द्र—हाँ, हो तो गई। हमारी बिदाई ही क्या ? चौधरी साहब ने कह दिया—जाओ, चले जाते हैं।

'क्या रुपये और कपड़े नहीं मिले ?'

'अभी नहीं मिले। चौधरी साहब कहते हैं—इस वक्त बचत में रुपये नहीं हैं। फिर आकर ले जाना।'

'कुछ नहीं मिला ?'

'एक पैसा भी नहीं। कहते हैं, कुछ बचत नहीं हुई। मैंने सोचा था, कुछ रुपये मिल जायँगे, तो पढ़ने की किताबें ले लूँगा। सो कुछ न मिला। राह-खर्च भी नहीं दिया। कहते हैं—कौन दूर है, पैदल चले जाओ।'

मुझे ऐसा क्रोध आया कि चलकर चौधरी को खूब आड़े हाथों लूँ। वेश्याओं के लिए रुपये, सवारियाँ सब कुछ, पर बेचारे रामचन्द्र और उनके साथियों के लिए कुछ भी नहीं! जिन लोगों ने रात को आबादीजान पर दस-दस, बीस-बीस रुपये न्योछावर किये थे, उनके पास क्या इनके लिए दो-दो, चार-चार आने पैसे भी नहीं। पिताजी ने भी तो आबादीजान को एक अशर्फी दी थी। देखूँ, इनके नाम पर क्या देते हैं। मैं दौड़ा हुआ पिताजी के पास गया। वह कहीं तफ्तीश पर जाने को तैयार खड़े थे। मुझे देखकर बोले—कहाँ घूम रहे हो ? पढ़ने के वक्त तुम्हें घूमने की सूझती है ?

मैंने कहा—गया था चौपाल। रामचन्द्र विदा हो रहे थे। उन्हें चौधरी साहब ने कुछ नहीं दिया।

'तो तुम्हें इसकी क्या फिक्र पड़ी है ?'

'वह जायँगे कैसे ? पास राह-खर्च भी तो नहीं है।'

'क्या कुछ खर्च भी नहीं दिया ? यह चौधरी साहब की बेइसाफी है।'

'आप अगर दो रुपया दे दें, तो मैं उन्हे दे आऊँ। इतने में शायद वह घर पहुँच जायँ।'

पिताजी ने तीव्र दृष्टि से देखकर कहा—जाओ, अपनी किताब देखो। मेरे पास रुपये नहीं हैं।

यह कहकर वह घोड़े पर सवार हो गये। उसी दिन से पिताजी पर से मेरी श्रद्धा उठ गई। मैंने फिर कभी उनकी डाट-डपट की परवा नहीं की। मेरा दिल कहता—आपको मुझे उपदेश देने का कोई अधिकार नहीं है। मुझे उनकी सूरत से चिढ़ हो गई। वह जो कहते, मैं ठीक उसका उल्टा करता। यद्यपि इससे मेरी ही

हानि हुई ; लेकिन मेरा अन्तःकरण उस समय विप्लवकारी विचारों से भरा हुआ था।

मेरे पास दो आने पैसे पड़े हुए थे। मैंने पैसे उठा लिये, और जाकर शरमाते-शरमाते रामचन्द्र को दे दिये। उन पैसों को देखकर रामचन्द्र को जितना हर्ष हुआ, वह मेरे लिए आशातीत था। टूट पड़े, मानो प्यासे को पानी मिल गया।

वही दो आने पैसे लेकर तीनों मूर्तियाँ विदा हुईं। केवल मैं ही उनके साथ क़स्बे के बाहर तक पहुँचाने आया।

उन्हें विदा करके लौटा, तो मेरी आँखें सजल थीं, पर हृदय आनन्द से उमड़ा हुआ था।

मन्त्र

पण्डित लीलाधर चौबे की ज़बान में जादू था। जिस वक्त वह मञ्च पर खड़े होकर अपनी वाणी की सुधा-वृष्टि करने लगते थे, श्रोताओं की आत्माएँ तृप्त हो जाती थीं, लोगों पर अनुराग का नशा छा जाता था। चौबेजी के व्याख्यानों में तत्त्व तो बहुत कम होता था, शब्द-योजना भी बहुत सुन्दर न होती थी, लेकिन उनकी शैली इतनी आकर्षक, रञ्जक और मर्मस्पर्शी थी कि एक ही व्याख्यान को बार-बार दुहराने पर भी उसका असर कम न होता, बल्कि घन की चोटों की भाँति और भी प्रभावोत्पादक हो जाता था। हमें तो विश्वास नहीं आता, किन्तु सुननेवाले कहते हैं, उन्होंने केवल एक व्याख्यान रट रखा है। और उसी को वह शब्दशः प्रत्येक सभा में एक नये अन्दाज से दुहराया करते हैं। जातीय गौरव-गान उनके व्याख्यानों का प्रधान गुण था, मञ्च पर आते ही भारत के प्राचीन गौरव और पूर्वजों की अमर-कीर्ति का राग छेड़कर सभा को मुग्ध कर देते थे। यथा—

'सज्जनो! हमारी अधोगति की कथा सुनकर किसकी आँखों से अश्रुधारा न निकल पड़ेगी? हमें अपने प्राचीन गौरव को याद करके सन्देह होने लगता है कि हम वही हैं, या बदल गये। जिसने कल सिंह से पंजा लिया, वह आज चूहे को देखकर बिल खोज रहा है। इस पतन की भी कोई सीमा है? दूर क्यों जाइए, महाराज चन्द्रगुप्त के समय को ही ले लीजिए। यूनान का सुविज्ञ इतिहासकार लिखता है कि उस ज़माने मे यहाँ द्वार पर ताले न डाले जाते थे, चोरी कहीं सुनने में न आती थी, व्यभिचार का नाम-निशान न था, दस्तावेज़ों का आविष्कार ही न हुआ था, पुर्जों पर लाखों का लेन-देन हो जाता था, न्याय-पद पर बैठे हुए कर्मचारी मक्खियाँ मारा करते थे। सज्जनो, उन दिनों कोई आदमी जवान न मरता था (तालियाँ)। हाँ, उन दिनों कोई आदमी जवान न मरता था। बाप के सामने बेटे का अवसान हो जाना, एक अश्रुत-पूर्व—एक असम्भव—घटना थी। आज ऐसे

कितने माता-पिता हैं, जिनके कलेजे पर जवान बेटों का दाग न हो ? वह भारत नहीं रहा, भारत गारत हो गया !'

यही चौबेजी की शैली थी। वह वर्तमान की अधोगति और दुर्दशा तथा भूत की समृद्धि और सुदशा का राग अलापकर लोगों में जातीय स्वाभिमान को जाग्रत कर देते थे। इसी सिद्धि की बदौलत उनकी नेताओं में गणना होती थी। विशेषत हिन्दू-सभा के तो वह कर्णधार ही समझे जाते थे। हिन्दू-सभा के उपासकों मे कोई ऐसा उत्साही, ऐसा दक्ष, ऐसा नीति-चतुर दूसरा न था। यों कहिए कि सभा के लिए उन्होंने अपना जीवन ही उत्सर्ग कर दिया था। धन तो उनके पास न था, कम-से-कम लोगों का विचार यही था, लेकिन साहस, धैर्य और बुद्धि-जैसे अमूल्य रत्न उनके पास अवश्य थे, और ये सभी सभा को अर्पण थे। 'शुद्धि' के तो मानो वह प्राण ही थे। हिन्दू-जाति का उत्थान और पतन, जीवन और मरण उनके विचार में इसी प्रश्न पर अवलम्बित था। शुद्धि के सिवा अब हिन्दू-जाति के पुनर्जीवन का और कोई उपाय न था। जाति की समस्त नैतिक, शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक बीमारियों की दवा इसी आन्दोलन की सफलता में मर्यादित थी, और वह तन-मन से इसका उद्योग किया करते थे। चन्दे वसूल करने मे चौबेजी सिद्ध हस्त थे। ईश्वर ने उन्हें वह 'गुर' बता दिया था कि पत्थर से भी तेल निकाल सकते थे। कजूसों को तो वह ऐसा उलटे छुरे से मूड़ते थे कि उन महाशयों को सदा के लिए शिक्षा मिल जाती थी। इस विषय में पण्डितजी साम, दाम, दण्ड और भेद, चारों नीतियों से काम लेते थे, यहाँ तक कि राष्ट्र-हित के लिए डाका और चोरी को भी क्षम्य समझते थे।

(२)

गरमी के दिन थे। लीलाधरजी किसी शीतल पार्वत्य-प्रदेश को जाने की तैयारियाँ कर रहे थे कि सैर-की-सैर हो जायगी, और बन पड़ा तो कुछ चन्दा भी वसूल कर लायेंगे। उनको जब भ्रमण की इच्छा होती, तो मित्रों के साथ एक डेपुटेशन के रूप में निकल खड़े होते, अगर एक हज़ार रुपये वसूल करके वह इसका आधा सैर-सपाटे में खर्च भी कर दें, तो किसी की क्या हानि ? हिन्दू-सभा को तो कुछ-न-कुछ मिल ही जाता था। वह न उद्योग करते, तो इतना भी तो न मिलता ! पण्डितजी ने अबकी सपरिवार जाने का निश्चय किया था। जबसे 'शुद्धि' का

आविर्भाव हुआ था, उनकी आर्थिक दशा, जो पहले बहुत शोचनीय रहती थी, बहुत कुछ सम्हल गई थी।

लेकिन जाति के उपासकों का ऐसा सौभाग्य कहाँ कि शान्ति-निवास का आनन्द उठा सकें! उनका तो जन्म ही मारे-मारे फिरने के लिए होता है। खबर आई कि मदरास-प्रान्त में तबलीग़वालों ने तूफ़ान मचा रखा है। हिन्दुओं के गाँव-के-गाँव मुसल्मान होते जाते हैं। मुल्लाओं ने बड़े जोश से तबलीग़ का काम शुरु किया है, अगर हिन्दू-सभा ने इस प्रवाह को रोकने की आयोजना न की, तो सारा प्रान्त हिन्दुओं से शून्य हो जायगा—किसी शिखाधारी की सूरत न नज़र आयेगी।

हिन्दू-सभा में खलबली मच गई। तुरन्त एक विशेष अधिवेशन हुआ और नेताओं के सामने यह समस्या उपस्थित की गई। बहुत सोच-विचार के बाद निश्चय हुआ कि चौबेजी पर इस कार्य का भार रखा जाय। उनसे प्रार्थना की जाय कि वह तुरन्त मदरास चले जायँ, और धर्म-विमुख बन्धुओं का उद्धार करें। कहने ही की देर थी। चौबेजी तो हिन्दू-जाति की सेवा के लिए अपने को अर्पण ही कर चुके थे, पर्वत-यात्रा का विचार रोक दिया, और मदरास जाने को तैयार हो गये। हिन्दू-सभा के मन्त्री ने आँखों मे आँसू भरकर उनसे विनय की कि महाराज, यह बीड़ा आप ही उठा सकते हैं। आप ही को परमात्मा ने इतनी सामर्थ्य दी है। आपके सिवा ऐसा कोई दूसरा मनुष्य भारतवर्ष मे नहीं है, जो इस घोर विपत्ति में काम आये। जाति की दीन-हीन दशा पर दया कीजिए। चौबेजी इस प्रार्थना को अस्वीकार न कर सके। फ़ौरन सेवकों की एक मण्डली बनी और पण्डितजी के नेतृत्व में रवाना हुई। हिन्दू-सभा ने उसे बड़ी धूम से विदाई का भोज दिया। एक उदार रईस ने चौबेजी को एक थैली भेंट की, और रेलवे-स्टेशन पर हज़ारों आदमी उन्हें विदा करने आये।

यात्रा का वृत्तान्त लिखने की ज़रूरत नहीं। हर एक बड़े स्टेशन पर सेवकों का सम्मानपूर्ण स्वागत हुआ। कई जगह थैलियाँ मिलीं। रतलाम की रियासत ने एक शामियाना भेंट किया। बड़ोदा ने एक मोटर दी कि सेवकों को पैदल चलने का कष्ट न उठाना पड़े, यहाँ तक कि मदरास पहुँचते-पहुँचते सेवादल के पास एक माकूल रकम के अतिरिक्त ज़रूरत की कितनी चीज़ें जमा हो गई। वहाँ आबादी से दूर खुले हुए मैदान मे हिन्दू-सभा का पड़ाव पड़ा। शामियाने पर राष्ट्रीय-झण्डा

लहराने लगा। सेवकों ने अपनी-अपनी वर्दियाँ निकालीं, स्थानीय धन-कुबेरों ने दावत के सामान भेजे, रावटियाँ पड़ गईं। चारों ओर ऐसी चहल-पहल हो गई, मानो किसी राजा का कैम्प है।

(३)

रात के आठ बजे थे। अछूतों की एक बस्ती के समीप, सेवक दल का कैंप, गैस के प्रकाश से जगमगा रहा था। कई हजार आदमियों का जमाव था, जिनमें अधिकाश अछूत ही थे। उनके लिए अलग टाट बिछा दिये गये थे। ऊँचे वर्ण के हिन्दू कालीनों पर बैठे हुए थे। पण्डित लीलाधर का धुआँधार व्याख्यान हो रहा था—'तुम उन्हीं ऋषियों की सन्तान हो, जो आकाश के नीचे, एक नई सृष्टि की रचना कर सकते थे। जिनके न्याय, बुद्धि और विचार-शक्ति के सामने आज सारा ससार सिर झुका रहा है।'

सहसा एक बूढे अछूत ने उठकर पूछा—हम लोग भी उन्हीं ऋषियों की सन्तान हैं?

लीलाधर—निस्सदेह! तुम्हारी धमनियों में भी उन्हीं ऋषियों का रक्त दौड़ रहा है और यद्यपि आज का निर्दयी, कठोर, विचार-हीन और सकुचित हिन्दू-समाज तुम्हें अवहेलना की दृष्टि से देख रहा है, तथापि तुम किसी हिन्दू से नीच नहीं हो, चाहे वह अपने को कितना ही ऊँचा समझता हो।

बूढा—तुम्हारी सभा हम लोगों की सुध क्यों नहीं लेती?

लीलाधर—हिन्दू-सभा का जन्म अभी थोड़े ही दिन हुए हुआ है, और इस अल्पकाल में उसने जितने काम किये हैं, उन पर उसे अभिमान हो सकता है। हिन्दू-जाति शताब्दियों के बाद गहरी नींद से चौंकी है, और अब वह समय निकट है, जब भारतवर्ष में कोई हिन्दू किसी हिन्दू को नीच न समझेगा, जब वह सब एक दूसरे को भाई समझेंगे। श्रीरामचन्द्र ने निषाद को छाती से लगाया था, शबरी के जूठे बेर खाये थे··।

बूढा—आप जब इन्हीं महात्माओं की सतान हैं, तो फिर ऊँच-नीच में क्यों इतना भेद मानते हैं?

लीलाधर—इसलिए कि हम पतित हो गये हैं—अज्ञान में पड़कर उन महात्माओं को भूल गये हैं।

बूढ़ा—अब तो आपकी निद्रा टूटी है, हमारे साथ भोजन करोगे ?

लीलाधर—मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

बूढ़ा—मेरे लड़के से अपनी कन्या का विवाह कीजियेगा ?

लीलाधर—जब तक तुम्हारे जन्म-संस्कार न बदल जायँ, जब तक तुम्हारे आहार-व्यवहार में परिवर्तन न हो जाय, हम तुमसे विवाह का सम्बन्ध नहीं कर सकते। मांस खाना छोड़ो, मदिरा पीना छोड़ो, शिक्षा ग्रहण करो, तभी तुम उच्च वर्ण के हिन्दुओं में मिल सकते हो।

बूढ़ा—हम कितने ही ऐसे कुलीन ब्राह्मणों को जानते हैं, जो रात-दिन नशे में डूबे रहते हैं, मांस के बिना कौर नहीं उठाते, और कितने ही ऐसे हैं, जो एक अक्षर भी नहीं पढ़े हैं; पर आपको उनके साथ भोजन करते देखता हूँ। उनसे विवाह-सम्बन्ध करने में आपको कदाचित् इनकार न होगा। जब आप खुद अज्ञान में पड़े हुए हैं, तो हमारा उद्धार कैसे कर सकते हैं ? आपका हृदय अभी तक अभिमान से भरा हुआ है। जाइए, अभी कुछ दिन और अपनी आत्मा का सुधार कीजिए। हमारा उद्धार आपके किये न होगा। हिन्दू-समाज में रहकर हमारे माथे से नीचता का कलंक न मिटेगा। हम कितने ही विद्वान्, कितने ही आचारवान् हो हो जायँ, आप हमें यों ही नीच समझते रहेंगे। हिन्दुओं की आत्मा मर गई है, और उसका स्थान अहंकार ने ले लिया है। हम अब उस देवता की शरण जा रहे हैं, जिसके माननेवाले हमसे गले मिलने को आज ही तैयार हैं। वे यह नहीं कहते कि तुम अपने संस्कार बदलकर आओ। हम अच्छे हैं या बुरे, वे इसी दशा में हमें अपने पास बुला रहे हैं। आप अगर ऊँचे हैं, तो ऊँचे बने रहिए। हमें उड़ना न पड़ेगा।

लीलाधर—एक ऋषि-संतान के मुँह से ऐसी बातें सुनकर मुझे आश्चर्य हो रहा है। वर्ण-भेद तो ऋषियों ही का किया हुआ है। उसे तुम कैसे मिटा सकते हो ?

बूढ़ा—ऋषियों को मत बदनाम कीजिए। यह सब पाखंड आप लोगों का रचा हुआ है। आप कहते हैं—तुम मदिरा पीते हो; लेकिन आप मदिरा पीनेवालों की जूतियाँ चाटते हैं। आप हमसे मांस खाने के कारण घिनाते हैं, लेकिन आप गो-मांस खानेवालों के सामने नाक रगड़ते हैं। इसीलिए न कि वे आपसे बलवान् हैं ? हम भी आज राजा हो जायँ, तो आप हमारे सामने हाथ बाँधे खड़े होंगे। आपके

धर्म में वही ऊँचा है, जो बल्वान् है; वही नीच है, जो निर्बल है। यही आपका धर्म है ?

यह कहकर बूढ़ा वहाँ से चला गया, और उसके साथ ही और लोग भी उठ खड़े हुए। केवल चौबेजी और उनके दलवाले मच पर रह गये, मानो गान समाप्त हो जाने के बाद उसकी प्रतिध्वनि वायु में गूँज रही हो।

(४)

तबलीग़वालों ने जबसे चौबेजी के आने की खबर सुनी थी, इस फिक्र में थे कि किसी उपाय से इन सबको यहाँ से दूर करना चाहिए। चौबेजी का नाम दूर-दूर तक प्रसिद्ध था। जानते थे, यह यहाँ जम गया, तो हमारी सारी की-कराई मेहनत व्यर्थ हो जायगी। इसके क़दम यहाँ जमने न पायें। मुल्लाओं ने उपाय सोचना शुरू किया। बहुत वाद-विवाद, हुज्जत और दलील के बाद निश्चय हुआ कि इस काफिर को क़त्ल कर दिया जाय। ऐसा सवाब लूटने के लिए आदमियों की क्या कमी ? उसके लिए तो जन्नत का दरवाज़ा खुल जायगा, हूरें उसकी बलाएँ लेंगी, फरिश्ते उसके क़दमों की खाक का सुरमा बनायेंगे, रसूल उसके सर पर बरकत का हाथ रखेंगे, खुदावद-करीम उसे सीने से लगायेंगे और कहेंगे--तू मेरा प्यारा दोस्त है। दो हट्टे-कट्टे जवानों ने तुरन्त बीड़ा उठा लिया।

रात के दस बज गये थे। हिन्दू-सभा के कैंप में सन्नाटा था। केवल चौबेजी अपनी रावटी मे बैठे हिन्दू-सभा के मत्री को पत्र लिख रहे थे--यहाँ सबसे बड़ी आवश्यकता धन की है। रुपया, रुपया, रुपया! जितना भेज सकें भेजिए। डेपुटेशन भेजकर वसूल कीजिए, मोटे महाजनों की जेब टटोलिए, भिक्षा माँगिए। बिना धन के इन अभागों का उद्धार न होगा। जब तक कोई पाठशाला न खुले, कोई चिकित्सालय न स्थापित हो, कोई वाचनालय न हो, इन्हें कैसे विश्वास आयेगा कि हिन्दू-सभा उनकी हितचिंतक है। तबलीग़वाले जितना खर्च कर रहे हैं, उसका आधा भी मुझे मिल जाय, तो हिन्दू-धर्म की पताका फहराने लगे। केवल व्याख्यानों से काम न चलेगा। असीसों से कोई ज़िंदा नहीं रहता।

सहसा किसी की आहट पाकर वह चौंक पड़े। आँखें ऊपर उठाईं तो देखा, दो आदमी सामने खड़े हैं। पण्डितजी ने शकित होकर पूछा--तुम कौन हो ? क्या काम है ?

उत्तर मिला -- हम इज़राईल के फरिश्ते हैं। तुम्हारी रूह कब्ज करने आये हैं। हज़रत इज़राईल ने तुम्हें याद किया है।

पण्डितजी यों बहुत ही बलिष्ठ पुरुष थे, उन दोनों को एक धक्के मे गिरा सकते थे। प्रात काल तीन पाव मोहनभोग और दो सेर दूध का नाश्ता करते थे। दोपहर के समय पाव-भर घी दाल में खाते, तीसरे पहर दूधिया भग छानते, जिसमे सेर-भर मलाई और आध सेर बादाम मिली रहती। रात को डटकर ब्यालु करते ; क्योंकि प्रात काल तक फिर कुछ न खाते थे। इस पर तुर्रा यह कि पैदल पग-भर भी न चलते थे। पालकी मिले, तो पूछना ही क्या, जैसे घर का पलँग उड़ा जा रहा हो। कुछ न हो, तो इक्का तो था ही, यद्यपि काशी मे दो-ही चार इक्केवाले ऐसे थे, जो उन्हें देखकर कह न दें कि 'इक्का खाली नहीं है।' ऐसा मनुष्य नर्म अखाड़े में पट पड़कर ऊपरवाले पहलवान को थका सकता था, चुस्ती और फुर्ती के अवसर पर तो वह रेत पर निकला हुआ कछुआ था।

पण्डितजी ने एक बार कनखियों से दरवाजे की तरफ देखा। भागने का कोई मौक़ा न था। तब उनमें साहस का सचार हुआ। भय की पराकाष्ठा ही साहस है। अपने सोटे की तरफ हाथ बढाया, और गरजकर बोले—निकल जाओ यहाँ से • !

बात मुँह से पूरी न निकली थी कि लाठियों का वार पड़ा। पण्डितजी मूर्च्छित होकर गिर पड़े। शत्रुओं ने समीप में आकर देखा, जीवन का कोई लक्षण न था। समझ गये, काम तमाम हो गया। लूटने का तो विचार न था पर जब कोई पूछनेवाला न हो, तो हाथ बढाने में क्या हर्ज ? जो कुछ हाथ लगा, ले-देकर चलते बने।

(५)

प्रात काल बूढ़ा भी उधर से निकला, तो सन्नाटा छाया हुआ था—न आदमी, न आदमज़ाद। छोलदारियाँ भी गायब ! चकराया, यह माजरा क्या है ! रात-ही भर में अलादीन के महल की तरह सब कुछ गायब हो गया। उन महात्माओं में से एक भी नज़र नहीं आता, जो प्रात काल मोहनभोग उड़ाते और सन्ध्या-समय भग घोटते दिखाई देते थे। जरा और समीप जाकर पण्डित लीलाधर की रावटी मे झाँका, तो कलेजा सन्न-से हो गया। पण्डितजी जमीन पर मुर्दे की तरह पड़े हुए थे। मुँह पर मक्खियाँ भिनक रही थीं। सिर के बालों में रक्त ऐसा जम गया था, जैसे किसी चित्रकार

के व्रश में रंग। सारे कपड़े लहू-लुहान हो रहे थे। समझ गया, पण्डितजी के साथियों ने उन्हें मारकर अपनी राह ली। सहसा पण्डितजी के मुँह से कराहने की आवाज़ निकली। अभी जान बाकी थी। बूढा तुरन्त दौड़ा हुआ गाँव में गया, और कई आदमियों को लाकर पण्डितजी को अपने घर उठवा ले गया।

मरहम-पट्टी होने लगी। बूढा दिन-के दिन और रात-की-रात पण्डितजी के पास बैठा रहता। उसके घरवाले उनकी शुश्रूषा में लगे रहते। गाँववाले भी यथाशक्ति सहायता करते। इस बेचारे का यहाँ कौन अपना बैठा हुआ है? अपने हैं तो हम, बेगाने हैं तो हम। हमारे ही उद्धार के लिए तो बेचारा यहाँ आया था, नहीं तो यहाँ उसे क्या लेना था? कई बार पण्डितजी अपने घर पर बीमार पड़ चुके थे; पर उनके घरवालों ने इतनी तन्मयता से उनकी तीमारदारी न की थी। सारा घर, और घर ही नहीं, सारा गाँव उनका गुलाम बना हुआ था। अतिथि-सेवा उनके धर्म का एक अंग थी। सभ्य-स्वार्थ ने अभी उस भाव का गला नहीं घोंटा था। साँप का मन्त्र जाननेवाला देहाती अब भी माघ-पूस की अँधेरी मेघाच्छन्न रात्रि में मन्त्र झाड़ने के लिए दस-पाँच कोस पैदल दौड़ता हुआ चला जाता है। उसे डबल फीस और सवारी की ज़रूरत नहीं होती। बूढा मल मूत्र तक अपने हाथों उठाकर फेंकता, पण्डितजी की घुड़कियाँ सुनता, सारे गाँव से दूध माँगकर उन्हें पिलाता। पर उसकी त्योरियाँ कभी मैला न होतीं। अगर उसके कहीं चले जाने पर घरवाले लापरवाही करते तो आकर सबको डाटता।

महीने-भर के बाद पण्डितजी चलने-फिरने लगे, और अब उन्हें ज्ञात हुआ कि इन लोगों ने मेरे साथ कितना उपकार किया है। इन्हीं लोगों का काम था कि मुझे मौत के मुँह से निकाला, नहीं तो मरने में क्या कसर रह गई थी? उन्हे अनुभव हुआ कि मैं जिन लोगों को नीच समझता था, और जिनके उद्धार का बीड़ा उठाकर आया था, वे मुझसे कहीं ऊँचे हैं। मैं इस परिस्थिति मे कदाचित् रोगी को किसी अस्पताल भेजकर ही अपनी कर्तव्यनिष्ठा पर गर्व करता, समझता--मैंने दधीचि और हरिश्चन्द्र का मुख उज्ज्वल कर दिया। उनके रोएँ-रोएँ से इन देव-तुल्य प्राणियों के प्रति आशीर्वाद निकलने लगा।

(६)

तीन महीने गुजर गये। न तो हिन्दू-सभा ने पण्डितजी की खबर ली, और न

घरवालों ने। सभा के मुख-पत्र में उनकी मृत्यु पर आँसू बहाये गये, उनके कामो की प्रशसा की गई, और उनका स्मारक बनाने के लिए चन्दा खोल दिया गया। घरवाले भी रो-पीटकर बैठ रहे।

उधर पण्डितजी दूध और घी खाकर चौक-चौबन्द हो गये। चेहरे पर खून की सुर्खी दौड़ गई, देह भर आई। देहात के जल-वायु ने वह काम कर दिखाया, जो कभी मलाई और मक्खन से न हुआ था। पहले की तरह तैयार तो वह न हुए, पर फुर्ती और चुस्ती दुगुनी हो गई। मोटाई का आलस्य अब नाम को भी न था। उनमें एक नये जीवन का सचार हो गया।

जाड़ा शुरू हो गया था। पण्डितजी घर लौटने की तैयारियाँ कर रहे थे। इतने में प्लेग का आक्रमण हुआ, और गाँव के तीन आदमी बीमार हो गये। बूढा चौधरी भी उन्हीं में था। घरवाले इन रोगियो को छोड़कर भाग खड़े हुए। वहाँ का दस्तूर था कि जिन बीमारियों को वे लोग दैवी कोप समझते थे, उनके रोगियो को छोड़कर चले जाते थे। उन्हे बचाना देवताओं से बैर मोल लेना था, और देवताओं से बैर करके कहाँ जाते? जिस प्राणी को देवताओं ने चुन लिया, उसे भला वे उसके हाथों से छीनने का साहस कैसे करते? पण्डितजी को भी लोगों ने साथ ले जाना चाहा, किन्तु पण्डितजी न गये। उन्होंने गाँव में रहकर रोगियों की रक्षा करने का निश्चय किया। जिस प्राणी ने उन्हे मौत के पजे से छुड़ाया था, उसे इस दशा मे छोड़कर वह कैसे जाते? उपकार ने उनकी आत्मा को जगा दिया था। बूढे चौधरी ने तीसरे दिन होश आने पर जब उन्हें अपने पास खड़े देखा, तो बोला—महाराज, तुम यहाँ क्यो आ गये? मेरे लिए देवताओं का हुक्म आ गया है। अब मैं किसी तरह नहीं रुक सकता। तुम क्यों अपनी जान जोखिम में डालते हो? मुझ पर दया करो, चले जाओ।

लेकिन पण्डितजी पर कोई असर न हुआ। वह बारी-बारी से तीनों रोगियों के पास जाते, और कभी उनकी गिल्टियाँ सेंकते, कभी उन्हे पुराणों की कथाएँ सुनाते। घरों में नाज, बरतन आदि सब ज्यों-के-त्यो रखे हुए थे। पण्डितजी पथ्य बना-बनाकर रोगियों को खिलाते। रात को जब रोगी भी सो जाते, और सारा गाँव भाँय-भाँय करने लगता, तो पण्डितजी को भाँति-भाँति के भयकर जन्तु दिखाई देते। उनके कलेजे में धड़कन होने लगती, लेकिन वहाँ से टलने का नाम न लेते। उन्होंने

निश्चय कर लिया था कि या तो इन लोगों को बचा ही लूँगा, या इन पर अपने को बलिदान ही कर दूँगा ।

जब तीन दिन सेंक-बाँध करने पर भी रोगियों की हालत न सँभली, तो पण्डितजी को बड़ी चिन्ता हुई । शहर वहाँ से बीस मील पर था । रेल का कहीं पता नहीं, रास्ता बीहड और साथी कोई नहीं । इधर यह भय कि अकेले रोगियों की न-जाने क्या दशा हो । बेचारे बड़े सकट मे पड़े । अन्त को चौथे दिन, पहर रात रहे, वह अकेले ही शहर को चल दिये और दस बजते-बजते वहाँ जा पहुँचे । अस्पताल से दवा लेने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा । गँवारों से अस्पतालवाले दवाओं का मन-माना दाम वसूल किया करते थे । पण्डितजी को मुफ्त क्यों देने लगे ? डाक्टर के मुशी ने कहा—दवा तैयार नहीं है ।

पण्डितजी ने गिड़गिड़ाकर कहा—सरकार, बड़ी दूर से आया हूँ । कई आदमी बीमार पड़े हैं । दवा न मिलेगी, तो सब मर जायँगे ।

मुशी ने बिगड़कर कहा – क्यों सिर खाये जाते हो ? कह तो दिया, दवा तैयार नहीं है, और न इतनी जल्द तैयार हो सकती है ।

पण्डितजी अत्यन्त दीनभाव से बोले—सरकार, ब्राह्मण हूँ, आपके बाल-बच्चों को भगवान् चिरञ्जीवी करें, दया कीजिए । आपका अक़बाल चमकता रहे ।

रिश्वती कर्मचारियों में दया कहाँ ? वे तो रुपये के गुलाम हैं । ज्यों-ज्यों पण्डितजी उसकी खुशामद करते थे, वह और भी झल्लाता था । अपने जीवन में पण्डित-जी ने कभी इतनी दीनता न प्रकट की थी । उनके पास इस वक्त एक धेला भी न था, अगर वह जानते कि दवा मिलने में इतनी दिक्क़त होगी, तो गाँववालों से ही कुछ माँग-जाँचकर लाये होते । बेचारे हतबुद्धि-से खड़े सोच रहे थे कि अब क्या करना चाहिए ? सहसा डाक्टर साहब स्वय बँगले से निकल आये । पण्डितजी लपककर उनके पैरों पर गिर पड़े और करुण-स्वर मे बोले—दीनबधु, मेरे घर के तीन आदमी ताऊन मे पड़े हुए हैं । बड़ा ग़रीब हूँ सरकार, कोई दवा मिले ।

डाक्टर साहब के पास ऐसे ग़रीब लोग नित्य आया करते थे । उनके चरणों पर किसी का गिर पड़ना, उनके सामने पड़े हुए आर्तनाद करना, उनके लिए कुछ नई बातें न थीं ; अगर इस तरह वह दया करने लगते तो दया ही भर को होते, यह

ठाट-बाट कहाँ से निभता ? मगर दिल के चाहे कितने ही बुरे हों, बातें मीठी-मीठी करते थे, पैर हटाकर बोले—रोगी कहाँ है ?

पण्डितजी—सरकार, वे तो घर पर हैं। इतनी दूर कैसे लाता ?

डाक्टर—रोगी घर, और तुम दवा लेने आया है। कितना मजे का बात है। रोगी को देखे बिना कैसे दवा दे सकता है ?

पण्डितजी को अपनी भूल मालूम हुई। वास्तव में बिना रोगी को देखे रोग की पहचान कैसे हो सकती है, लेकिन तीन-तीन रोगियों को इतनी दूर लाना आसान न था। अगर गाँववाले उनकी सहायता करते, तो डोलियों का प्रबन्ध हो सकता था, पर वहाँ तो सब-कुछ अपने ही बूते पर करना था, गाँववालों से इसमें सहायता मिलने की कोई आशा न थी। सहायता को कौन कहे, वे तो उनके शत्रु हो रहे थे। उन्हें भय होता था कि यह दुष्ट देवताओं से बैर बढाकर हम लोगों पर न-जाने क्या विपत्ति लायेगा; अगर कोई दूसरा आदमी होता, तो वह उसे कबका मार चुके होते। पण्डितजी से उन्हें प्रेम हो गया था, इसी लिए छोड़ दिया था।

यह जवाब सुनकर पण्डितजी को कुछ बोलने का साहस तो न होता था, पर कलेजा मज़बूत करके बोले—सरकार, अब कुछ नहीं हो सकता ?

डाक्टर—अस्पताल से दवा नहीं मिल सकता। हम अपने पास से, दाम लेकर दवा दे सकता है।

पण्डितजी—यह दवा कितने की होगी सरकार ?

डाक्टर साहब ने दवा का दाम १०) बतलाया, और यह भी कहा कि इस दवा से जितना लाभ होगा, उतना अस्पताल को दवा से नहीं हो सकता। बोले—वहाँ पुराना दवाई रखा रहता है। ग़रीब लोग आता है, दवाई ले जाता है, जिसको जीना होता है, जीता है, जिसे मरना होता है, मरता है; हमसे कुछ मतलब नहीं। हम तुमको जो दवा देगा, वह सच्चा दवा होगा।

दस रुपये !—इस समय पण्डितजी को दस रुपये दस लाख जान पड़े। इतने रुपये वह एक दिन में भंग-बूटी में उड़ा दिया करते थे, पर इस समय तो धेले-धेले को मुहताज थे। किसी से उधार मिलने की आशा कहाँ। हाँ, सभव है, भिक्षा माँगने से कुछ मिल जाय, लेकिन इतनी जल्द दस रुपये किसी भी उपाय से न मिल सकते थे। आध घण्टे तक वह इसी उधेड़-बुन में खड़े रहे। भिक्षा

के सिवा दूसरा कोई उपाय न सूझता था, और भिक्षा उन्होंने कभी माँगी न थी। वह चंदे जमा कर चुके थे, एक-एक में बार हजारों वसूल कर लेते थे ; पर वह दूसरी बात थी। धर्म के रक्षक, जाति के सेवक और दलितों के उद्धारक बनकर चंदा लेने में एक गौरव था, चंदा लेकर वह देनेवालों पर एहसान करते थे, पर यहाँ तो भिखारियों की भाँति हाथ फैलाना, गिड़गिड़ाना और फटकारें सहनी पड़ेंगी। कोई कहेगा—इतने मोटे-ताजे तो हो, मिहनत क्यों नहीं करते, तुम्हें भीख माँगते शर्म भी नहीं आती? कोई कहेगा—घास खोद लाओ, मैं तुम्हें अच्छी मज़दूरी दूँगा। किसी को उनके ब्राह्मण होने का विश्वास न आयेगा। अगर यहाँ उनकी रेशमी अचकन और रेशमी साफा होता, केसरिया रंगवाला दुपट्टा ही मिल जाता, तो वह कोई स्वाग भर लेते। ज्योतिषी बनकर वह किसी धनी सेठ को फाँस सकते थे, और इस फन में वह उस्ताद भी थे ; पर यहाँ वह सामान कहाँ—कपड़े-लत्ते तो सब लुट चुके थे। विपत्ति में कदाचित् बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाती है। अगर वह मैदान में खड़े होकर कोई मनोहर व्याख्यान दे देते, तो शायद उनके दस-पाँच भक्त पैदा हो जाते, लेकिन इस तरफ उनका ध्यान ही न गया। वह सजे हुए पंडाल में, फूलों से सुसज्जित मेज़ के सामने, मंच पर खड़े होकर अपनी वाणी का चमत्कार दिखला सकते थे। इस दुरवस्था में कौन उनका व्याख्यान सुनेगा? लोग समझेंगे, कोई पागल बक रहा है।

मगर दोपहर ढली जा रही थी, अधिक सोच-विचार का अवकाश न था। यहीं सन्ध्या हो गई, तो रात को लौटना असम्भव हो जायगा। फिर रोगियों की न-जाने क्या दशा हो, वह अब इस अनिश्चित दशा में खड़े न रह सके। चाहे जितना तिरस्कार हो, कितना ही अपमान सहना पड़े, भिक्षा के सिवा और कोई उपाय न था।

वह बाजार में जाकर एक दूकान के सामने खड़े हो गये ; पर कुछ माँगने की हिम्मत न पड़ी।

दूकानदार ने पूछा—क्या लोगे?

पण्डितजी बोले—चावल का क्या भाव है?

मगर दूसरी दूकान पर पहुँचकर वह ज्यादा सावधान हो गये। सेठजी गद्दी पर बैठे हुए थे। पण्डितजी आकर उनके सामने खड़े हो गये, और गीता का एक

श्लोक पढ सुनाया। उनका शुद्ध उच्चारण और मधुर वाणी सुनकर सेठजी चकित हो गये, पूछा—कहाँ स्थान है ?

पण्डितजी—काशी से आ रहा हूँ।

यह कहकर पण्डितजी ने सेठजी से धर्म के दसों लक्षण बतलाये और श्लोक की ऐसी अच्छी व्याख्या की कि वह मुग्ध हो गये। बोले—महाराज, आज चलकर मेरे स्थान को पवित्र कीजिए।

कोई स्वार्थी आदमी होता, तो इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लेता; लेकिन पण्डितजी को लौटने की पड़ी थी। बोले—नहीं सेठजी, मुझे अवकाश नहीं है।

सेठ—महाराज, आपको हमारी इतनी खातिरी करनी पड़ेगी।

पण्डितजी जब किसी तरह ठहरने पर राज़ी न हुए, तो सेठजी ने उदास होकर कहा--फिर हम आपकी क्या सेवा करें ? कुछ आज्ञा दीजिए। आपकी वाणी से तो तृप्ति नहीं हुई। फिर कभी इधर आना हो, तो अवश्य दर्शन दीजिएगा।

पण्डितजी—आपकी इतनी श्रद्धा है, तो अवश्य आऊँगा।

यह कहकर पण्डितजी फिर उठ खड़े हुए। सकोच ने फिर उनकी ज़बान बन्द कर दी। यह आदर-सत्कार इसलिए तो है कि मैं अपना स्वार्थ-भाव छिपाये हुए हूँ। कोई इच्छा प्रकट की और इनकी आँखें बदलीं। सूखा जवाब चाहे न मिले; पर यह श्रद्धा न रहेगी। वह नीचे उतर गये, और सड़क पर एक क्षण के लिए खड़े होकर सोचने लगे—अब कहाँ जाऊँ ? उधर जाड़े का दिन किसी विलासी के धन की भाँति भागा चला जाता था। वह अपने ही ऊपर झुँझला रहे थे—जब किसी से माँगूँगा ही नहीं, तो कोई क्यों देने लगा ? कोई क्या मेरे मन का हाल जानता है ? वे दिन गये, जब धनी लोग ब्राह्मणों की पूजा किया करते थे। यह आशा छोड़ दो कि कोई महाशय आकर तुम्हारे हाथ मे रुपये रख देंगे। वह धीरे-धीरे आगे बढ़े।

सहसा सेठजी ने पीछे से पुकारा—पण्डितजी, ज़रा ठहरिए।

पण्डितजी ठहर गये। फिर घर चलने के लिए आग्रह करने आता होगा। यह तो न हुआ कि एक दस रुपये का नोट लाकर दे देता, मुझे घर ले जाकर न-जाने क्या करेगा!

मगर जब सेठजी ने सचमुच एक गिनी निकालकर उनके पैरों पर रख दी, तो उनकी आँखों में एहसान के आँसू उछल आये। हैं, अब भी सच्चे धर्मात्मा जीव ससार में हैं, नहीं तो यह पृथ्वी रसातल को न चली जाती! अगर इस वक्त उन्हें सेठजी के कल्याण के लिए अपनी देह का सेर-आध-सेर रक्त भी देना पड़ता, तो भी शौक़ से दे देते। गद्‌गद कण्ठ से बोले—इसका तो कुछ काम न था, सेठजी! मैं भिक्षुक नहीं हूँ, आपका सेवक हूँ।

सेठजी श्रद्धा-विनय-पूर्ण शब्दों में बोले—भगवन्, इसे स्वीकार कीजिए। यह दान नहीं, भेंट है। मैं भी आदमी पहचानता हूँ। बहुतेरे साधु-संत, योगी-यती, देश और धर्म के सेवक आते रहते हैं; पर न-जाने क्यों, किसी के प्रति मेरे मन में श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती। उनसे किसी तरह पिण्ड छुड़ाने की पड़ जाती है। आपका संकोच देखकर मैं समझ गया कि आपका यह पेशा नहीं है। आप विद्वान् हैं, धर्मात्मा हैं; पर किसी संकट में पड़े हुए हैं। इस तुच्छ भेंट को स्वीकार कीजिए और मुझे आशीर्वाद दीजिए।

(७)

पण्डितजी दवाएँ लेकर घर चले, तो हर्ष, उल्लास और विजय से उनका हृदय उछला पड़ता था। हनूमान भी सजीवन-बूटी लाकर इतने प्रसन्न न हुए होंगे। ऐसा सच्चा आनन्द उन्हें कभी प्राप्त न हुआ था। उनके हृदय मे इतने पवित्र भावो का सचार कभी न हुआ था।

दिन बहुत थोड़ा रह गया था। सूर्यदेव अविरल गति से पश्चिम की ओर दौड़ते चले जाते थे। क्या उन्हें भी किसी रोगी को दवा देनी थी? वह बड़े वेग से दौड़ते हुए एक पर्वत की ओट में छिप गये। पण्डितजी और भी फुर्ती से पाँव बढ़ाने लगे, मानो उन्होंने सूर्यदेव को पकड़ लेने की ठानी हो।

देखते-देखते अँधेरा छा गया। आकाश मे दो-एक तारे दिखाई देने लगे। अभी दस मील की मजिल बाक़ी थी। जिस तरह काली घटा को सिर पर मँडराते देखकर गृहिणी दौड़-दौड़ सुखावन समेटने लगती है, उसी भाँति लीलाधर ने दौड़ना शुरू किया। उन्हें अकेले पड़ जाने का भय था, भय था अँधेरे में राह भूल जाने का। दाहने-बाएँ बस्तियाँ छूटती जाती थीं। पण्डितजी को ये गाँव इस समय बहुत ही सुहावने मालूम होते थे। कितने आनन्द से लोग अलाव के सामने बैठे ताप रहे हैं!

सहसा उन्हें एक कुत्ता दिखाई दिया । न-जाने किधर से आकर वह उनके सामने पगडंडी पर चलने लगा। पण्डितजी चौंक पड़े, पर एक क्षण में उन्होंने कुत्ते को पहचान लिया। वह बूढ़े चौधरी का कुत्ता मोती था। वह गाँव छोड़कर आज इधर इतनी दूर कैसे आ निकला? क्या वह जानता था कि पण्डितजी दवा लेकर आ रहे होंगे, कहीं रास्ता न भूल जायँ? कौन जानता है, पण्डितजी ने एक बार मोती कहकर पुकारा, तो कुत्ते ने दुम हिलाई, पर रुका नहीं। वह इससे अधिक परिचय देकर समय नष्ट न करना चाहता था। पण्डितजी को ज्ञात हुआ कि ईश्वर मेरे साथ हैं, वही मेरी रक्षा कर रहे हैं। अब उन्हें कुशल से घर पहुँचने का विश्वास हो गया।

दस बजते-बजते पण्डितजी घर पहुँच गये।

* * *

रोग घातक न था; पर यश पण्डितजी को बदा था। एक सप्ताह के बाद तीनों रोगी चंगे हो गये। पण्डितजी की कीर्ति दूर-दूर तक फैल गई। उन्होंने यम-देवता से घोर संग्राम करके इन आदमियों को बचा लिया था। उन्होंने देवताओं पर भी विजय पा ली थी—असम्भव को सम्भव कर दिखाया था। वह साक्षात् भगवान् थे। उनके दर्शनों के लिए लोग दूर-दूर से आने लगे; किन्तु पण्डितजी को अपनी कीर्ति से इतना आनन्द न होता था, जितना रोगियों को चलते-फिरते देखकर।

चौधरी ने कहा—महाराज, तुम साच्छात भगवान् हो। तुम न आ जाते, तो हम न बचते।

पण्डितजी बोले—मैंने कुछ नहीं किया। यह सब ईश्वर की दया है।

चौधरी—अब हम तुम्हें कभी न जाने देंगे। जाकर अपने बाल-बच्चों को ले आओ।

पण्डितजी—हाँ, मैं भी यही सोच रहा हूँ। तुमको छोड़कर अब नहीं जा सकता।

(८)

मुल्लाओं ने मैदान खाली पाकर आस-पास के देहातों में खूब जोर बाँध रखा था। गाँव-के-गाँव मुसलमान होते जाते थे। उधर हिन्दू-सभा ने सन्नाटा खींच लिया था। किसी की हिम्मत न पड़ती थी कि इधर आये। लोग दूर बैठे हुए मुसलमानों पर गोला-बारूद चला रहे थे। इस हत्या का बदला कैसे लिया जाय,

यही उनके सामने सबसे बड़ी समस्या थी। अधिकारियों के पास बार-बार प्रार्थना-पत्र भेजे जा रहे थे कि इस मामले की छान-बीन की जाय, और बार-बार यही जवाब मिलता था कि हत्याकारियों का पता नहीं चलता। उधर पण्डितजी के स्मारक के लिए चन्दा भी जमा किया जा रहा था।

मगर इस नई ज्योति ने मुल्लाओं का रग फीका कर दिया। वहाँ एक ऐसे देवता का अवतार हुआ था, जो मुर्दों को जिला देता था, जो अपने भक्तों के कल्याण के लिए अपने प्राणों को बलिदान कर सकता था। मुल्लाओं के यहाँ यह सिद्धि कहाँ, यह विभूति कहाँ, यह चमत्कार कहाँ? इस ज्वलन्त उपकार के सामने जन्नत और अखूवत (भ्रातृ-भाव) की कोरी दलीलें कब ठहर सकती थी? पण्डितजी अब वह अपने ब्राह्मणत्व पर घमण्ड करनेवाले पण्डितजी न थे। उन्होंने शूद्रों और भीलों का आदर करना सीख लिया था। उन्हें छाती से लगाते हुए अब पण्डितजी को घृणा न होती थी। अपना घर अँधेरा पाकर ही ये इसलामी-दीपक की ओर झुके थे। जब अपने घर में सूर्य का प्रकाश हो गया, तो इन्हें दूसरों के यहाँ जाने की क्या जरूरत थी। सनातन-धर्म की विजय हो गई। गाँव-गाँव में मन्दिर बनने लगे और शाम-सबेरे मन्दिरो से शख और घण्टे की ध्वनि सुनाई देने लगी। लोगों के आचरण आप-ही-आप सुधरने लगे। पण्डितजी ने किसी को शुद्ध नहीं किया। उन्हें अब शुद्धि का नाम लेते शर्म आती थी—मैं भला इन्हें क्या शुद्ध करूँगा, पहले अपने को तो शुद्ध कर लूँ। ऐसी निर्मल, पवित्र आत्माओं को शुद्धि के ढोंग से अपमानित नहीं कर सकता।

यह मन्त्र था, जो उन्होंने उन चाण्डालों से सीखा था; और इसी के बल से वह अपने धर्म की रक्षा करने में सफल हुए थे।

पण्डितजी अभी जीवित हैं, पर अब सपरिवार उसी प्रान्त में, उन्हीं भीलों के साथ, रहते हैं।

कामना-तरु

राजा इन्द्रनाथ का देहान्त हो जाने के बाद कुँअर राजनाथ को शत्रुओं ने चारों ओर से ऐसा दबाया, कि उन्हें अपने प्राण लेकर एक पुराने सेवक की शरण जाना पड़ा, जो एक छोटे-से गाँव का जागीरदार था। कुँअर स्वभाव ही से शान्ति-प्रिय, रसिक, हँस-खेलकर समय काटनेवाले युवक थे। रण-क्षेत्र की अपेक्षा कवित्व के क्षेत्र में अपना चमत्कार दिखाना उन्हें अधिक प्रिय था। रसिकजनों के साथ, किसी वृक्ष के नीचे बैठे हुए, काव्य-चर्चा करने में उन्हें जो आनन्द मिलता था, वह शिकार या राज-दरबार में नहीं। इस पर्वत-मालाओं से घिरे हुए गाँव में आकर उन्हें जिस शान्ति और आनन्द का अनुभव हुआ, उसके बदले में वह ऐसे-ऐसे कई राज्य-त्याग कर सकते थे। यह पर्वत-मालाओं की मनोहर छटा, यह नेत्ररंजक हरियाली, यह जल-प्रवाह की मधुर वीणा, यह पक्षियों की मीठी बोलियाँ, यह मृग-शावकों की छलाँगें, यह बछड़ों की कुलेलें, यह ग्राम-निवासियों की बालोचित सरलता, यह रमणियों की सकोच-मय चपलता! ये सभी बातें उनके लिए नई थीं, पर इन सबों से बढ़कर जो वस्तु उनको आकर्षित करती थी, वह जागीदार की युवती कन्या चन्दा थी।

चन्दा घर का सारा काम-काज आप ही करती थी। उसको माता की गोद में खेलना नसीब ही न हुआ था। पिता की सेवा ही में रत रहती थी। उसका विवाह इसी साल होनेवाला था, कि इसी बीच में कुँअरजी ने आकर उसके जीवन में नवीन भावनाओं और नवीन आशाओं को अकुरित कर दिया। उसने अपने पति का जो चित्र मन में खींच रखा था, वही मानो रूप धारण करके उसके सम्मुख आ गया। कुँअर की आदर्श रमणी भी चन्दा ही के रूप में अवतरित हो गई; लेकिन कुँअर समझते थे—मेरे ऐसे भाग्य कहाँ? चन्दा भी समझती थी—कहाँ यह और कहाँ मैं!—

(२)

दोपहर का समय था और जेठ का महीना। खपरैल का घर भट्ठी की भाँति

तपने लगा। खस की टट्टियों और तहखानों में रहनेवाले राजकुमार का चित्त गरमी से इतना बेचैन हुआ कि वह बाहर निकल आये और सामने के बाग़ में जाकर एक घने वृक्ष की छाँह में बैठ गये। सहसा उन्होंने देखा—चन्दा नदी से जल की गागर लिए चली आ रही है। नीचे जलती हुई रेत थी, ऊपर जलता हुआ सूर्य। लू से देह झुलसी जाती थी। कदाचित् इस समय प्यास से तड़पते हुए आदमी की भी नदी तक जाने की हिम्मत न पड़ती। चन्दा क्यों जल लेने गई थी? घर में पानी भरा हुआ है। फिर इस समय वह क्यों पानी लेने निकली?

कुँअर दौड़कर उसके पास पहुँचे और उसके हाथ से गागर छीन लेने की चेष्टा करते हुए बोले—मुझे दे दो और भागकर छाँह मे चली जाओ। इस समय पानी का क्या काम था?

चन्दा ने गागर न छोड़ी। सिर से खिसका हुआ अञ्चल सँभालकर बोली—तुम इस समय कैसे आ गये? शायद मारे गरमी के अन्दर न रह सके!

कुँअर—मुझे दे दो, नहीं मैं छीन लूँगा।

चन्दा ने मुसकिराकर कहा—राजकुमारों को गागर लेकर चलना शोभा नहीं देता।

कुँअर ने गागर का मुँह पकड़कर कहा—इस अपराध का बहुत दंड सह चुका हूँ। चन्दा, अब तो अपने को राजकुमार कहने में भी लज्जा आती है।

चन्दा—देखो, धूप में खुद हैरान होते हो और मुझे भी हैरान करते हो। गागर छोड़ दो। सच कहती हूँ, पूजा का जल है।

कुँअर—क्या मेरे ले जाने से पूजा का जल अपवित्र हो जायगा?

चन्दा—अच्छा भाई, नहीं मानते, तो तुम्हीं ले चलो। हाँ नहीं तो!

कुँअर गागर लेकर आगे-अगे चले। चन्दा पीछे हो ली। बग़ीचे में पहुँचे, तो चन्दा एक छोटे-से पौधे के पास रुककर बोली—इसी देवता की पूजा करनी है, गागर रख दो। कुँअर ने आश्चर्य से पूछा—यहाँ कौन देवता है, चन्दा? मुझे तो नहीं नजर आता!

चन्दा ने पौधे को सींचते हुए कहा—यही तो मेरा देवता है!

पानी पाकर पौधे की मुरझाई हुई पत्तियाँ हरी हो गईं, मानो उनकी आँखें खुल गई हों।

कुँअर ने पूछा—यह पौधा क्या तुमने लगाया है, चन्दा!

चन्दा ने पौधे को एक सीधी लकड़ी से बाँधते हुए कहा—हाँ, उसी दिन तो, जब तुम यहाँ आये। यहाँ पहले मेरी गुड़ियों का घरौंदा था। मैंने गुड़ियों पर छाँह करने के लिए एक अमोला लगा दिया था। फिर मुझे इसकी याद नहीं रही। घर के काम-धन्धे में भूल गई। जिस दिन तुम यहाँ आये, मुझे न-जाने क्यों इस पौधे की याद आ गई। मैंने आकर देखा, तो वह सूख गया था। मैंने तुरन्त पानी लाकर इसे सींचा, तो कुछ-कुछ ताज़ा होने लगा। तबसे रोज़ इसे सींचती हूँ। देखो, कितना हरा-भरा हो गया है!

यह कहते-कहते उसने सिर उठाकर कुँअर की ओर ताकते हुए कहा—और सब काम भूल जाऊँ, पर इस पौधे को पानी देना नहीं भूलती। तुम्हीं इसके प्राण-दाता हो। तुम्हीं ने आकर इसे जिला दिया, नहीं तो बेचारा सूख गया होता। यह तुम्हारे शुभागमन का स्मृति-चिह्न है। ज़रा इसे देखो। मालूम होता है, हँस रहा है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि यह मुझसे बोलता है। सच कहती हूँ, कभी यह रोता है, कभी हँसता है, कभी रूठता है; आज तुम्हारा लाया हुआ पानी पाकर यह फूला नहीं समाता। एक-एक पत्ता तुम्हें धन्यवाद दे रहा है।

कुँअर को ऐसा जान पड़ा, मानो वह पौधा कोई नन्हा-सा क्रीड़ाशील बालक है। जैसे चुम्बन से प्रसन्न होकर बालक गोद में चढने के लिए दोनों हाथ फैला देता है, उसी भाँति यह पौधा भी हाथ फैलाये जान पड़ा। उसके एक-एक अणु में चन्दा का प्रेम झलक रहा था।

चन्दा के घर में खेती के सभी औज़ार थे। कुँअर एक फावड़ा उठा लाये और पौधे का एक थाला बनाकर चारों ओर ऊँची मेंड़ उठा दी। फिर खुरपी लेकर अन्दर की मिट्टी को गोड़ दिया। पौधा और भी लहलहा उठा।

चन्दा बोली—कुछ सुनते हो, क्या कह रहा है?

कुँअर ने मुसकिराकर कहा—हाँ, कहता है—अम्माँ की गोद में बैठूँगा।

चन्दा—नहीं, कह रहा है, इतना प्रेम करके फिर भूल न जाना।

(३)

मगर कुँअर को अभी राजपुत्र होने का दण्ड भोगना बाक़ी था। शत्रुओं को न-जाने कैसे उनकी टोह मिल गई। इधर तो हितचिन्तकों के आग्रह से विवश होकर बूढा कुबेरसिंह चन्दा और कुँअर के विवाह की तैयारियाँ कर रहा था, उधर शत्रुओं

का एक दल सिर पर आ पहुँचा। कुँअर ने उस पौधे के आस-पास फूल-पत्ते लगाकर एक फुलवाड़ी-सी बना दी थी। पौधे को सींचना अब उनका काम था। प्रातःकाल वह कन्धे पर काँवर रखे नदी से पानी ला रहे थे, कि दस-बारह आदमियों ने उन्हें रास्ते में घेर लिया। कुबेरसिंह तलवार लेकर दौड़ा; लेकिन शत्रुओं ने उसे मार गिराया। अकेला, शस्त्रहीन कुँअर क्या करता। कन्धे पर काँवर रखे हुए बोला—अब क्यों मेरे पीछे पड़े हो, भाई? मैंने तो सब कुछ छोड़ दिया।

सरदार बोला—हमें आपको पकड़ ले जाने का हुक्म है।

'तुम्हारा स्वामी मुझे इस दशा में भी नहीं देख सकता? खैर, अगर धर्म समझो तो कुबेरसिंह की तलवार मुझे दे दो। अपनी स्वाधीनता के लिए लड़कर प्राण दूँ।'

इसका उत्तर यही मिला कि सिपाहियों ने कुँअर को पकड़कर मुश्कें कस दीं और उन्हें एक घोड़े पर बिठाकर घोड़े को भगा दिया। काँवर वहीं पड़ी रह गई।

उसी समय चन्दा घर से निकली। देखा—काँवर पड़ी हुई है और कुँअर को लोग घोड़े पर बिठाये लिये जा रहे हैं। चोट खाये हुए पक्षी की भाँति वह कई कदम दौड़ी, फिर गिर पड़ी। उसकी आँखों में अँधेरा छा गया।

सहसा उसकी दृष्टि पिता की लाश पर पड़ी। वह घबड़ाकर उठी और लाश के पास जा पहुँची। कुबेर अभी मरा न था। प्राण आँखों में अटके हुए थे।

चन्दा को देखते ही क्षीण स्वर में बोला—बेटी·· कुँअर! इसके आगे वह कुछ न कह सका। प्राण निकल गये, पर इस एक शब्द—'कुँअर'—ने उसका आशय प्रकट कर दिया।

(४)

बीस वर्ष बीत गये! कुँअर कैद से न छूट सके।

यह एक पहाड़ी किला था। जहाँ तक निगाह जाती, पहाड़ियाँ ही नज़र आतीं। किले में उन्हें कोई कष्ट न था। नौकर-चाकर, भोजन-वस्त्र, सैर-शिकार, किसी बात की कमी न थी। पर, उस वियोगाग्नि को कौन शान्त करता, जो नित्य कुँअर के हृदय में जला करती थी। जीवन में अब उनके लिए कोई आशा न थी, कोई प्रकाश न था। अगर कोई इच्छा थी, तो यही कि एक बार उस प्रेम-तीर्थ की यात्रा कर लें, जहाँ उन्हें वह सब कुछ मिला, जो मनुष्य को मिल सकता है। हाँ, उनके मन में एकमात्र यही अभिलाषा थी कि उस पवित्र स्मृतियों से रंजित भूमि के

दर्शन करके जीवन का उसी नदी के तट पर अन्त कर दें। वही नदी का किनारा, वही वृक्षों का कुञ्ज, वही चन्दा का छोटा-सा सुन्दर घर, उसकी आँखों में फिरा करता, और वह पौधा जिसे उन दोनों ने मिलकर सींचा था, उसमें तो मानो उसके प्राण ही बसते थे। क्या वह दिन भी आयेगा, जब वह उस पौधे को हरी-हरी पत्तियों से लदा हुआ देखेगा! कौन जाने वह अब है भी या सूख गया? कौन अब उसको सींचता होगा। चन्दा इतने दिनों अविवाहिता थोड़े ही बैठी होगी। ऐसा सभव भी तो नहीं। उसे अब मेरी सुधि भी न होगी। हाँ, शायद कभी अपने घर की याद खींच लाती हो, तो पौधे को देखकर उसे मेरी याद आ जाती हो। मुझ-जैसे अभागे के लिए इससे अधिक वह और कर ही क्या सकती है। उस भूमि को एक बार देखने के लिए वह अपना जीवन दे सकता था, पर यह अभिलाषा न पूरी होती थी।

आह! एक युग बीत गया, शोक और नैराश्य ने उठती जवानी को कुचल दिया। न आँखों मे ज्योति रही, न पैरों में शक्ति। जीवन क्या था, एक दुखदायी स्वप्न था। उस सघन अन्धकार में उसे कुछ न सूझता था, बस जीवन का आधार एक अभिलाषा थी, एक सुखद स्वप्न, जो जीवन में न-जाने कब उसने देखा था। एक बार फिर वही स्वप्न देखना चाहता था। फिर, उसकी अभिलाषाओं का अन्त हो जायगा, उसे कोई इच्छा न रहेगी। सारा अनन्त भविष्य, सारी अनन्त चिन्ताएँ, इसी एक स्वप्न में लीन हो जाती थीं।

उसके रक्षकों को अब उसकी ओर से कोई शका न थी। उन्हे उस पर दया आती थी। रात को पहरे पर केवल कोई एक आदमी रह जाता था और लोग मीठी नींद सोते थे। कुँअर भाग जा सकता है, इसकी कोई सम्भावना, कोई शका न थी। यहाँ तक कि एक दिन यह सिपाही भी निश्शक होकर बन्दूक लिये लेट रहा। निद्रा किसी हिंसक पशु की भाँति ताक लगाये बैठी थी। लेटते ही टूट पड़ी। कुँअर ने सिपाही की नाक की आवाज़ सुनी। उनका हृदय बड़े वेग से उछलने लगा। यह अवसर आज कितने दिनों के बाद मिला था। वह उठे, मगर पाँव थर-थर काँप रहे थे। बरामदे के नीचे उतरने का साहस न हो सका। कहीं इसकी नींद खुल गई तो? हिंसा उनकी सहायता कर सकती थी। सिपाही की बगल में उसकी तलवार पड़ी थी, पर प्रेम को हिंसा से वैर है। कुँअर ने सिपाही को जगा दिया,

मानो इस वृक्ष को अपने अन्दर रख लेगा, जिसमें उसे हवा का झोंका भी न लगे। उसके एक-एक पल्लव पर चन्दा की स्मृति बैठी हुई थी। पक्षियों का इतना रम्य संगीत क्या कभी उन्होंने सुना था! उनके हाथों में दम न था, सारी देह भूख-प्यास और थकन से शिथिल हो रही थी। पर, वह उस वृक्ष पर चढ़ गये, इतनी फुर्ती से चढ़े कि बन्दर भी न चढ़ता। सबसे ऊँची फुनगी पर बैठकर उन्होंने चारों ओर गर्व-पूर्ण दृष्टि डाली। यही उनकी कामनाओं का स्वर्ग था। सारा दृश्य चन्दामय हो रहा था। दूर की नीली पर्वत-श्रेणियों पर चन्दा बैठी गा रही थी। आकाश में तैरनेवाली लालिमामयी नौकाओं पर चन्दा ही उड़ी जाती थी। सूर्य की श्वेत-पीत प्रकाश की रेखाओं पर चन्दा ही बैठी हँस रही थी। कुँअर के मन में आया, पक्षी होता तो इन्हीं डालियों पर बैठा हुआ जीवन के दिन पूरे करता।

जब अँधेरा हो गया, तो कुँअर नीचे उतरे और उसी वृक्ष के नीचे थोड़ी-सी भूमि झाड़कर पत्तियों की शय्या बनाई और लेटे। यही उनके जीवन का स्वर्ण-स्वप्न था, आह! यही वैराग्य! अब वह इस वृक्ष की शरण छोड़कर कहीं न जायँगे। दिल्ली के तख्त के लिए भी वह इस आश्रम को न छोड़ेंगे।

(६)

उसी स्निग्ध, अमल चाँदनी मे सहसा एक पक्षी आकर उस वृक्ष पर बैठा ओर दर्द में डूबे हुए स्वरों में गाने लगा। ऐसा जान पड़ा, मानो वह वृक्ष सिर धुन रहा है! वह नीरव रात्रि उस वेदनामय सगीत से हिल उठी, कुँअर का हृदय इस तरह ऐंठने लगा, मानो वह फट जायगा। उस स्वर में करुणा और वियोग के तीर-से भरे हुए थे। आह! पक्षी, तेरा जोड़ा भी अवश्य बिछुड़ गया है, नहीं तेरे राग में इतनी व्यथा, इतना विषाद, इतना रुदन कहाँ से आता! कुँअर के हृदय के टुकड़े हुए जाते थे, एक-एक स्वर तीर की भाँति दिल को छेदे डालता था। वहाँ बैठे न रह सके। उठकर एक आत्म-विस्मृत की दशा में दौड़े हुए झोपड़े में गये, वहाँ से फिर वृक्ष के नीचे आये। उस पक्षी को कैसे पायें। कहीं दिखाई नही देता।

पक्षी का गाना बन्द हुआ, तो कुँअर को नींद आ गई। उन्हें स्वप्न में ऐसा जान पड़ा कि वही पक्षी उनके समीप आया। कुँअर ने ध्यान से देखा, तो वह पक्षी न था, चन्दा थी, हाँ, प्रत्यक्ष चन्दा थी।

कुँअर ने पूछा—चन्दा, यह पक्षी यहाँ कहाँ?

वह चौंककर उठ बैठा। रहा-सहा संशय भी उसके दिल से निकल गया। दूसरी बार जो सोया, तो खर्राटे लेने लगा।

प्रातःकाल जब उसकी निद्रा टूटी, तो उसने लपककर कुँअर के कमरे में झाँका। कुँअर का पता न था।

कुँअर इस समय हवा के घोड़ों पर सवार, कल्पना की द्रुतगति से, भागा जा रहा था—उस स्थान को, जहाँ उसने सुख-स्वप्न देखा था।

किले में चारों ओर तलाश हुई, नायक ने सवार दौड़ाये; पर कहीं पता न चला।

(५)

पहाड़ी रास्तों का काटना कठिन, उस पर अज्ञातवास की कैद, मृत्यु के दूत पीछे लगे हुए, जिनसे बचना मुशकिल। कुँअर को कामना-तीर्थ में महीनों लग गये। जब यात्रा पूरी हुई, तो कुँअर में एक कामना के सिवा और कुछ शेष न था। दिन-भर की कठिन यात्रा के बाद जब वह उस स्थान पर पहुँचे, तो संध्या हो गई थी। वहाँ बस्ती का नाम भी न था। दो-चार टूटे-फूटे झोपड़े उस बस्ती के चिह्न-स्वरूप शेष रह गये थे। वह झोपड़ा, जिसमें कभी प्रेम का प्रकाश था, जिसके नीचे उन्होंने जीवन के सुखमय दिन काटे थे, जो उनकी कामनाओं का आगार और उपासना का मन्दिर था, अब उनकी अभिलाषाओं की भाँति भग्न हो गया था। झोपड़े की भग्नावस्था मूक भाषा में अपनी करुण-कथा सुना रही थी। कुँअर उसे देखते ही 'चन्दा-चन्दा!' पुकारते हुए दौड़े। उन्होंने उस रज को माथे पर मला, मानो किसी देवता की विभूति हो, और उसकी टूटी हुई दीवारों से चिमटकर बड़ी देर तक रोते रहे। हाय रे अभिलाषा! वह रोने ही के लिए इतनी दूर से आये थे? रोने ही की अभिलाषा इतने दिनों से उन्हें विकल कर रही थी? पर इस रुदन में कितना स्वर्गीय आनन्द था। क्या समस्त ससार का सुख इन आँसुओं की तुलना कर सकता था?

तब वह झोपड़े से निकले। सामने मैदान में एक वृक्ष हरे-हरे नवीन पत्तों को गोद में लिये, मानो उनका स्वागत करने को खड़ा था। यह वही पौधा है, जिसे आज से बीस वर्ष पहले दोनों ने आरोपित किया था। कुँअर उन्मत्त की भाँति दौड़े और जाकर उस वृक्ष से लिपट गये, मानो कोई पिता अपने मातृहीन पुत्र को छाती से लगाये हुए हो। यह उसी प्रेम की निशानी है, उसी अक्षय प्रेम की, जो इतने दिनों के बाद आज इतना विशाल हो गया है। कुँअर का हृदय [illegible]

मानो इस वृक्ष को अपने अन्दर रख लेगा, जिसमें उसे हवा का झोंका भी न लगे। उसके एक-एक पल्लव पर चन्दा की स्मृति बैठी हुई थी। पक्षियों का इतना रम्य सगीत क्या कभी उन्होंने सुना था! उनके हाथों में दम न था, सारी देह भूख-प्यास और थकन से शिथिल हो रही थी। पर, वह उस वृक्ष पर चढ़ गये, इतनी फुर्ती से चढ़े कि बन्दर भी न चढ़ता। सबसे ऊँची फुनगी पर बैठकर उन्होंने चारों ओर गर्व-पूर्ण दृष्टि डाली। यही उनकी कामनाओं का स्वर्ग था। सारा दृश्य चन्दामय हो रहा था। दूर की नीली पर्वत-श्रेणियों पर चन्दा बैठी गा रही थी। आकाश में तैरनेवाली ललिमामयी नौकाओं पर चन्दा ही उड़ी जाती थी। सूर्य की श्वेत-पीत प्रकाश की रेखाओं पर चन्दा ही बैठी हँस रही थी। कुँअर के मन मे आया, पक्षी होता तो इन्हीं डालियों पर बैठा हुआ जीवन के दिन पूरे करता।

जब अँधेरा हो गया, तो कुँअर नीचे उतरे और उसी वृक्ष के नीचे थोड़ी-सी भूमि झाड़कर पत्तियों की शय्या बनाई और लेटे। यही उनके जीवन का स्वर्ण-स्वप्न था, आह! यही वैराग्य! अब वह इस वृक्ष की शरण छोड़कर कहीं न जायँगे। दिल्ली के तख्त के लिए भी वह इस आश्रम को न छोड़ेंगे।

(६)

उसी स्निग्ध, अमल चाँदनी मे सहसा एक पक्षी आकर उस वृक्ष पर बैठा ओर दर्द में डूबे हुए स्वरों में गाने लगा। ऐसा जान पड़ा, मानो वह वृक्ष सिर धुन रहा है! वह नीरव रात्रि उस वेदनामय सगीत से हिल उठी, कुँअर का हृदय इस तरह ऐंठने लगा, मानो वह फट जायगा। उस स्वर में करुणा और वियोग के तीर-से भरे हुए थे। आह! पक्षी, तेरा जोड़ा भी अवश्य बिछुड़ गया है, नहीं तेरे राग मे इतनी व्यथा, इतना विषाद, इतना रुदन कहाँ से आता! कुँअर के हृदय के टुकड़े हुए जाते थे, एक-एक स्वर तीर की भाँति दिल को छेदे डालता था। वहाँ बैठे न रह सके। उठकर एक आत्म-विस्मृत की दशा में दौड़े हुए झोपड़े में गये, वहाँ से फिर वृक्ष के नीचे आये। उस पक्षी को कैसे पायें। कहीं दिखाई नही देता।

पक्षी का गाना बन्द हुआ, तो कुँअर को नींद आ गई। उन्हें स्वप्न में ऐसा जान पड़ा कि वही पक्षी उनके समीप आया। कुँअर ने ध्यान से देखा, तो वह पक्षी न था, चन्दा थी; हाँ, प्रत्यक्ष चन्दा थी।

कुँअर ने पूछा—चन्दा, यह पक्षी यहाँ कहाँ?

चन्दा ने कहा—मैं ही तो वह पक्षी हूँ।

कुँअर—तुम पक्षी हो ! क्या तुम्हीं गा रही थीं ?

चन्दा—हाँ प्रियतम, मैं ही गा रही थी। इसी तरह रोते-रोते एक युग बीत गया।

कुँअर—तुम्हारा घोंसला कहाँ है ?

चन्दा—उसी झोपड़े में, जहाँ तुम्हारी खाट थी। उसी खाट के बान से मैंने अपना घोंसला बनाया है।

कुँअर—और तुम्हारा जोड़ा कहाँ है ?

चन्दा—मैं अकेली हूँ। चन्दा को अपने प्रियतम के स्मरण करने में, उसके लिए रोने में, जो सुख है, वह जोड़े में नहीं ; मैं इसी तरह अकेली रहूँगी और अकेली मरूँगी।

कुँअर—मैं क्या पक्षी नहीं हो सकता ?

चन्दा चली गई। कुँअर की नींद खुल गई। ऊषा की लालिमा आकाश पर छाई हुई थी और वह चिड़िया कुँअर की शय्या के समीप एक डाल पर बैठी चहक रही थी। अब उस संगीत में करुणा न थी, विलाप न था, उसमें आनन्द था, चापल्य था, सारल्य था, वह वियोग का करुण-क्रन्दन नहीं, मिलन का मधुर संगीत था।

कुँअर सोचने लगे—इस स्वप्न का क्या रहस्य है ?

(७)

कुँअर ने शय्या से उठते ही एक झाड़ू बनाई और झोपड़े को साफ करने लगे। उनके जीते-जी इसकी यह भग्न दशा नहीं रह सकती। वह इसकी दीवारें उठायेंगे, इस पर छप्पर डालेंगे, इसे लीपेंगे। इसमें उनकी चन्दा की स्मृति वास करती है। झोपड़े के एक कोने में वह काँवर रखी हुई थी, जिस पर पानी ला-लाकर वह इस वृक्ष को सींचते थे। उन्होंने काँवर उठा ली और पानी लाने चले। दो दिन से कुछ भोजन न किया था। रात को भूख लगी हुई थी ; पर इस समय भोजन की बिलकुल इच्छा न थी। देह में एक अद्‌भुत स्फूर्ति का अनुभव होता था। उन्होंने नदी से पानी ला-लाकर मिट्टी भिगोना शुरू किया। दौड़े जाते थे और दौड़े आते थे। इतनी शक्ति उनमें कभी न थी।

एक ही दिन में इतनी दीवार उठ गई, जितनी चार मज़दूर भी न उठा सकते

थे। और कितनी सीधी, चिकनी दीवार थी कि कारीगर भी देखकर लज्जित हो जाता। प्रेम की शक्ति अपार है।

सन्ध्या हो गई। चिड़ियों ने बसेरा लिया। वृक्षों ने भी आँखें बन्द कीं; मगर कुँअर को आराम कहाँ। तारों के मलिन प्रकाश में मिट्टी के रद्दे रखे जा रहे थे। हाय रे कामना! क्या तू इस बेचारे के प्राण ही लेकर छोड़ेगी?

वृक्ष पर पक्षी का मधुर स्वर सुनाई दिया। कुँअर के हाथ से घड़ा छूट पड़ा। हाथ और पैरों मे मिट्टी लपेट वह वृक्ष के नीचे जाकर बैठ गये। उस स्वर में कितना लालित्य था, कितना उल्लास, कितनी ज्योति! मानव-सगीत इसके सामने बेसुरा अलाप था। उसमे यह जागृति, यह अमृत, यह जीवन कहाँ। सगीत के आनन्द में विस्मृति है, पर वह विस्मृति कितनी स्मृतिमय होती है, अतीत को जीवन और प्रकाश से रञ्जित करके प्रत्यक्ष कर देने की शक्ति, सगीत के सिवा और कहाँ है?, कुँअर के हृदय-नेत्रों के समाने वह दृश्य खड़ा हुआ, जब चन्दा इसी पौधे को नदी से जल ला-लाकर सींचती थी। हाय, क्या वे दिन फिर आ सकते हैं!

सहसा एक बटोही आकर खड़ा हो गया और कुँअर को देखकर वह प्रश्न करने लगा, जो साधारणतः दो अपरिचित प्राणियों मे हुआ करते हैं—कौन हो, कहाँ से आते हो, कहाँ जाओगे? पहले वह भी इसी गाँव में रहता था, पर जब गाँव उजड़ गया तो समीप के एक दूसरे गाँव में जा बसा था। अब भी उसके खेत यहाँ थे। रात को जगली पशुओं से अपने खेतों की रक्षा करने के लिए वह यहीं आकर सोता था।

कुँअर ने पूछा—तुम्हें मालूम है, इस गाँव में एक कुबेरसिंह ठाकुर रहते थे?

किसान ने बड़ी उत्सुकता से कहा—हाँ-हाँ, भाई, जानता क्यों नहीं! बेचारे यहीं तो मारे गये। तुमसे भी क्या जान-पहचान थी?

कुँअर—हाँ, उन दिनो कभी-कभी आया करता था। मैं भी राजा की सेवा मे नौकर था। उनके घर में और कोई न था?

किसान—अरे भाई, कुछ न पूछो, बड़ी करुण-कथा है। उसकी स्त्री तो पहले ही मर चुकी थी। केवल लड़की बच रही थी। आह! कैसी सुशीला, कैसी सुघड़

वह लड़की थी! उसे देखकर आँखों में ज्योति आ जाती थी। बिलकुल स्वर्ग की देवी जान पड़ती थी। जब कुबेरसिंह जीता था, तभी कुँअर राजनाथ यहाँ भागकर आये थे और उसके यहाँ रहे थे, उस लड़की की कुँअर से कहीं बातचीत हो गई। जब कुँअर को शत्रुओं ने पकड़ लिया, तो चन्दा घर में अकेली रह गई। गाँव-वालों ने बहुत चाहा कि उसका विवाह हो जाय। उसके लिए वरों का तोड़ा न था भाई! ऐसा कौन था, जो उसे पाकर अपने को धन्य न मानता, पर वह किसी से विवाह करने पर राज़ी न हुई। यह पेड़ जो तुम देख रहे हो, तब छोटा-सा पौधा था। इसके आस-पास फूलों की कई और क्यारियाँ थीं। इन्हीं को गोड़ने, निराने, सींचने में उसका दिन कटता था, बस यही कहती थी कि हमारे कुँअर साहब आते होंगे।

कुँअर की आँखों से आँसू की वर्षा होने लगी। मुसाफिर ने ज़रा दम लेकर कहा—दिन-दिन घुलती जाती थी। तुम्हें विश्वास न आयेगा भाई, उसने दस साल इसी तरह काट दिये। इतनी दुर्बल हो गई थी कि पहचानी न जाती थी; पर अब भी उसे कुँअर साहब के आने की आशा बनी हुई थी। आखिर एक दिन इसी वृक्ष के नीचे उसकी लाश मिली। ऐसा प्रेम कौन करेगा भाई! कुँअर न-जाने मरे कि जिये, कभी उन्हें इस विरहिणी की याद भी आती है कि नहीं, पर इसने तो प्रेम को ऐसा निभाया जैसा चाहिए।

कुँअर को ऐसा जान पड़ा, मानो हृदय फटा जा रहा है। वह कलेजा थामकर बैठ गये।

मुसाफिर के हाथ में एक सुलगता हुआ उपला था। उसने चिलम भरी और दो-चार दम लगाकर बोला—उसके मरने के बाद यह घर गिर गया। गाँव पहले ही उजाड़ था। अब तो और भी सुनसान हो गया। दो-चार असामी यहाँ आ बैठते थे। अब तो चिड़िए का पूत भी यहाँ नहीं आता। उसके मरने के कई महीने के बाद यही चिड़िया इस पेड़ पर बोलती हुई सुनाई दी। तबसे बराबर इसे यहाँ बोलते सुनता हूँ! रात को सभी चिड़ियाँ सो जाती हैं, पर यह रात-भर बोलती रहती है। उसका जोड़ा कभी नहीं दिखाई दिया। बस, फुट्टैल है। दिन-भर उसी झोपड़े में पड़ी रहती है। रात को इस पेड़ पर आ बैठती है; मगर इस समय इसके गाने में कुछ और ही बात है, नहीं तो सुनकर रोना आता है। ऐसा जान पड़ता

है, मानो कोई कलेजे को मसोस रहा हो। मैं तो कभी-कभी पड़े-पड़े रो दिया करता हूँ। सब लोग कहते हैं कि यह वही चन्दा है। अब भी कुँअर के वियोग में विलाप कर रही है। मुझे भी ऐसा ही जान पड़ता है। आज न-जाने क्यों मगन है?

किसान तम्बाकू पीकर सो गया। कुँअर कुछ देर तक खोये हुए-से खड़े रहे। फिर धीरे से बोले—चन्दा, क्या सचमुच तुम्हीं हो? मेरे पास क्यों नहीं आतीं?

एक क्षण में चिड़िया आकर उनके हाथ पर बैठ गई। चन्द्रमा के प्रकाश में कुँअर ने चिड़िया को देखा। ऐसा जान पड़ा, मानो उनकी आँखें खुल गई हों, मानो आँखों के सामने से कोई आवरण हट गया हो। पक्षी के रूप में भी चन्दा की मुखाकृति अङ्कित थी।

दूसरे दिन किसान सोकर उठा, तो कुँअर की लाश पड़ी हुई थी।

(८)

कुँअर अब नहीं हैं, किन्तु उनके झोपड़े की दीवारें बन गई हैं, ऊपर फूस का नया छप्पर पड़ गया है और झोपड़े के द्वार पर फूलों की कई क्यारियाँ लगी हुई हैं। गाँव के किसान इससे अधिक और क्या कर सकते थे?

उस झोपड़े में अब पक्षियों के एक जोड़े ने अपना घोंसला बनाया है। दोनों साथ-साथ दाने-चारे की खोज में जाते हैं, साथ-साथ आते हैं, रात को दोनों उसी वृक्ष की डाल पर बैठे दिखाई देते हैं। उनका सुरम्य संगीत रात की नीरवता में दूर तक सुनाई देता है। वन के जीव-जंतु वह स्वर्गीय गान सुनकर मुग्ध हो जाते हैं।

यह पक्षियों का जोड़ा कुँअर और चन्दा का जोड़ा है, इसमें किसी को सन्देह नहीं है।

एक बार एक व्याध ने इन पक्षियों को फँसाना चाहा, पर गाँव ने उसे मारकर भगा दिया।

सती

दो शताब्दियों से अधिक बीत गये हैं ; पर चिन्तादेवी का नाम चला जाता है। बुन्देलखण्ड के एक बीहड़ स्थान में आज भी मंगलवार को सहस्रों स्त्री-पुरुष चिन्तादेवी की पूजा करने आते हैं। उस दिन यह निर्जन स्थान सोहाने गीतों से गूँज उठता है, टीले और टोकरे रमणियों के रंग-बिरंगे वस्त्रों से सुशोभित हो जाते हैं। देवी का मन्दिर एक बहुत ऊँचे टीले पर बना हुआ है। उसके कलश पर लहराती हुई लाल पताका बहुत दूर से दिखाई देती है। मन्दिर इतना छोटा है कि उसमें मुश्किल से एक साथ दो आदमी समा सकते हैं। भीतर कोई प्रतिमा नहीं है, केवल एक छोटी-सी वेदी बनी हुई है। नीचे से मन्दिर तक पत्थर का ज़ीना है। भीड़-भाड़ में धक्का खाकर कोई नीचे न गिर पड़े, इसलिए ज़ीने के दोनों तरफ दीवार बनी हुई है। यहीं चिन्तादेवी सती हुई थीं ; पर लोकरीति के अनुसार वह अपने मृत-पति के साथ चिता पर नहीं बैठी थीं। उनका पति हाथ जोड़े सामने खड़ा था, पर वह उसकी ओर आँख उठाकर भी न देखती थीं। वह पति के शरीर के साथ नहीं, उसकी आत्मा के साथ सती हुईं। उस चिता पर पति का शरीर न था, उसकी मर्यादा भस्मीभूत हो रही थी।

(२)

यमुना-तट पर कालपी एक छोटा-सा नगर है। चिन्ता उसी नगर के एक वीर बुन्देले की कन्या थी। उसकी माता उसकी बाल्यावस्था में ही परलोक सिधार चुकी थीं। उसके पालन-पोषण का भार पिता पर पड़ा। वह संग्राम का समय था, योद्धाओं को कमर खोलने की भी फुरसत न मिलती थी, वे घोड़े की पीठ पर भोजन करते और ज़ीने ही पर झपकियाँ ले लेते थे। चिन्ता का बाल्यकाल पिता के साथ समर-भूमि में कटा। बाप उसे किसी खोह में या वृक्ष की आड़ में छिपाकर मैदान में चला जाता। चिन्ता निश्शंक भाव से बैठी हुई मिट्टी के क़िले बनाती और बिगाड़ती।

उसके घरौंदे क़िले होते थे ; उसकी गुड़ियाँ ओढ़नी न ओढ़ती थीं। वह सिपाहियों के गुड्डे बनाती और उन्हें रण-क्षेत्र में खड़ा करती थी। कभी-कभी उसका पिता सन्ध्या समय भी न लौटता, पर चिन्ता को भय छू तक न गया था। निर्जन स्थान में भूखी-प्यासी रात-रात भर बैठी रह जाती। उसने नेवले और सियार की कहानियाँ कभी न सुनी थीं। वीरों के आत्मोत्सर्ग की कहानियाँ, और वह भी योद्धाओं के मुँह से, सुन सुनकर वह आदर्शवादिनी बन गई थी।

एक बार तीन दिन तक चिन्ता को अपने पिता की खबर न मिली। वह एक पहाड़ की खोह में बैठी मन-ही-मन एक ऐसा क़िला बना रही थी, जिसे शत्रु किसी भाँति जान न सके। दिन-भर वह उसी किले का नक़शा सोचती और रात को उसी किले का स्वप्न देखती। तीसरे दिन सन्ध्या समय उसके पिता के कई साथियों ने आकर उसके सामने रोना शुरू किया। चिन्ता ने विस्मित होकर पूछा—दादाजी कहाँ हैं? तुम लोग क्यों रोते हो!

किसी ने इसका उत्तर न किया। वे जोर से धाड़ें मार-मारकर रोने लगे। चिन्ता समझ गई कि उसके पिता ने वीर-गति पाई। उस तेरह वर्ष की बालिका की आँखों से आँसू की एक बूँद भी न गिरी, मुख ज़रा भी मलिन न हुआ, एक आह भी न निकली। हँसकर बोली—अगर उन्होंने वीर-गति पाई, तो तुम लोग रोते क्यों हो? योद्धाओं के लिए इससे बढ़कर और कौन मृत्यु हो सकती है, इससे बढ़कर उनकी वीरता का और क्या पुरस्कार मिल सकता है? यह रोने का नहीं, आनन्द मनाने का अवसर है।

एक सिपाही ने चिन्तित स्वर में कहा—हमें तुम्हारी चिन्ता है। तुम अब कहाँ रहोगी?

चिन्ता ने गंभीरता से कहा—इसकी तुम कुछ चिन्ता न करो, दादा! मैं अपने बाप की बेटी हूँ। जो कुछ उन्होंने किया, वही मैं भी करूँगी। अपनी मातृ-भूमि को शत्रुओं के पंजे से छुड़ाने में उन्होंने प्राण दे दिये। मेरे सामने भी वही आदर्श है। जाकर अपने आदमियों को सँभालिए। मेरे लिए एक घोड़े और हथियारों का प्रबन्ध कर दीजिए। ईश्वर ने चाहा, तो आप लोग मुझे किसी से पीछे न पायेंगे, लेकिन यदि मुझे पीछे हटते देखना, तो तलवार के एक हाथ से इस जीवन का अन्त कर देना। यही मेरी आपसे विनय है। जाइए, अब विलम्ब न कीजिए।

सिपाहियों को चिन्ता के ये वीर-वचन सुनकर कुछ भी आश्चर्य नहीं हुआ। हाँ, उन्हें यह संदेह अवश्य हुआ कि क्या यह कोमल बालिका अपने संकल्प पर दृढ़ रह सकेगी?

(३)

पाँच वर्ष बीत गये। समस्त प्रान्त में चिन्तादेवी की धाक बैठ गई। शत्रुओं के क़दम उखड़ गये। वह विजय की सजीव मूर्ति थी, उसे तीरों और गोलियों के सामने निश्शंक खड़े देखकर सिपाहियों को उत्तेजना मिलती रहती थी। उसके सामने वे कैसे क़दम पीछे हटाते? जब कोमलांगी युवती आगे बढ़े, तो कौन पुरुष कदम पीछे हटायेगा? सुन्दरियों के सम्मुख योद्धाओं की वीरता अजेय हो जाती है। रमणी के वचन-बाण योद्धाओं के लिए आत्म-समर्पण के गुप्त संदेश हैं, उसकी एक चितवन कायरों में भी पुरुषत्व प्रवाहित कर देती है। चिन्ता की छवि-कीर्त्ति ने मनचले सूरमाओं को चारों ओर से खींच-खींचकर उसकी सेना को सजा दिया—जान पर खेलनेवाले भौंरे चारों ओर से आ-आकर इस फूल पर मँड़राने लगे।

इन्हीं योद्धाओं में रत्नसिंह नाम का युवक राजपूत भी था।

यों तो चिन्ता के सैनिकों में सभी तलवार के धनी थे; बात पर जान देनेवाले, उसके इशारे पर आग में कूदनेवाले, उसकी आज्ञा पाकर एक बार आकाश के तारे तोड़ लाने को भी चल पड़ते, किन्तु रत्नसिंह सबसे बढ़ा हुआ था। चिन्ता भी हृदय में उससे प्रेम करती थी। रत्नसिंह अन्य वीरों की भाँति अक्खड़, मुँहफट या घमण्डी न था। और लोग अपन-अपनी कीर्ति को ख़ूब बढ़ा-बढ़ाकर बयान करते। आत्म-प्रशंसा करते हुए उनकी ज़बान न रुकती थी। वे जो कुछ करते, चिन्ता को दिखाने के लिए। उनका ध्येय अपना कर्तव्य न था, चिन्ता थी। रत्नसिंह जो कुछ करता, शान्त भाव से। अपनी प्रशंसा करना तो दूर रहा, वह चाहे कोई शेर ही क्यों न मार आये, उसकी चरचा तक न करता। उसकी विनयशीलता और नम्रता, संकोच की सीमा से भिड़ गई थी। औरों के प्रेम में विलास था; पर रत्नसिंह के प्रेम में त्याग और तप। और लोग मीठी नींद सोते थे; पर रत्नसिंह तारे गिन-गिनकर रात काटता था और सब अपने दिल में समझते थे कि चिन्ता मेरी होगी—केवल रत्नसिंह निराश था, और इसलिए उसे किसी से न द्वेष था, न राग। औरों को चिन्ता के सामने चहकते देखकर उसे उनकी वाक्पटुता पर आश्चर्य होता, प्रतिक्षण उसका निराशांधकार और भी

घना हो जाता था। कभी-कभी वह अपने बोदेपन पर झुँझला उठता—क्यों ईश्वर ने उसे उन गुणों से वञ्चित रखा, जो रमणियों के चित्त को मोहित करते हैं? उसे कौन पूछेगा? उसकी मनोव्यथा को कौन जानता है? पर वह मन में झुँझलाकर रह जाता था। दिखावे की उसमें सामर्थ्य ही न थी।

आधी से अधिक रात बीत चुकी थी। चिन्ता अपने खीमे में विश्राम कर रही थी। सैनिकगण भी कड़ी मञ्ज़िल मारने के बाद कुछ खा-पीकर ग़ाफ़िल पड़े हुए थे। आगे एक घना जंगल था। जंगल के उस पार शत्रुओं का एक दल डेरा डाले पड़ा था। चिन्ता उसके आने की खबर पाकर भागाभाग चली आ रही थी। उसने प्रातःकाल शत्रुओं पर धावा करने का निश्चय कर लिया था। उसे विश्वास था कि शत्रुओं को मेरे आने की खबर न होगी, किन्तु यह उसका भ्रम था। उसी की सेना का एक आदमी शत्रुओं से मिला हुआ था। यहाँ की खबरें वहाँ नित्य पहुँचती रहती थीं। उन्होंने चिन्ता से निश्चिन्त होने के लिए एक षड्यन्त्र रच रखा था—उसकी गुप्त हत्या करने के लिए तीन साहसी सिपाहियों को नियुक्त कर दिया था। वे तीनों हिंस्र पशुओं की भाँति दबे-पाँव जंगल को पार करके आये और वृक्षों की आड़ में खड़े होकर सोचने लगे कि चिन्ता का खीमा कौन-सा है। सारी सेना बेखबर सो रही थी, इससे उन्हें अपने कार्य की सिद्धि में लेश-मात्र सन्देह न था। वे वृक्षों की आड़ से निकले, और ज़मीन पर मगर की तरह रेंगते हुए चिन्ता के खीमे की ओर चले।

सारी सेना बेखबर सोती थी, पहरे के सिपाही थककर चूर हो जाने के कारण निद्रा में मग्न हो गये थे। केवल एक प्राणी खीमे के पीछे मारे ठण्ढ के सिकुड़ा हुआ बैठा था। यह रत्नसिंह था। आज उसने यह कोई नई बात न की थी। पड़ावों में उसकी रातें इसी भाँति चिन्ता के खीमे के पीछे बैठे-बैठे कटती थीं। घातकों की आहट पाकर उसने तलवार निकाल ली, और चौंककर उठ खड़ा हुआ। देखा—तीन आदमी झुके हुए चले आ रहे हैं! अब क्या करे? अगर शोर मचाता है, तो सेना में खलबली पड़ जाय, और अँधेरे में लोग एक दूसरे पर वार करके आपस ही में कट मरें। इधर अकेले तीन जवानों से भिड़ने में प्राणों का भय। अधिक सोचने का मौक़ा न था। उसमें योद्धाओं की, अविलम्ब निश्चय कर लेने की शक्ति थी; तुरन्त तलवार खींच ली, और उन तीनों पर टूट पड़ा। कई मिनट तक तलवारें

छपाछप चलती रहीं। फिर सन्नाटा हो गया। उधर वे तीनों आहत होकर गिर पड़े, इधर यह भी ज़ख्मों से चूर होकर अचेत हो गया।

प्रात.काल चिन्ता उठी, तो चारों जवानों को भूमि पर पड़े पाया। उसका कलेजा धक् से हो गया। समीप जाकर देखा—तीनों आक्रमणकारियों के प्राण निकल चुके थे; पर रत्नसिंह की साँस चल रही थी। सारी घटना समझ में आ गई। नारीत्व ने वीरत्व पर विजय पाई। जिन आँखों से पिता की मृत्यु पर आँसू की एक बूँद भी न गिरी थी, उन्हीं आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई। उसने रत्नसिंह का सिर अपनी जाँघ पर रख लिया, और हृदयांगण में रचे हुए स्वयवर में उसके गले में जयमाल डाल दी।

(४)

महीने-भर न रत्नसिह की आँखें खुलीं, और न चिन्ता की आँखें बन्द हुईं। चिन्ता उसके पास से एक क्षण के लिए भी कहीं न जाती। न अपने इलाके की परवा थी, न शत्रुओं के बढते चले आने की फिक्र। रत्नसिह पर वह अपनी सारी विभूतियों को बलिदान कर चुकी थी। पूरा महीना बीत जाने के बाद रत्नसिंह की आँख खुली। देखा—चारपाई पर पड़ा हुआ है, और चिन्ता सामने पखा लिये खड़ी है। क्षीण स्वर में बोला—चिन्ता, पंखा मुझे दे दो, तुम्हें कष्ट हो रहा है।

चिन्ता का हृदय इस समय स्वर्ग के अखण्ड, अपार सुख का अनुभव कर रहा था। एक महीना पहले जिस शीर्ण शरीर के सिरहाने बैठी हुई वह नैराश्य से रोया करती थी, उसे आज बोलते देखकर उसके आह्लाद का पारावार न था। उसने स्नेह-मधुर स्वर में कहा—प्राणनाथ, यदि यह कष्ट है, तो सुख क्या है, मैं नहीं जानती। 'प्राणनाथ'—इन सम्बोधन में विलक्षण मन्त्र की-सी शक्ति थी! रत्नसिंह की आँखें चमक उठीं। जीर्णमुद्रा प्रदीप्त हो गई, नसों में एक नये जीवन का सञ्चार हो उठा, और वह जीवन कितना स्फूर्तिमय था, उसमें कितना उत्साह, कितना माधुर्य, कितना उल्लास और कितनी करुणा थी! रत्नसिंह के अङ्ग-अङ्ग फड़कने लगे। उसे अपनी भुजाओं में अलौकिक पराक्रम का अनुभव होने लगा। ऐसा जान पड़ा, मानो वह सारे ससार को सर कर सकता है, उड़कर आकाश पर पहुँच सकता है, पर्वतों को चीर सकता है। एक क्षण के लिए उसे ऐसी तृप्ति हुई, मानो उसकी सारी अभिलाषाएँ पूरी हो गई हैं, और वह अब किसी से कुछ नहीं चाहता, शायद शिव

को सामने खड़े देखकर भी वह मुँह फेर लेगा, कोई वरदान न माँगेगा। उसे अब किसी ऋद्धि की, किसी पदार्थ की इच्छा न थी। उसे गर्व हो रहा था, मानो उससे अधिक सुखी, उससे अधिक भाग्यशाली पुरुष संसार में और कोई न होगा।

चिन्ता अभी अपना वाक्य पूरा न कर पाई थी। उसी प्रसङ्ग में बोली—हाँ, आपको मेरे कारण अलबत्ता दुस्सह यातना भोगनी पड़ी।

रत्नसिंह ने उठने की चेष्टा करके कहा—बिना तप के सिद्धि नहीं मिलती।

चिन्ता ने रत्नसिंह को कोमल हाथों से लिटाते हुए कहा—इस सिद्धि के लिए तुमने तपस्या नहीं की थी। झूठ क्यों बोलते हो? तुम केवल एक अबला की रक्षा कर रहे थे। यदि मेरी जगह कोई दूसरी स्त्री होती, तो भी तुम इतने ही प्राण-पण से उसकी रक्षा करते। मुझे इसका विश्वास है। मैं तुमसे सत्य कहती हूँ, मैंने आजीवन ब्रह्मचारिणी रहने का प्रण कर लिया था, लेकिन तुम्हारे आत्मोत्सर्ग ने मेरे प्रण को तोड़ डाला। मेरा पालन योद्धाओं की गोद में हुआ है, मेरा हृदय उसी पुरुषसिंह के चरणों पर अर्पण हो सकता है, जो प्राणों की बाज़ी खेल सकता हो। रसिकों के हास-विलास, गुण्डों के रूप-रंग और फेकैतों के दाव-घात का मेरी दृष्टि में रत्ती-भर भी मूल्य नहीं। उनकी नट-विद्या को मैं केवल तमाशे की तरह देखती हूँ। तुम्हारे ही हृदय में मैंने सच्चा उत्सर्ग पाया, और तुम्हारी दासी हो गई—आज से नहीं, बहुत दिनों से।

(५)

प्रणय की पहली रात थी। चारों ओर सन्नाटा था। केवल दोनों प्रेमियों के हृदयों में अभिलाषाएँ लहरा रही थीं। चारों ओर अनुरागमयी चाँदनी छिटकी हुई थी, और उसकी हास्यमयी छटा में वर और वधू प्रेमालाप कर रहे थे।

सहसा खबर आई कि शत्रुओं की एक सेना क़िले की ओर बढ़ी चली आती है। चिन्ता चौंक पड़ी, रत्नसिंह खड़ा हो गया, और खूँटी से लटकती हुई तलवार उतार ली।

चिन्ता ने उसकी ओर कातर-स्नेह की दृष्टि से देखकर कहा—कुछ आदमियों को उधर भेज दो, तुम्हारे जाने की क्या ज़रूरत है?

रत्नसिंह ने बन्दूक कन्धे पर रखते हुए कहा—मुझे भय है कि अबकी वे लोग बड़ी संख्या में आ रहे हैं।

चिन्ता—तो मैं भी चलूँगी।

'नहीं, मुझे आशा है, वे लोग ठहर न सकेंगे। मैं एक ही धावे में उनके क़दम उखाड़ दूँगा। यह ईश्वर की इच्छा है कि हमारी प्रणय-रात्रि विजय-रात्रि हो!

'न-जाने क्यों मन कातर हो रहा है। जाने देने को जी नहीं चाहता!'

रत्नसिंह ने इस सरल, अनुरक्त आग्रह से विह्वल होकर चिन्ता को गले लगा लिया और बोले—मैं सबेरे तक लौट आऊँगा, प्रिये!

चिन्ता पति के गले में हाथ डालकर आँखों में आँसू भरे हुए बोली—मुझे भय है, तुम बहुत दिनों में लौटोगे। मेरा मन तुम्हारे साथ रहेगा। जाओ, पर रोज़ खबर भेजते रहना। तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, अवसर का विचार करके धावा करना। तुम्हारी आदत है कि शत्रु देखते ही आकुल हो जाते हो, और जान पर खेलकर टूट पड़ते हो। तुमसे मेरा यही अनुरोध है कि अवसर देखकर काम करना। जाओ, जिस तरह पीठ दिखाते हो, उसी तरह मुँह दिखाओ।

चिन्ता का हृदय कातर हो रहा था। वहाँ पहले केवल विजय-लालसा का आधिपत्य था, अब भोग लालसा की प्रधानता थी। वही वीर बाला, जो सिंहिनी की तरह गरजकर शत्रुओं के कलेजे कँपा देती थी, आज इतनी दुर्बल हो रही थी कि जब रत्नसिंह घोड़े पर सवार हुआ, तो आप उसकी कुशल-कामना से मन-ही-मन देवी की मनौतियाँ कर रही थी। जब तक वह वृक्षों की ओट में छिप न गया, वह खड़ी उसे देखती रही, फिर वह किले के सबसे ऊँचे बुर्ज पर चढ गई, और घंटों उसी तरफ ताकती रही। वहाँ शून्य था, पहाड़ियों ने कभी का रत्नसिंह को अपनी ओट में छिपा लिया था; पर चिन्ता को ऐसा जान पड़ता था कि वह सामने चले जा रहे हैं। जब ऊषा की लोहित छवि वृक्षों की आड़ से झाँकने लगी, तो उसकी मोह-विस्मृति टूट गई। मालूम हुआ, चारों ओर शून्य है। वह रोती हुई बुर्ज़ से उतरी, और शय्या पर मुँह ढाँपकर रोने लगी।

(६)

रत्नसिंह के साथ मुशकिल से सौ आदमी थे, किन्तु सभी मँजे हुए, अवसर और सख्या को तुच्छ समझनेवाले, अपनी जान के दुश्मन! वे वीरोल्लास से भरे हुए एक वीर-रस-पूर्ण पद गाते हुए घोड़ों को बढाये चले जाते थे—

'बाँकी तेरी पाग सिपाही, इसकी रखना लाज।
तेग-तबर कुछ काम न आवे, बखतर-ढाल व्यर्थ हो जावे।
रखियो मन में लाग, सिपाही बाँकी तेरी पाग।
इसकी रखना लाज।'

पहाड़ियाँ इन वीर-स्वरों से गूँज रही थीं। घोड़ों की टाप ताल दे रही थी। यहाँ तक कि रात बीत गई, सूर्य ने अपनी लाल आँखें खोल दीं और इन वीरों पर अपनी स्वर्णच्छटा की वर्षा करने लगा।

वहीं रक्तमय प्रकाश में शत्रुओं की सेना एक पहाड़ी पर पड़ाव डाले हुए नज़र आई।

रत्नसिंह सिर झुकाये, वियोग-व्यथित हृदय को दबाये, मन्द गति से पीछे-पीछे चला आता था। क़दम आगे बढ़ता था; पर मन पीछे हटता था। आज जीवन में पहली बार दुश्चिन्ताओं ने उसे आशङ्कित कर रखा था। कौन जानता है, लड़ाई का अन्त क्या होगा! जिस स्वर्ग-सुख को छोड़कर वह आया था, उसकी स्मृतियाँ रह-रहकर उसके हृदय को ममोस रही थीं। चिन्ता की सजल आँखें याद आती थीं, और जी चाहता था, घोड़े की रास पीछे मोड़ दें। प्रतिक्षण रणोत्साह क्षीण होता जाता था, सहसा एक सरदार ने समीप आकर कहा—भैया, वह देखो, ऊँची पहाड़ी पर शत्रु डेरे डाले पड़ा है। तुम्हारी अब क्या राय है? हमारी तो यह इच्छा है कि तुरन्त उन पर धावा कर दें। गाफिल पड़े हुए हैं, भाग खड़े होंगे। देर करने से वे भी सँभल जायँगे, और तब मामला नाजुक हो जायगा। एक हजार से कम न होंगे।

रत्नसिंह ने चिन्तित नेत्रों से शत्रु-दल की ओर देखकर कहा—हाँ, मालूम तो होता है।

सिपाही—तो धावा कर दिया जाय न?

रत्न०—जैसी तुम्हारी इच्छा। सख्या अधिक है, यह सोच लो।

सिपाही—इसकी परवाह नहीं। हम इससे बड़ी सेनाओं को परास्त कर चुके हैं।

रत्न०—यह सच है; पर आग में कूदना ठीक नहीं।

सिपाही—भैया, तुम कहते क्या हो? सिपाही का तो जीवन ही आग में कूदने के लिए है। तुम्हारे हुक्म की देर है, फिर हमारा जीवट देखना।

रत्न०—अभी हम लोग बहुत थके हुए हैं। ज़रा विश्राम कर लेना अच्छा है।

चिन्ता सिर पकड़कर भूमि पर बैठ गई। सैनिक ने फिर कहा—मरहठे समीप आ पहुँचे।

'समीप आ पहुँचे !!'

'बहुत समीप !'

'तो तुरत चिता तैयार करो। समय नहीं है।'

'अभी हम लोग तो सिर कटाने को हाज़िर ही हैं।'

'तुम्हारी जैसी इच्छा। मेरे कर्तव्य का तो यहीं अन्त है।'

'किला बन्द करके हम महीनों लड़ सकते हैं।'

'तो आकर लड़ो। मेरी लड़ाई अब किसी से नहीं।'

एक ओर अन्धकार प्रकाश को पैरों-तले कुचलता चला आता था, दूसरी ओर विजयी मरहठे लहराते हुए खेतों को ; और क़िले में चिता बन रही थी। ज्योंही दीपक जले, चिता में भी आग लगी। सती चिन्ता, सोलहों शृङ्गार किये, अनुपम छवि दिखाती हुई, प्रसन्न-मुख अग्नि-मार्ग से पतिलोक की यात्रा करने जा रही थी।

(८)

चिता के चारों ओर स्त्री और पुरुष जमा थे। शत्रुओं ने क़िले को घेर लिया है, इसकी किसी को फ़िक्र न थी। शोक और संताप से सबके चेहरे उदास और सिर झुके हुए थे। अभी कल इसी आँगन में विवाह का मडप सजाया गया था। जहाँ इस समय चिता सुलग रही है, वहीं कल हवनकुण्ड था। कल भी इसी भाँति अग्नि की लपटें उठ रही थीं, इसी भाँति लोग जमा थे ; पर आज और कल के दृश्यों में कितना अन्तर है ! हाँ, स्थूल नेत्रों के लिए अन्तर हो सकता है ; पर वास्तव में यह उसी यज्ञ की पूर्णाहुति है, उसी प्रतिज्ञा का पालन है।

सहसा घोड़े की टापों की आवाज़ें सुनाई देने लगीं। मालूम होता था, कोई सिपाही घोड़े को सरपट भगाता चला आ रहा है। एक क्षण में टापों की आवाज़ बन्द हो गई, और एक सैनिक आँगन में दौड़ा हुआ आ पहुँचा। लोगों ने चकित होकर देखा, यह रत्नसिंह था !

रत्नसिंह चिता के पास जाकर हाँफता हुआ बोला—प्रिये, मैं तो अभी जीवित हूँ, यह तुमने क्या कर डाला !

चिता में आग लग चुकी थी ! चिन्ता की साड़ी से अग्नि की ज्वाला निकल रही

थी। रत्नसिंह उन्मत्त की भाँति चिता में घुस गया, और चिन्ता का हाथ पकड़कर उठाने लगा। लोगों ने चारों ओर से लपक-लपककर चिता की लकड़ियाँ हटानी शुरू कीं, पर चिन्ता ने पति की ओर आँख उठाकर भी न देखा, केवल हाथों से उसे हट जाने का संकेत किया।

रत्नसिंह सिर पीटकर बोला—हाय प्रिये, तुम्हें क्या हो गया है, मेरी ओर देखती क्यों नहीं, मैं तो जीवित हूँ।

चिता से आवाज़ आई—तुम्हारा नाम रत्नसिंह है; पर तुम मेरे रत्नसिंह नहीं हो।

'तुम मेरी तरफ देखो तो, मैं ही तुम्हारा दास, तुम्हारा उपासक, तुम्हारा पति हूँ।'

'मेरे पति ने वीर-गति पाई।'

'हाय! कैसे समझाऊँ! अरे लोगो, किसी भाँति अग्नि को शांत करो। मैं रत्न-सिंह ही हूँ, प्रिये! क्या तुम मुझे पहचानती नहीं हो?'

अग्नि-शिखा चिन्ता के मुख तक पहुँच गई। अग्नि में कमल खिल गया। चिन्ता स्पष्ट स्वर में बोली—खूब पहचानती हूँ। तुम मेरे रत्नसिंह नहीं। मेरा रत्नसिंह सच्चा शूर था। वह आत्मरक्षा के लिए, इस तुच्छ देह को बचाने के लिए, अपने क्षत्रिय-धर्म का परित्याग न कर सकता था। मैं जिस पुरुष के चरणों की दासी बनी थी, वह देवलोक में विराजमान है। रत्नसिंह को बदनाम मत करो। वह वीर राजपूत था, रणक्षेत्र से भागनेवाला कायर नहीं।

अन्तिम शब्द निकले ही थे कि अग्नि की ज्वाला चिन्ता के सिर के ऊपर जा पहुँची। फिर एक क्षण में वह अनुपम रूप-राशि, वह आदर्श वीरता की उपासिका, वह सच्ची सती अग्नि-राशि में विलीन हो गई।

रत्नसिंह चुपचाप, हतबुद्धि-सा खड़ा यह शोकमय दृश्य देखता रहा। फिर अचा-नक एक ठण्डी साँस खींचकर उसी चिता में कूद पड़ा।

हिंसा परमो धर्मः

दुनिया में कुछ ऐसे लोग भी होते हैं, जो किसी के नौकर न होते हुए सबके नौकर होते हैं। जिन्हें कुछ अपना खास काम न होने पर भी सिर उठाने की फ़ुरसत नहीं होती। जामिद इसी श्रेणी के मनुष्यों में था। बिलकुल बेफ़िक्र, न किसी से दोस्ती, न किसी से दुश्मनी। जो ज़रा हँसकर बोला, उसका बे-दाम का ग़ुलाम हो गया। बेकाम का काम करने में उसे मज़ा आता था। गाँव में कोई बीमार पड़े, वह रोगी की सेवा-शुश्रूषा के लिए हाज़िर है। कहिए, तो आधीरात को हकीम के घर चला जाय, किसी जड़ी-बूटी की तलाश में मंज़िलों की खाक छान आये। मुमकिन न था कि किसी ग़रीब पर अत्याचार होते देखे और चुप रह जाय। फिर चाहे कोई उसे मार ही डाले, वह हिमायत करने से बाज़ न आता था। ऐसे सैकड़ों ही मौके उसके सामने आ चुके थे। कांस्टेबिलों से आये दिन उसकी छेड़-छाड़ होती ही रहती थी। इसी लिए लोग उसे बौड़म समझते थे। और बात भी यही थी। जो आदमी किसी का बोझ भारी देखकर, उससे छीनकर, अपने सिर पर ले ले, किसी का छप्पर उठाने या आग बुझाने के लिए कोसों दौड़ा चला जाय, उसे समझदार कौन कहेगा? साराश यह कि उसकी ज़ात से दूसरों को चाहे कितना ही फायदा पहुँचे, अपना कोई उपकार न होता था, यहाँ तक कि वह रोटियों के लिए भी दूसरों का मुहताज था। दीवाना तो वह था, और उसका ग़म दूसरे खाते थे।

(२)

आखिर जब लोगों ने बहुत धिक्कारा—क्यों अपना जीवन नष्ट कर रहे हो, तुम दूसरों के लिए मरते हो, कोई तुम्हारा भी पूछनेवाला है? अगर एक दिन बीमार पड़ जाओ, तो कोई चुल्लू-भर पानी न दे, जब तक दूसरों की सेवा करते हो, लोग खैरात समझकर खाने को दे देते हैं, जिस दिन आ पड़ेगी, कोई सीधे मुँह बात भी न करेगा, तब जामिद की आँखें खुलीं। बरतन-भाँड़ा कुछ था ही नहीं।

एक दिन उठा, और एक तरफ की राह ली। दो दिन के बाद एक शहर में जा पहुँचा। शहर बहुत बड़ा था। महल आसमान से बातें करनेवाले। सड़कें चौड़ी और साफ। बाज़ार गुलज़ार, मसजिदों और मन्दिरों की सख्या अगर मकानों से अधिक न थी, तो कम भी नहीं। देहात में न तो कोई मसजिद थी, न कोई मन्दिर। मुसल्मान लोग एक चबूतरे पर नमाज़ पढ़ लेते थे। हिन्दू एक वृक्ष के नीचे पानी चढा दिया करते थे, नगर में धर्म का यह माहात्म्य देखकर जामिद को बड़ा कुतूहल और आनन्द हुआ। उसकी दृष्टि में मज़हब का जितना सम्मान था, उतना और किसी सासारिक वस्तु का नहीं। वह सोचने लगा—ये लोग कितने ईमान के पक्के, कितने सत्यवादी हैं। इनमें कितनी दया, कितना विवेक, कितनी सहानुभूति होगी, तभी तो खुदा ने इन्हें इतना माना है। वह हर आने-जानेवाले को श्रद्धा की दृष्टि से देखता और उसके सामने विनय से सिर झुकाता था। यहाँ के सभी प्राणी उसे देवता-तुल्य मालूम होते थे।

घूमते-घूमते साँझ हो गई। वह थककर एक मन्दिर के चबूतरे पर जा बैठा। मदिर बहुत बड़ा था, ऊपर सुनहला कलश चमक रहा था। जगमोहन पर सगमरमर के चौके जड़े हुए थे, मगर आँगन में जगह-जगह गोबर और कूड़ा पड़ा था। जामिद को गंदगी से चिढ़ थी, देवालय की यह दशा देखकर उससे न रहा गया, इधर-उधर निगाह दौड़ाई कि कहीं झाड़ू मिल जाय, तो साफ कर दूँ, पर झाड़ू कहीं नज़र न आई। विवश होकर उसने अपने दामन से चबूतरे को साफ करना शुरू कर दिया।

ज़रा देर में भक्तो का जमाव होने लगा। उन्होंने जामिद को चबूतरा साफ करते देखा, तो आपस में बातें करने लगे—

'है तो मुसल्मान!'

'मेहतर होगा।'

'नहीं, मेहतर अपने दामन से सफाई नहीं करता। कोई पागल मालूम होता है।'

'उधर का भेदिया न हो?'

'नहीं चेहरे से तो बड़ा ग़रीब मालूम होता है।'

'हसन निजामी का कोई मुरीद होगा।'

'अजी, गोबर के लालच से सफाई कर रहा है। कोई भठियारा होगा (जामिद से) गोबर न ले जाना बे, समझा? कहाँ रहता है?'

'परदेसी मुसाफिर हूँ, साहब ; मुझे गोबर लेकर क्या करना है। ठाकुरजी का मन्दिर देखा, तो आकर बैठ गया। कूड़ा पड़ा हुआ था। मैंने सोचा—धर्मात्मा लोग आते होंगे ; सफाई करने लगा।'

'तुम तो मुसलमान हो न ?'

'ठाकुरजी तो सबके ठाकुरजी हैं—क्या हिन्दू, क्या मुसलमान !'

'तुम ठाकुरजी को मानते हो ?'

'ठाकुरजी को कौन न मानेगा, साहब ? जिसने पैदा किया उसे न मानूँगा, तो किसे मानूँगा।'

भक्तों में सलाह होने लगी—

'देहाती है।'

'फाँस लेना चाहिए, जाने न पाये !'

(३)

जामिद फाँस लिया गया। उसका आदर-सत्कार होने लगा। एक हवादार मकान रहने को मिला। दोनों वक्त उत्तम पदार्थ खाने को मिलने लगे। दो-चार आदमी हर-दम उसे घेरे रहते। जामिद को भजन खूब याद थे। गला भी अच्छा था। वह रोज मन्दिर में जाकर कीर्तन करता। भक्ति के साथ स्वर-लालित्य भी हो, तो फिर क्या पूछना ? लोगों पर उसके कीर्तन का बड़ा असर पड़ता। कितने ही लोग संगीत के लोभ से ही मन्दिर में आने लगे। सबको विश्वास हो गया कि भगवान् ने यह शिकार चुनकर भेजा है।

एक दिन मन्दिर में बहुत-से आदमी जमा हुए। आँगन में फर्श बिछाया गया। जामिद का सिर मुड़ा दिया गया। नये कपड़े पहनाये गये। हवन हुआ। जामिद के हाथों से मिठाई बँटवाई गई। वह अपने आश्रय-दाताओं की उदारता और धर्मनिष्ठा का और भी कायल हो गया। ये लोग कितने सज्जन हैं, मुझ-जैसे फटे-हाल परदेसी की इतनी खातिर ! इसी को सच्चा धर्म कहते हैं। जामिद को जीवन में कभी इतना सम्मान न मिला था। यहाँ वही सैलानी युवक, जिसे लोग बौड़म कहते थे, भक्तों का सिरमौर बना हुआ था। सैकड़ों ही आदमी केवल इसके दर्शनों को आते थे। उसकी प्रकाण्ड विद्वत्ता की कितनी ही कथाएँ प्रचलित हो गईं। पत्रों में यह समाचार निकला कि एक बड़े आलिम मौलवी साहब

की शुद्धि हुई है। सीधा-सादा जामिद इस सम्मान का रहस्य कुछ न समझता था। ऐसे धर्मपरायण सहृदय प्राणियों के लिए वह क्या कुछ न करता ? वह नित्य पूजा करता, भजन गाता। उसके लिए यह कोई नई बात न थी। अपने गाँव मे भी वह बराबर सत्यनारायण की कथा मे बैठा करता था। भजन-कीर्तन किया करता था। अन्तर यही था कि देहात मे उसको क़द्र न थी। यहाँ सब उसके भक्त थे।

एक दिन जामिद कई भक्तों के साथ बैठा हुआ कोई पुराण पढ रहा था, तो क्या देखता है कि सामने सड़क पर एक बलिष्ठ युवक माथे पर तिलक लगाये, जनेऊ पहने, एक बूढ़े दुर्बल मनुष्य को मार रहा है। बुड्ढा रोता है, गिड़गिड़ाता है, और पैरों पड़-पड़के कहता है कि महाराज, मेरा कुसूर माफ करो, किन्तु तिलकधारी युवक को उस पर ज़रा भी दया नहीं आती। जामिद का रक्त खौल उठा। ऐसे दृश्य देखकर वह शात न बैठ सकता था। तुरन्त कूदकर बाहर निकला, और युवक के सामने आकर बोला—इस बुड्ढे को क्यों मारते हो, भाई ? तुम्हें इस पर जरा भी दया नहीं आती ?

युवक—मैं मारते-मारते इसकी हड्डियाँ तोड़ दूँगा।

जामिद—आखिर इसने क्या कुसूर किया है ? कुछ मालूम तो हो।

युवक—इसकी मुर्गी हमारे घर मे घुस गई थी, और सारा घर गन्दा कर आई ?

जामिद—तो क्या इसने मुर्गी को सिखा दिया था कि तुम्हारा घर गन्दा कर आये ?

बुड्ढा—खुदावन्द, मैं तो उसे बराबर खाँचे में ढाके रहता हूँ। आज ग़फलत हो गई। कहता हूँ, महाराज, कुसूर माफ करो, मगर नहीं मानते। हुज़ूर, मारते-मारते अधमरा कर दिया।

युवक—अभी नहीं मारा है, अब मारूँगा—खोदकर गाड़ दूँगा।

जामिद—खोदकर गाड़ दोगे भाई साहब, तो तुम भी यों न खड़े रहोगे। समझ गये ? अगर फिर हाथ उठाया, तो अच्छा न होगा।

जवान को अपनी ताक़त का नशा था। उसने फिर बुड्ढे को चाँटा लगाया, पर चाँटा पड़ने के पहले ही जामिद ने उसकी गर्दन पकड़ ली। दोनों मे मल्लयुद्ध होने लगा। जामिद करारा जवान था। युवक को पटकनी दी, तो चारों खाने चित्त गिर गया। उसका गिरना था कि भक्तों का समुदाय, जो अब तक मन्दिर मे बैठा

तमाशा देख रहा था, लपक पड़ा और जामिद पर चारों तरफ से चोटें पड़ने लगीं। जामिद की समझ में न आता था कि लोग मुझे क्यों मार रहे हैं। कोई कुछ नहीं पूछता। तिलकधारी जवान को कोई कुछ नहीं कहता। बस, जो आता है, मुझी पर हाथ साफ करता है। आखिर वह बेदम होकर गिर पड़ा। तब लोगों में बातें होने लगीं।

'दगा दे गया!'

'धत् तेरी ज़ात की! कभी म्लेच्छों से भलाई की आशा न रखनी चाहिए। कौआ कौओं ही के साथ मिलेगा। कमीना जब करेगा, कमीनापन। इसे कोई पूछता न था, मन्दिर में झाड़ू लगा रहा था। देह पर कपड़े का तार भी न था, हमने इसका सम्मान किया, पशु से आदमी बना दिया, फिर भी अपना न हुआ!'

'इनके धर्म का तो मूल ही यही है!'

जामिद रात-भर सड़क के किनारे पड़ा दर्द से कराहता रहा, उसे मार खाने का दुःख न था। ऐसी यातनाएँ वह कितनी बार भोग चुका था। उसे दुःख और आश्चर्य केवल इस बात का था कि इन लोगों ने क्यों एक दिन मेरा इतना सम्मान किया, और क्यों आज अकारण ही मेरी इतनी दुर्गति की? इनकी वह सज्जनता आज कहाँ गई? मैं तो वही हूँ। मैंने कोई कुसूर भी नहीं किया। मैंने तो वही किया, जो ऐसी दशा में सभी को करना चाहिए। फिर इन लोगों ने मुझ पर क्यों इतना अत्याचार किया? देवता क्यों राक्षस बन गये?

वह रात भर इसी उलझन में पड़ा रहा। प्रातःकाल उठकर एक तरफ की राह ली।

(४)

जामिद अभी थोड़ी ही दूर गया था कि वही बुड्ढा उसे मिला। उसे देखते ही वह बोला—कसम खुदा की, तुमने कल मेरी जान बचा दी। सुना, जालिमों ने तुम्हें बुरी तरह पीटा। मैं तो मौका पाते ही निकल भागा। अब तक कहाँ थे? यहाँ लोग रात ही से तुमसे मिलने के लिए बेक़रार हो रहे हैं। क़ाज़ी साहब रात ही से तुम्हारी तलाश में निकले थे, मगर तुम न मिले। कल हम दोनों अकेले पड़ गये थे। दुश्मनों ने हमें पीट लिया। नमाज़ का वक्त था, यहाँ सब लोग मसजिद में थे, अगर ज़रा भी खबर हो जाती, तो एक हजार लठैत पहुँच जाते। तब आटे-दाल का

भाव मालूम होता। क़सम खुदा की, आज से मैंने तीन कोरी मुर्गियाँ पाली हैं! देखूँ, पण्डितजी महाराज अब क्या करते हैं। क़सम खुदा की, काज़ी साहब ने कहा है, अगर वह लौंडा ज़रा भी आँख दिखाये, तो तुम आकर मुझसे कहना। या तो बचा घर छोड़कर भागेंगे, या हड्डी-पसली तोड़कर रख दी जायगी।

जामिद को लिये वह बुड्ढा क़ाज़ी जोरावरहुसैन के दरवाजे पर पहुँचा। काज़ी साहब वज़ू कर रहे थे। जामिद को देखते ही दौड़कर गले लगा लिया और बोले—वल्लाह! तुम्हें आँखें ढूँढ़ रही थीं। तुमने अकेले इतने काफ़िरों के दाँत खट्टे कर दिये! क्यों न हो, मोमिन का खून है! काफ़िरों की हक़ीकत क्या! सुना, सब-के-सब तुम्हारी शुद्धि करने जा रहे थे, मगर तुमने उनके सारे मनसूबे पलट दिये। इस्लाम को ऐसे ही खादिमों की ज़रूरत है। तुम-जैसे दीनदारों से इस्लाम का नाम रोशन है। ग़लती यही हुई कि तुमने एक महीने-भर तक सब्र नहीं किया। शादी हो जाने देते, तब मज़ा आता। एक नाज़नीन साथ लाते, और दौलत मुफ्त। वल्लाह! तुमने उजलत कर दी।

दिन-भर भक्तों का ताँता लगा रहा। जामिद को एक नज़र देखने का सबको शौक था। सभी उसकी हिम्मत, ज़ोर और मज़हबी जोश की प्रशंसा करते थे।

(५)

पहर रात बीत चुकी थी। मुसाफ़िरों की आमदरफ्त कम हो चली थी। जामिद ने काज़ी साहब से धर्म-ग्रन्थ पढ़ना शुरू किया था। उन्होंने उसके लिए अपने बगल का कमरा खाली कर दिया था। वह क़ाज़ी साहब से सबक लेकर आया, और सोने जा रहा था कि सहसा उसे दरवाजे पर एक ताँगे के रुकने की आवाज़ सुनाई दी। क़ाज़ी साहब के मुरीद अक्सर आया करते थे। जामिद ने सोचा, कोई मुरीद आया होगा। नीचे आया, तो देखा—एक स्त्री ताँगे से उतरकर बरामदे में खड़ी है, और ताँगेवाला उसका असबाब उतार रहा है।

महिला ने मकान को इधर-उधर देखकर कहा—नहीं जी, मुझे अच्छी तरह खयाल है, यह उनका मकान नहीं है। शायद तुम भूल गये हो।

ताँगेवाला—हुज़ूर तो मानती ही नहीं। कह दिया कि बाबू साहब ने मकान तबदील कर दिया है। ऊपर चलिए।

स्त्री ने कुछ झिझकते हुए कहा—बुलाते क्यों नहीं? आवाज़ दो!

ताँगेवाले—ओ साहब, आवाज क्या दूँ, जब जानता हूँ कि साहब का मकान यही है, तो नाहक चिल्लाने से क्या फायदा? बेचारे आराम कर रहे होंगे। आराम में खलल पड़ेगा। आप निसाखातिर रहिए। चलिए, ऊपर चलिए।

औरत ऊपर चली। पीछे-पीछे ताँगेवाला असबाब लिये हुए चला। जामिद गुम-सुम नीचे खड़ा रहा। यह रहस्य उसकी समझ में न आया।

ताँगेवाले की आवाज़ सुनते ही काज़ी साहब छत पर निकल आये, और एक औरत को आते देख कमरे की खिड़कियाँ चारों तरफ से बन्द करके खूँटी पर लट-कती तलवार उतार ली, और दरवाजे पर आकर खड़े हो गये।

औरत ने ज़ीना तय करके ज्योंही छत पर पैर रखा कि काजी साहब को देख-कर झिझकी। वह तुरन्त पीछे की तरफ मुड़ना चाहती थी कि क़ाज़ी साहब ने लपककर उसका हाथ पकड़ लिया, और अपने कमरे में घसीट लाये। इसी बीच में जामिद और ताँगेवाला, ये दोनों भी ऊपर आ गये थे। जामिद यह दृश्य देखकर विस्मित हो गया था। यह रहस्य और भी रहस्यमय हो गया था। यह विद्या का सागर, यह न्याय का भाडार, यह नीति, धर्म और दर्शन का आगार, इस समय एक अपरिचित महिला के ऊपर यह घोर अत्याचार कर रहा है। ताँगेवाले के साथ वह भी क़ाज़ी साहब के कमरे में चला गया। क़ाज़ी साहब तो स्त्री के दोनों हाथ पकड़े हुए थे। ताँगेवाले ने दरवाजा बन्द कर दिया।

महिला ने ताँगेवाले की ओर खून-भरी आँखों से देखकर कहा—तू मुझे यहाँ क्यों लाया?

क़ाज़ी साहब ने तलवार चमकाकर कहा—पहले आराम से बैठ जाओ, सब कुछ मालूम हो जायगा।

औरत—तुम तो मुझे कोई मौलवी मालूम होते हो? क्या तुम्हें खुदा ने यही सिखाया है कि पराई बहू-बेटियों को जबरदस्ती घर में बन्द करके उनकी आबरू बिगाड़ो?

काज़ी—हाँ, खुदा का यही हुक्म है कि काफिरों को जिस तरह मुमकिन हो, इस्लाम के रास्ते पर लाया जाय। अगर खुशी से न आयें, तो जब्र से।

औरत—इसी तरह अगर कोई तुम्हारी बहू-बेटी पकड़कर बे-आबरू करे, तो?

क़ाज़ी—हो ही रहा है। जैसा तुम हमारे साथ करोगे, वैसा ही हम तुम्हारे

साथ करेंगे। फिर हम तो बे-आबरू नहीं करते, सिर्फ अपने मज़हब में शामिल करते हैं। इस्लाम कबूल करने से आबरू बढ़ती है, घटती नहीं। हिन्दू कौम ने तो हमें मिटा देने का बीड़ा उठाया है। वह इस मुल्क से हमारा निशान मिटा देना चाहती है। धोखे से, लालच से, जब्र से मुसलमानों को बेदीन बनाया जा रहा है, तो क्या मुसल्मान बैठे मुँह ताकेंगे ?

औरत—हिन्दू कभी ऐसा अत्याचार नहीं कर सकता। सम्भव है, तुम लोगों की शरारतों से तंग आकर नीचे दर्जे के लोग इस तरह बदला लेने लगे हों, मगर अब भी कोई सच्चा हिन्दू इसे पसन्द नहीं करता।

क़ाज़ी साहब ने कुछ सोचकर कहा—बेशक, पहले इस तरह की शरारतें मुसल-मान शोहदे किया करते थे। मगर शरीफ लोग इन हरकतों को बुरा समझते थे, और अपने इमकान-भर रोकने की कोशिश करते थे। तालीम और तहजीब की तरक्की के साथ कुछ दिनों में यह गुण्डापन जरूर गायब हो जाता; मगर अब तो सारी हिन्दू कौम हमें निगलने के लिए तैयार बैठी हुई है। फिर हमारे लिए और रास्ता ही कौन-सा है। हम कमजोर हैं, इसलिए हमें मज़बूर होकर अपने को क़ायम रखने के लिए दग़ा से काम लेना पड़ता है, मगर तुम इतना घबराती क्यों हो ? तुम्हें यहाँ किसी बात की तकलीफ न होगी। इसलाम औरतों के हक़ का जितना लिहाज करता है, उतना और कोइ मज़हब नहीं करता। और मुसल्मान मर्द तो अपनी औरत पर जान देता है। मेरे यह नौजवान दोस्त (जामिद) तुम्हारे सामने खड़े हैं, इन्हीं के साथ तुम्हारा निकाह कर दिया जायगा। बस, आराम से ज़िन्दगी के दिन बसर करना।

औरत—मैं तुम्हें और तुम्हारे धर्म को घृणित समझती हूँ। तुम कुत्ते हो। इसके सिवा तुम्हारे लिए कोई दूसरा नाम नहीं। खैरियत इसी में है कि मुझे जाने दो, नहीं तो मैं अभी शोर मचा दूँगी, और तुम्हारा सारा मौलवीपन निकल जायगा।

क़ाज़ी - अगर तुमने ज़बान खोली, तो तुम्हें जान से हाथ धोना पड़ेगा। बस, इतना समझ लो।

औरत—आबरू के सामने जान की कोई हकीकत नहीं। तुम मेरी जान ले सकते हो, मगर आबरू नहीं ले सकते।

क़ाज़ी—क्यों नाहक ज़िद करती हो ?

औरत ने दरवाजे के पास जाकर कहा—मैं कहती हूँ, दरवाज़ा खोल दो।

जामिद अब तक चुपचाप खड़ा था। ज्योंही स्त्री दरवाजे की तरफ चली, और क़ाज़ी साहब ने उसका हाथ पकड़कर खींचा, जामिद ने तुरन्त दरवाज़ा खोल दिया, और काजी साहब से बोला—इन्हें छोड़ दीजिए।

काजी—क्या बकता है?

जामिद—कुछ नहीं। खैरियत इसी मे है कि इन्हें छोड़ दीजिए।

लेकिन जब काजी साहब ने उस महिला का हाथ न छोड़ा, और ताँगेवाला भी उसे पकड़ने के लिए बढा, तो जामिद ने एक धक्का देकर क़ाज़ी साहब को धकेल दिया। और उस स्त्री का हाथ पकड़े हुए कमरे से बाहर निकल गया। ताँगेवाला पीछे लपका, मगर जामिद ने उसे इतने ज़ोर से धक्का दिया कि वह औंधे-मुँह जा गिरा। एक क्षण में जामिद और स्त्री, दोनों सड़क पर थे।

जामिद—आपका घर किस मुहल्ले में है?

औरत—अहियागज में।

जामिद—चलिए, मैं आपको पहुँचा आऊँ।

औरत—इससे बड़ी और क्या मेहरबानी होगी। मैं आपकी इस नेकी को कभी न भूलूँगी। आपने आज मेरी आबरू बचा ली, नहीं तो मैं कहीं की न रहती। मुझे अब मालूम हुआ कि अच्छे और बुरे सब जगह होते हैं। मेरे शौहर का नाम पण्डित राजकुमार है।

उसी वक्त एक ताँगा सड़क पर आता दिखाई दिया। जामिद ने स्त्री को उसपर बिठा दिया, और खुद बैठना ही चाहता था कि ऊपर से क़ाज़ी साहब ने जामिद पर लट्ठ चलाया और डंडा ताँगे से टकराया। जामिद ताँगे में आ बैठा और ताँगा चल दिया।

अहियागज में पण्डित राजकुमार का पता लगाने में कोई कठिनाई न पड़ी। जामिद ने ज्योंही आवाज़ दी, वह घबराये हुए बाहर निकल आये, और स्त्री को देखकर बोले—तुम कहाँ रह गई थीं, इन्दिरा? मैंने तो तुम्हे स्टेशन पर कहीं न देखा। मुझे पहुँचने में ज़रा देर हो गई थी। तुम्हें इतनी देर कहाँ लगी?

इन्दिरा ने घर के अन्दर क़दम रखते हुए कहा—बड़ी लम्बी कथा है, ज़रा दम ले लेने दो, तो बता दूँगी। बस, इतना ही समझ लो कि आज अगर इस मुसलमान ने मेरी मदद न की होती, तो आबरू चली गई थी।

पण्डितजी पूरी कथा सुनने के लिए और भी व्याकुल हो उठे। इन्दिरा के साथ ही वह भी घर में चले गये, पर एक ही मिनट के बाद बाहर आकर जामिद से बोले—भाई साहब, शायद आप बनावट समझें, पर मुझे आपके रूप में इस समय अपने इष्टदेव के दर्शन हो रहे हैं। मेरी जबान मे इतनी ताकत नहीं कि आपका शुक्रिया अदा कर सकूँ। आइए, बैठ जाइए।

जामिद—जी नहीं, अब मुझे इजाज़त दीजिए।

पण्डित – मैं आपकी इस नेकी का क्या बदला दे सकता हूँ!

जामिद—इसका बदला यही है कि इस शरारत का बदला किसी गरीब मुसलमान से न लीजिएगा, मेरी आपसे यही दरख्वास्त है।

यह कहकर जामिद चल खड़ा हुआ, और उस अँधेरी रात के सन्नाटे में शहर के बाहर निकल गया। उस शहर की विषाक्त वायु मे साँस लेते हुए उसका दम घुटता था। वह जल्द-से-जल्द शहर से भागकर अपने गाँव मे पहुँचना चाहता था, जहाँ मज़हब का नाम सहानुभूति, प्रेम और सौहार्द था। धर्म और धार्मिक लोगों से उसे घृणा हो गई थी।

———

बहिष्कार

पण्डित ज्ञानचन्द्र ने गोविन्दी की ओर सतृष्ण नेत्रों से देखकर कहा—मुझे ऐसे निर्दयी प्राणियों से ज़रा भी सहानुभूति नहीं है। इस बर्बरता की भी कोई हद है कि जिसके साथ तीन वर्ष तक जीवन के सुख भोगे, उसे एक ज़रा-सी बात पर घर से निकाल दिया।

गोविन्दी ने आँखें नीची करके पूछा—आखिर बात क्या हुई थी?

ज्ञान०—कुछ भी नहीं। ऐसी बातों में कोई बात होती है! शिकायत है कि कालिन्दी ज़बान की तेज़ है। तीन साल तक ज़बान की तेज न थी, आज जबान की तेज़ हो गई। कुछ नहीं, कोई दूसरी चिड़िया नज़र आई होगी। उसके लिए पिंजरे को खाली करना आवश्यक था। बस, यह शिकायत निकल आई। मेरा बस चले तो ऐसे दुष्टों को गोली मार दूँ। मुझे कई बार कालिन्दी से बातचीत करने का अवसर मिला है। मैंने ऐसी हँसमुख दूसरी स्त्री ही नहीं देखी।

गोविन्दी—तुमने सोमदत्त को समझाया नहीं?

ज्ञान०—ऐसे लोग समझाने से नहीं मानते। यह लात का आदमी है, बातों की उसे क्या परवा? मेरा तो यह विचार है कि जिससे एक बार सम्बन्ध हो गया, फिर चाहे वह अच्छी हो या बुरी, उसके साथ जीवन-भर निर्वाह करना चाहिए। मैं तो कहता हूँ, अगर स्त्री के कुल में कोई दोष भी निकल आये, तो क्षमा से काम लेना चाहिए।

गोविन्दी ने कातर नेत्रों से देखकर कहा—ऐसे आदमी तो बहुत कम होते हैं।

ज्ञान०—समझ ही में नहीं आता कि जिसके साथ इतना दिन हँसे-बोले, जिसके प्रेम की स्मृतियाँ हृदय के एक-एक अणु मे समाई हुई हैं, उसे दर-दर ठोकरें खाने को कैसे छोड़ दिया। कम-से-कम इतना तो करना चाहिए था कि उसे किसी सुरक्षित स्थान पर पहुँचा देते और उसके निर्वाह का कोई प्रबन्ध कर देते। निर्दयी

ने इस तरह घर से निकाला, जैसे कोई कुत्ते को निकाले। बेचारी गाँव के बाहर बैठी रो रही है। कौन कह सकता है, कहाँ जायगी। शायद मायके में भी कोई नहीं रहा। सोमदत्त के डर के मारे गाँव का कोई आदमी उसके पास भी नहीं जाता। ऐसे बगगड़ का क्या ठिकाना! जो आदमी स्त्री का न हुआ, वह दूसरे का क्या होगा। उसकी दशा देखकर मेरी आँखों में तो आँसू भर आये। जी में तो आया, कहूँ—बहन, तुम मेरे घर चलो, मगर तब तो सोमदत्त मेरे प्राणों का गाहक हो जाता।

गोविन्दी—तुम ज़रा जाकर एक बार फिर समझाओ। अगर वह किसी तरह न माने, तो कालिन्दी को लेते आना।

ज्ञान०—जाऊँ?

गोविन्दी—हाँ, अवश्य जाओ, अगर सोमदत्त कुछ खरी-खोटी भी कहे, तो सुन लेना।

ज्ञानचन्द्र ने गोविन्दी को गले लगाकर कहा—तुम्हारे हृदय में बड़ी दया है गोविन्दी! लो जाता हूँ, अगर सोमदत्त न माना, तो कालिन्दी ही को लेता आऊँगा। अभी बहुत दूर न गई होगी।

(२)

तीन वर्ष बीत गये। गोविन्दी एक बच्चे की माँ हो गई। कालिन्दी अब तक इसी घर में है। उसके पति ने दूसरा विवाह कर लिया है। गोविन्दी और कालिन्दी में बहनों का-सा प्रेम है। गोविन्दी सदैव उसकी दिलजोई करती रहती है। वह इसकी कल्पना भी नहीं करती कि यह कोई ग़ैर है और मेरे घर पर पड़ी हुई है; लेकिन सोमदत्त को कालिन्दी का यहाँ रहना एक आँख नहीं भाता। वह कोई क़ानूनी कारर्वाई करने की तो हिम्मत नहीं रखता। और इस परिस्थिति में कर ही क्या सकता है, लेकिन ज्ञानचन्द्र का सिर नीचा करने के लिए अवसर खोजता रहता है।

सन्ध्या का समय था। ग्रीष्म की उष्ण वायु अभी तक बिलकुल शान्त नहीं हुई थी। गोविन्दी गङ्गा-जल भरने गई थी। और जलतट की शीतल निर्जनता का आनन्द उठा रही थी। सहसा उसे सोमदत्त आता हुआ दिखाई दिया। गोविन्दी ने आँचल से मुँह छिपा लिया और कलसा लेकर चलने ही को थी कि सोमदत्त ने सामने आकर कहा—ज़रा ठहरो गोविन्दी, तुमसे एक बात कहना है। पूछना चाहता हूँ कि तुमसे कहूँ या ज्ञानू से।

गोविन्दी ने धीरे से कहा - उन्हीं से कह दीजिए।

सोम०—जी तो मेरा भी यही चाहता है ; लेकिन तुम्हारी दीनता पर दया आती है। जिस दिन मैं ज्ञानचन्द्र से वह बात कह दूँगा, तुम्हे इस घर से निकलना पड़ेगा। मैंने सारी बातो का पता लगा लिया है। तुम्हारा बाप कौन था, तुम्हारी मा की क्या दशा हुई, यह सारी कथा जानता हूँ। क्या तुम समझती हो कि ज्ञानचन्द्र यह कथा सुनकर तुम्हे अपने घर में रखेगा ? उसके विचार कितने ही स्वाधीन हों, पर जीती मक्खी नहीं निगल सकता।

गोविन्दी ने थरथर काँपते हुए कहा--जब आप सारी बातें जानते हैं, तो मैं क्या कहूँ ? आप जैसा उचित समझें, करें, लेकिन मैंने तो आपके साथ कभी कोई बुराई नहीं की।

सोम०---तुम लोगो ने गाँव में मुझे कहीं मुँह दिखाने के योग्य नहीं रखा। तिस पर कहती हो, मैंने तुम्हारे साथ कोई बुराई नहीं की ! तीन साल से कालिन्दी को आश्रय देकर तुमने मेरी आत्मा को जो कष्ट पहुँचाया है, वह मैं ही जानता हूँ। तीन साल से मैं ऐसी फिक्र में था कि कैसे इस अपमान का दण्ड दूँ। अब वह अवसर पाकर उसे किसी तरह नही छोड़ सकता।

गोविन्दी – अगर आपकी यही इच्छा है कि मैं यहाँ न रहूँ, तो मैं चली जाऊँगी, आज ही चली जाऊँगी, लेकिन उनसे आप कुछ न कहिए। आपके पैरों पड़ती हूँ।

सोम०—कहाँ चली जाओगी ?

गोविन्दी—और कहीं ठिकाना नहीं है, तो गङ्गाजी तो हैं।

सोम०— नही गोविन्दी, मैं इतना निर्दयी नहीं हूँ। मैं केवल इतना चाहता हूँ कि तुम कालिन्दी को अपने घर से निकाल दो और मैं कुछ नही चाहता। तीन दिन का समय देता हूँ, खूब सोच-विचार लो। अगर कालिन्दी तीसरे दिन तुम्हारे घर से न निकली, तो तुम जानोगी।

सोमदत्त वहाँ से चला गया। गोविन्दी कलसा लिये मूर्ति की भाँति खड़ी रह गई। उसके सम्मुख कठिन समस्या आ खड़ी हुई थी, वह थी कालिन्दी ! घर में एक ही रह सकती थी। दोनों के लिए उस घर में स्थान न था। क्या कालिन्दी के लिए वह अपना घर, अपना स्वर्ग त्याग देगी ? कालिन्दी अकेली है, पति ने उसे

पहले ही छोड़ दिया है, वह जहाँ चाहे जा सकती है , पर वह अपने प्राणाधार और प्यारे बच्चे को छोड़कर कहाँ जायगी ?

लेकिन कालिन्दी से वह क्या कहेगी ? जिसके साथ इतने दिनों तक बहनों की तरह रही, उसे क्या वह अपने घर से निकाल देगी ? उसका बच्चा कालिन्दी से कितना हिला हुआ था, कालिन्दी उसे कितना चाहती थी। क्या उस परित्यक्ता दीना को वह अपने घर से निकाल देगी ? इसके सिवा और उपाय ही क्या था ? उसका जीवन अब एक स्वार्थी, दम्भी व्यक्ति की दया पर अवलम्बित था। क्या अपने पति के प्रेम पर वह भरोसा कर सकती थी ? ज्ञानचन्द्र सहृदय थे, उदार थे, विचारशील थे, दृढ थे , पर क्या उनका प्रेम अपमान, व्यग्य और बहिष्कार-जैसे आघातों को सहन कर सकता था ?

(३)

उसी दिन से गोविन्दी और कालिन्दी में कुछ पार्थक्या-सा दिखाई देने लगा। दोनों अब बहुत कम साथ बैठतीं। कालिन्दी पुकारती--बहन, आकर खाना खा लो। गोविन्दी कहती- तुम खा लो, मैं फिर खा लूँगी। पहले कालिन्दी बालक को सारे दिन खिलाया करती थी, मा के पास केवल दूध पीने जाता था। मगर अब गोविन्दी हरदम उसे अपने ही पास रखती है। दोनो के बीच मे कोई दीवार खड़ी हो गई है। कालिन्दी बारबार सोचती है, आजकल मुझसे यह क्यो रुठी हुई हैं। पर उसे कोई कारण नहीं दिखाई देता। उसे भय हो रहा है कि कदाचित् यह अब मुझे यहाँ नहीं रखना चाहतीं। इसी चिन्ता में वह गोते खाया करती है , किन्तु गोविन्दी भी उससे कम चिन्तित नहीं है। कालिन्दी से वह स्नेह तोड़ना चाहती है, पर उसकी म्लान मूर्ति देखकर उसके हृदय के टुकड़े हो जाते हैं। उससे कुछ कह नहीं सकती। अवहेलना के शब्द मुँह से नहीं निकलते। कदाचित् उसे घर से जाते देखकर वह रो पड़ेगी और उसे जबरदस्ती रोक लेगी। इसी हैस-बैस में तीन दिन गुज़र गये। कालिन्दी घर से न निकली। तीसरे दिन सध्या समय सोमदत्त नदी के तट पर बड़ी देर तक खड़ा रहा। अन्त को चारो ओर अँधेरा छा गया। फिर भी पीछे फिर-फिरकर जल-तट की ओर देखता जाता था !

रात के दस बज गये हैं। अभी ज्ञानचन्द्र घर नहीं आये। गोविन्दी घबरा रही

है। उन्हें इतनी देर तो कभी नहीं होती थी। आज इतनी देर कहाँ लगा रहे हैं ? शंका से उसका हृदय काँप रहा है।

सहसा मरदाने कमरे का द्वार खुलने की आवाज़ आई। गोविन्दी दौड़ी हुई बैठक में आई, लेकिन पति का मुख देखते ही उसकी सारी देह शिथिल पड़ गई। उस मुख पर हास्य था, पर उस हास्य में भाग्य-तिरस्कार झलक रहा था। विधि-वाम ने ऐसे सीधे-सादे मनुष्य को भी अपने क्रीड़ा-कौशल के लिए चुन लिया, क्या यह रहस्य रोने के योग्य था ? रहस्य रोने की वस्तु नहीं, हँसने ही की वस्तु है।

ज्ञानचन्द्र ने गोविन्दी की ओर नहीं देखा। कपड़े उतारकर सावधानी से अलगनी पर रखे, जूता उतारा और फर्श पर बैठकर एक पुस्तक के पन्ने उलटने लगे

गोविन्दी ने डरते-डरते कहा—आज इतनी देर कहाँ की। भोजन ठण्डा हो रहा है।

ज्ञानचन्द्र ने फर्श की ओर ताकते हुए कहा—तुम लोग भोजन कर लो, मैं एक मित्र के घर खा आया हूँ।

गोविन्दी इसका आशय समझ गई। एक क्षण के बाद फिर बोली—चलो, थोड़ा-सा ही खा लो।

ज्ञान०—अब बिलकुल भूख नहीं है।

गोविन्दी—तो मैं भी जाकर सो रहती हूँ।

ज्ञानचन्द्र ने अब गोविन्दी की ओर देखकर कहा—क्यों ? तुम क्यों न खाओगी ?

गोविन्दी—मैं तुम्हारी ही थाली का जूठन खाया करती हूँ। इससे अधिक वह और कुछ न कह सकी। गला भर आया।

ज्ञानचन्द्र ने उसके समीप आकर कहा—मैं सच कहता हूँ गोविन्दी, एक मित्र के घर भोजन कर आया हूँ। तुम जाकर खा लो।

(४)

गोविन्दी पलग पर पड़ी हुई चिन्ता, नैराश्य और विषाद के अपार सागर में गोते खा रही थी। यदि कालिन्दी का उसने बहिष्कार कर दिया होता, तो आज उसे इस विपत्ति का सामना न करना पड़ता; किन्तु यह असानुषीय व्यवहार उसके लिए असाध्य था और इस दसा में भी उसे इसका दु,ख न था। ज्ञानचन्द्र की ओर से यों तिरस्कृत होने का भी उसे दु ख न था। जो ज्ञानचन्द्र नित्य धर्म और सज्जनता की

डींगें मारा करता था, वही आज इसका इतनी निर्दयता से बहिष्कार करता हुआ जान पड़ता था, इस पर उसे लेशमात्र भी दुःख, क्रोध या द्वेष न था। उसके मन को केवल एक ही भावना आन्दोलित कर रही थी। वह अब इस घर मे कैसे रह सकती है। अब तक वह इस घर की स्वामिनी थी, इसीलिए न कि वह अपने पति के प्रेम की स्वामिनी थी, पर अब वह उस प्रेम से वञ्चित हो गई थी। अब इस घर पर उसका क्या अधिकार था। वह अब अपने पति को मुँह ही कैसे दिखा सकती थी। वह जानती थी, ज्ञानचन्द्र अपने मुँह से उसके विरुद्ध एक शब्द भी न निकालेंगे, पर उसके विषय मे ऐसी बातें जानकर क्या वह उससे प्रेम कर सकते थे? कदापि नहीं, इस वक्त न-जाने क्या समझकर चुप रहे। सबेरे तूफ़ान उठेगा। कितने ही विचारशील हों, पर अपने समाज से निकाला जाना कौन पसन्द करेगा। स्त्रियों की संसार मे कमी नहीं। मेरी जगह हज़ारों मिल जायँगी। मेरी किसी को क्या परवा। अब यहाँ रहना बेहयाई है। आखिर कोई लाठी मारकर थोड़े ही निकाल देगा। हयादार के लिए आँख का इशारा बहुत है। मुँह से न कहें, मन की बात और भाव छिपे नहीं रहते, लेकिन मीठी निद्रा की गोद मे सोये हुए शिशु को देखकर ममता ने उसके अशक्त हृदय को और भी कातर कर दिया। इस अपने प्राणों के आधार को वह कैसे छोड़ेगी?

शिशु को उसने गोद मे उठा लिया और खड़ी रोती रही। तीन साल कितने आनन्द से गुज़रे। उसने समझा था इसी भाँति सारा जीवन कट जायगा, लेकिन उसके भाग्य मे इससे अधिक सुख भोगना लिखा ही न था। करुण वेदना में डूबे हुए ये शब्द उसके मुख से निकल आये—भगवन्! अगर तुम्हें इस भाँति मेरी दुर्गति करनी थी, तो तीन साल पहले क्या न की? उस वक्त यदि तुमने मेरे जीवन का अन्त कर दिया होता, तो मैं तुम्हें धन्यवाद देती। तीन साल तक सौभाग्य के सुरम्य उद्यान में सौरभ, समीर और माधुर्य का आनन्द उठाने के बाद इस उद्यान ही को उजाड़ दिया। हा! जिन पौधों को उसने अपने प्रेम-जल से सींचा था, वे अब निर्मम दुर्भाग्य के पैरों तले कितनी निष्ठुरता से कुचले जा रहे थे। ज्ञानचन्द्र के शील और स्नेह का स्मरण आया, तो वह रो पड़ी। मृदु स्मृतियाँ आ-आकर हृदय को मसोसने लगीं।

सहसा ज्ञानचन्द्र के आने से वह सँभल बैठी। कठोर-से-कठोर बातें सुनने

लिए उसने अपने हृदय को कड़ा कर लिया, किन्तु ज्ञानचन्द्र के मुख पर रोष का चिह्न भी न था। उन्होंने आश्चर्य से पूछा—क्या तुम अभी तक सोईं नहीं? जानती हो कै बजे हैं, बारह से ऊपर हैं।

गोविन्दी ने सहमते हुए कहा—तुम भी तो अभी नहीं सोये।

ज्ञान०—मैं न सोऊँ, तो तुम भी न सोओ? मैं न खाऊँ, तो तुम भी न खाओ? मैं बीमार पड़ूँ, तो तुम भी बीमार पड़ो? यह क्यों? मैं तो एक जन्म-पत्री बना रहा था। कल देनी होगी। तुम क्या करती रहीं, बोलो?

इन शब्दों मे कितना सरल स्नेह था! क्या तिरस्कार के भाव इतने ललित शब्दों में प्रकट हो सकते हैं। प्रवञ्चकता क्या इतनी निर्मल हो सकती है? शायद सोमदत्त ने अभी वज्र का प्रहार नहीं किया। अवकाश न मिला होगा, लेकिन ऐसा है, तो आज घर इतनी देर में क्यों आये? भोजन क्यों न किया, मुझसे बोले तक नहीं, आँखें लाल हो रही थीं। मेरी ओर आँख उठाकर देखा तक नहीं। क्या यह सम्भव है कि इनका क्रोध शान्त हो गया हो? यह सम्भावना की चरमसीमा से भी बाहर है। तो क्या सोमदत्त को मुझ पर दया आ गई, पत्थर पर दूब जमी! गोविन्दी कुछ निश्चय न कर सकी, और जिस भाँति गृह-सुख-विहीन पथिक वृक्ष की छाँह में भी आनन्द से पाँव फैलाकर सोता है, उसकी अव्यवस्था ही उसे निश्चिन्त बना देती है, उसी भाँति गोविन्दी मानसिक व्यग्रता मे भी स्वस्थ हो गई। मुस्कुराकर स्नेह-मृदुल स्वर मे बोली—तुम्हारी राह तो देख रही थी।

यह कहते-कहते गोविन्दी का गला भर आया। व्याध के जाल मे फड़फड़ाती हुई चिड़िया क्या मीठे राग गा सकती है? ज्ञानचन्द्र ने चारपाई पर बैठकर कहा—झूठी बात, रोज़ तो तुम अब तक सो जाया करती थीं।

(५)

एक सप्ताह बीत गया, पर ज्ञानचन्द्र ने गोविन्दी से कुछ न पूछा, और न उनके बर्ताव ही से उनके मनोगत भावों का कुछ परिचय मिला। अगर उनके व्यवहारों में कोई नवीनता थी, तो यह कि वह पहले से भी ज्यादा स्नेहशील, निर्द्वन्द्व और प्रफुल्ल-वदन हो गये। गोविन्दी का इतना आदर और मान उन्होंने कभी नहीं किया था। उनके प्रयत्नशील रहने पर भी गोविन्दी उनके मनोभावों को ताड़ रही थी और उसका चित्त प्रतिक्षण शंका से चञ्चल और क्षुब्ध रहता था। अब उसे इसमे लेशमात्र भी

सन्देह नहीं था कि सोमदत्त ने आग लगा दी है। गीली लकड़ी में पड़कर वह चिन-गारी बुझ जायगी, या जगल की सूखी पत्तियाँ हाहाकार करके जल उठेंगी, यह कौन जान सकता है , लेकिन इस सप्ताह के गुजरते ही अग्नि का प्रकोप होने लगा। ज्ञान-चन्द्र एक महाजन के मुनीम थे। उस महाजन ने कह दिया मेरे यहाँ अब आपका काम नहीं। जीविका का दूसरा साधन यजमानी थी। यजमान भी एक-एक करके उन्हें जवाब देने लगे। यहाँ तक कि उनके द्वार पर लोगों का आना-जाना बन्द हो गया। आग सूखी पत्तियों मे लगकर अब हरे वृक्ष के चारों ओर मॅंड़राने लगी। पर, ज्ञानचन्द्र के मुख में गोविन्दी के प्रति एक भी कटु, अमृदु शब्द न था। वह इस सामाजिक दण्ड की शायद कुछ परवा न करते, यदि दुर्भाग्यवश इसने उनकी जीविका के द्वार न बन्द कर दिये होते। गोविन्दी सब कुछ समझती थी , पर सकोच के मारे कुछ न कह सकती थी। उसी के कारण उसके प्राणप्रिय पति की यह दशा हो रही है, यह उसके लिए डूब मरने की बात थी। पर, कैसे प्राणों का उत्सर्ग करे। कैसे जीवन-मोह से मुक्त हो। इस विपत्ति मे स्वामी के प्रति उसके रोम-रोम से शुभ कामनाओं की सरिता सी बहती थी , पर मुँह से एक शब्द भी न निकलता था। भाग्य की सबसे निष्ठुर लीला उस दिन हुई, जब कालिन्दी भी बिना कुछ कहे-सुने सोमदत्त के घर जा पहुँची। जिसके लिए यह सारी यातनाएँ झेलनी पड़ीं, उसी ने अन्त में बेवफाई की। ज्ञानचन्द्र ने सुना, तो केवल मुसकुरा दिये , पर गोविन्दी इस कुटिल आघात को इतनी शान्ति से सहन न कर सकी। कालिन्दी के प्रति उसके मुख से अप्रिय शब्द निकल ही आये। ज्ञानचन्द्र ने कहा—उसे व्यर्थ ही कोसती हो। प्रिये, उसका कोई दोष नहीं। भगवान् हमारी परीक्षा ले रहे हैं। इस वक्त धैर्य के सिवा हमे किसी से कोई आशा न रखनी चाहिए।

जिन भावो को गोविन्दी कई दिनों से अन्तस्तल मे दबाती चली आती थी, वे धैर्य का बाँध टूटते ही बड़े वेग से बाहर निकल पड़े। पति के सम्मुख अपराधियों की भाँति हाथ बाँधकर उसने कहा स्वामी, मेरे ही कारण आपको यह सारे पापड़ बेलने पड़ रहे हैं। मैं ही आपके कुल की कलकिनी हूँ। क्यों न मुझे किसी ऐसी जगह भेज दीजिए, जहाँ कोई मेरी सूरत न देखे। मैं आपसे सत्य कहती हूँ··।

ज्ञानचन्द्र ने गोविन्दी को और कुछ न कहने दिया। उसे हृदय से लगाकर बोले—प्रिये, ऐसी बातों से मुझे दु खी न करो। तुम आज भी उतनी ही पवित्र हो,

जितनी उस समय थीं। जब देवताओं के समक्ष मैंने आजीवन पत्नीव्रत लिया था, तब मुझसे तुम्हारा परिचय न था। अब तो मेरी देह और मेरी आत्मा का एक-एक परमाणु तुम्हारे अक्षय प्रेम से आलोकित हो रहा है। उपहास और निन्दा तो बात ही क्या है, दुर्दैव का कठोरतम आघात भी मेरे व्रत भग नहीं कर सकता। अगर डूबेंगे, तो साथ-साथ डूबेंगे, तरेंगे तो साथ-साथ तरेंगे। मेरे जीवन का मुख्य कर्तव्य तुम्हारे प्रति है। ससार इसके पीछे—बहुत पीछे है।

गोविन्दी को जान पड़ा, उसके सम्मुख कोई देव-मूर्ति खड़ी है। स्वामी मे इतनी श्रद्धा, इतनी भक्ति, उसे आज तक कभी न हुई थी। गर्व से उसका मस्तक ऊँचा हो गया और मुख पर स्वर्गीय आभा झलक पडी। उसने फिर कुछ कहने का साहस न किया।

(६)

सम्पन्नता अपमान और बहिष्कार को तुच्छ समझती है। उनके अभाव मे ये बाधाएँ प्राणान्तक हो जाती हैं। ज्ञानचन्द्र दिन-के-दिन घर मे पड़े रहते। घर से बाहर निकलने का उन्हें साहस न होता था। जब तक गोविन्दी के पास गहने थे, तब तक तो भोजन की चिन्ता न थी। किन्तु, जब यह आधार भी न रह गया, तो हालत और भी खराब हो गई। कभी-कभी निराहार रह जाना पड़ता। अपनी व्यथा किससे कहें, कौन मित्र था? कौन अपना था?

गोविन्दी पहले भी हृष्ट-पुष्ट न थी, पर अब तो अनाहार और अन्तर्वेदना के कारण उसकी देह और भी जीर्ण हो गई थी। पहले शिशु के लिए दूध मोल लिया करती थी। अब इसकी सामर्थ्य न थी। बालक दिन-दिन दुर्बल होता जाता था। मालूम होता था, उसे सूखे का रोग हो गया है। दिन-के-दिन बच्चा खुर्री खाट पर पड़ा माता को नैराश्य-दृष्टि से देखा करता। कदाचित् उसकी बाल-बुद्धि भी अवस्था को समझती थी। कभी किसी वस्तु के लिए हठ न करता। उसकी बालोचित सरलता, चञ्चलता और क्रीड़ा-शीलता ने अब एक दीर्घ, आशाविहीन प्रतीक्षा का रूप धारण कर लिया था। माता-पिता उसकी दशा देखकर मन-ही-मन कुढ-कुढकर रह जाते थे।

सन्ध्या का समय था। गोविन्दी अँधेरे घर में बालक के सिरहाने चिन्ता में मग्न बैठी थी। आकाश पर बादल छाये हुए थे और हवा के झोंके उसके अर्द्धनग्न शरीर

में शर के समान लगते थे। आज दिन-भर बच्चे ने कुछ न खाया था। घर में कुछ था ही नहीं। क्षुधाग्नि से बालक छटपटा रहा था; पर या तो वह रोना न चाहता था, या उसमें रोने की शक्ति ही न थी।

इतने में ज्ञानचन्द्र तेली के यहाँ से तेल लेकर आ पहुँचे। दीपक जला। दीपक के क्षीण प्रकाश में माता ने बालक का मुख देखा, तो सहम उठी। बालक का मुख पीला पड़ गया था और पुतलियाँ ऊपर चढ़ गई थीं। उसने घबराकर बालक को गोद में उठाया। देह ठण्ढी थी। चिल्लाकर बोली—हा भगवान्! मेरे बच्चे को क्या हो गया! ज्ञानचन्द्र ने बालक के मुख की ओर देखकर एक ठण्ढी साँस ली और बोले—ईश्वर, क्या सारी दया-दृष्टि हमारे ही ऊपर करोगे?

गोविन्दी—हाय! मेरा लाल मारे भूख के शिथिल हो गया है। कोई ऐसा नहीं, जो इसे दो घूँट दूध पिला दे।

यह कहकर उसने बालक को पति की गोद मे दे दिया और एक लुटिया लेकर कालिन्दी के घर दूध माँगने चली। जिस कालिन्दी ने आज छ महीने से इस घर की ओर झाँका तक न था, उसी के द्वार पर दूध की भिक्षा माँगने जाते हुए उसे कितनी ग्लानि, कितना सकोच हो रहा था, वह भगवान् के सिवा और कौन जान सकता है। यह वही बालक है, जिस पर एक दिन कालिन्दी प्राण देती थी, पर उसकी ओर से अब उसने अपना हृदय इतना कठोर कर लिया था कि घर मे कई गौएँ लगने पर भी कभी एक चिल्लू दूध न भेजा था। उसी की दया-भिक्षा माँगने आज, अँधेरी रात में, भीगती हुई गोविन्दी दौड़ी जा रही है। माता! तेरे वात्सल्य को धन्य है!

कालिन्दी दीपक लिये दालान में खड़ी गाय दुहा रही थी। पहले स्वामिनी बनने के लिए वह सौत से लड़ा करती थी। सेविका का पद उसे स्वीकार न था। अब सेविका का पद स्वीकार करके स्वामिनी बनी हुई थी। गोविन्दी को देखकर तुरन्त बाहर निकल आई और विस्मय से बोली—क्या है बहन, पानी-बूँदी में कैसे चली आई!

गोविन्दी ने सकुचाते हुए कहा—लाला बहुत भूखा है, कालिन्दी। आज दिन-भर कुछ नहीं मिला। थोड़ा-सा दूध लेने आई हूँ।

कालिन्दी भीतर जाकर दूध का मटका लिये बाहर निकल आई और बोली—जितना चाहो, ले लो गोविन्दी! दूध की कौन कमी है। लाला तो अब चलता होगा?

बहुत जी चाहता है कि जाकर उसे देख आऊँ। लेकिन जाने का हुकुम नहीं है। पेट पालना है, तो हुकुम मानना ही पड़ेगा। तुमने बतलाया ही नहीं, नहीं तो लाला के लिए दूध का तोड़ा थोड़ा ही है। मैं क्या चली आई कि तुमने उसका मुँह देखने को भी तरसा डाला। मुझे कभी पूछता है?

यह कहते हुए कालिन्दी ने दूध का मटका गोविन्दी के हाथ में रख दिया। गोविन्दी की आँखों से आँसू बहने लगे। कालिन्दी इतनी दया करेगी, इसकी उसे आशा नहीं थी। अब उसे ज्ञात हुआ कि यह वही दयाशीला, सेवा-परायणा रमणी है, जो हले थी। लेशमात्र भी अन्तर न था। बोली—इतना दूध लेकर क्या करूँगी बहन, इस लुटिया में डाल दो।

कालिन्दी—दूध छोटे-बड़े सब खाते हैं। ले जाओ, (धीरे से) यह मत समझो, कि मैं तुम्हारे घर से चली आई, तो विरानी हो गई। तुम्हारा शील और स्नेह कभी न भूलूँगी। हाँ, निन्दा सुनने का साहस नहीं था। भगवान् की दया से अब यहाँ किसी बात की चिन्ता नहीं है। मुझसे कहने की देर है। हाँ, मैं आऊँगी नहीं। इससे लाचार हूँ। कल किसी बेला लाला को लेकर नदी-किनारे आ जाना। देखने को बहुत जी चाहता है।

गोविन्दी दूध की हाँड़ी लिये घर चली, गर्व-पूर्ण आनन्द के मारे उसके पैर उड़े जाते थे। ड्योढी में पैर रखते ही बोली—जरा दिया दिखा देना, यहाँ कुछ सुझाई नहीं देता। ऐसा न हो, दूध गिर पड़े।

ज्ञानचन्द्र ने दीपक दिखा दिया। गोविन्दी ने बालक को अपनी गोद में लेटाकर कटोरी से दूध पिलाना चाहा, पर एक घूँट से अधिक दूध कण्ठ में न गया। बालक ने हिचकी ली और अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी।

करुण रोदन से घर गूँज उठा। सारी बस्ती के लोग चौंक पड़े; पर जब मालूम हो गया कि ज्ञानचन्द्र के घर से आवाज़ आ रही है, तो कोई द्वार पर न आया। रात-भर भग्न-हृदय दम्पती रोते रहे। प्रातःकाल ज्ञानचन्द्र ने शव उठा लिया और श्मशान की ओर चले। सैकड़ों आदमियों ने उन्हें जाते देखा; पर कोई समीप न आया।

(७)

कुल-मर्यादा संसार की सबसे उत्तम वस्तु है। उस पर प्राण तक न्योछावर कर दिये जाते हैं। ज्ञानचन्द्र के हाथ से वह वस्तु निकल गई, जिस पर उन्हें गौरव था।

वह गर्व, वह आत्म-बल, वह तेज, जो परम्परा ने उनके हृदय में कूट-कूटकर भर दिया था, उसका कुछ अंश तो पहले ही मिट चुका था, बचा-खुचा पुत्र-शोक ने मिटा दिया। उन्हें विश्वास हो गया कि उनके अविचार का ईश्वर ने यह दण्ड दिया है। दुरवस्था, जीर्णता और मानसिक दुर्बलता सभी इस विश्वास को दृढ करती थीं। वह गोविन्दी को अब भी निर्दोष समझते थे। उसके प्रति एक भी कटु शब्द उनके मुँह से न निकलता था, न कोई कटु भाव उनके दिल में जगह पाता था। विधि की क्रूर-क्रीड़ा ही उनका सर्वनाश कर रही है, इसमें उन्हें लेशमात्र भी सन्देह न था।

अब यह घर उन्हें फाड़े खाता था। घर के प्राण-से निकल गये थे। अब माता किसे गोद में लेकर चाँद मामा को बुलायेगी, किसे उबटन मलेगी, किसके लिए प्रात काल हलुवा पकायेगी। अब सब कुछ शून्य था, मालूम होता था कि उनके हृदय निकाल लिये गये हैं। अपमान, कष्ट, अनाहार, इन सारी विडम्बनाओं के होते हुए भी बालक की बाल-क्रीड़ाओं में वे सब-कुछ भूल जाते थे। उसके स्नेहमय लालन-पालन में ही अपना जीवन सार्थक समझते थे। अब चारों ओर अन्धकार था।

यदि ऐसे मनुष्य हैं, जिन्हें विपत्ति से उत्तेजन और साहस मिलता है, तो ऐसे मनुष्य भी हैं, जो आपत्काल में कर्तव्यहीन, पुरुषार्थहीन और उद्यमहीन हो जाते हैं। ज्ञानचन्द्र शिक्षित थे, योग्य थे। यदि शहर में जाकर दौड़-धूप करते, तो उन्हें कहीं-न-कहीं काम मिल जाता। वेतन कम ही सही, रोटियों को तो मुहताज न रहते, किन्तु अविश्वास उन्हें घर से निकलने न देता था। कहाँ जायँ, शहर में हमें कौन जानता है? अगर दो-चार परिचित प्राणी हैं भी, तो उन्हें मेरी क्यों परवा होने लगी? फिर इस दशा में जायँ कैसे? देह पर साबित कपड़ा भी नहीं। जाने के पहले गोविन्दी के लिए कुछ-न-कुछ प्रबन्ध करना आवश्यक था। उसका कोई सुभीता न था। इन्हीं चिन्ताओं में पड़े-पड़े उनके दिन कटते जाते थे। यहाँ तक कि उन्हें घर से बाहर निकलते भी बड़ा सकोच होता था। गोविन्दी ही पर अन्नोपार्जन का भार था। बेचारी दिन को बच्चों के कपड़े सीती, रात को दूसरों के लिए आटा पीसती। ज्ञानचन्द्र सब कुछ देखते थे और माथा ठोककर रह जाते थे।

एक दिन भोजन करते हुए ज्ञानचन्द्र ने आत्म-धिक्कार के भाव से मुसकुराकर कहा—मुझ-सा निर्लज्ज पुरुष भी संसार में दूसरा न होगा, जिसे स्त्री की कमाई खाते भी मौत नहीं आती!

गोविन्दी ने भौं सिकोड़कर कहा—तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, मेरे सामने ऐसी बातें मत किया करो। है तो यह सब मेरे ही कारन ?

ज्ञान०—तुमने पूर्व-जन्म में कोई बड़ा पाप किया था गोविन्दी, जो मुझ-जैसे निखट्टू के पाले पड़ीं। मेरे जीते ही तुम विधवा हो। धिक्कार है ऐसे जीवन को!

गोविन्दी—तुम मेरा ही खून पियो, अगर फिर इस तरह की कोई बात मुँह से निकालो। तुम्हारी दासी बनकर मेरा जन्म सुफल हो गया। मैं इसे पूर्व-जन्मों की तपस्या का पुनीत फल समझती हूँ। दुःख-सुख किस पर नहीं आता। तुम्हें भगवान् कुशल से रखें, यही मेरी अभिलाषा है।

ज्ञान०—भगवान् तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण करें। ख़ूब चक्की पीसो।

गोविन्दी—तुम्हारी बला से चक्की पीसती हूँ।

ज्ञान०—हाँ, हाँ, पीसो। मैं मना थोड़े ही करता हूँ। तुम न चक्की पीसोगी, तो यहाँ मूछों पर ताव देकर खायेगा कौन। अच्छा, आज तो दाल में घी भी है! ठीक है, अब मेरी चाँदी है, बेड़ा पार लग जायगा। इसी गाँव में बड़े-बड़े उच्च कुल की कन्याएँ हैं। अपने वस्त्राभूषण के सामने उन्हे और किसी की परवा नहीं। पति महाशय चाहे चोरी करके लायें, चाहे डाका मारकर लायें, उन्हें इसकी परवा नहीं। तुममें वह गुण नहीं है। तुम उच्च कुल की कन्या नहीं हो। वाह री दुनिया! ऐसी पवित्र देवियों का तेरे यहाँ अनादर होता है। उन्हें कुल-कलङ्किनी समझा जाता है! धन्य है तेरा व्यापार! तुमने कुछ और सुना ? सोमदत्त ने मेरे असामियों को बहका दिया है कि लगान मत देना, देखें क्या करते हैं। बताओ, जमींदार की रक़म कैसे चुकाऊँगा ?

गोविन्दी—मैं सोमदत्त से जाकर पूछती हूँ न ? मना क्या करेंगे, कोई दिल्लगी है!

ज्ञान०—नहीं गोविन्दी, तुम उस दुष्ट के पास मत जाना। मैं नहीं चाहता कि तुम्हारे ऊपर उसकी छाया भी पड़े। उसे खूब अत्याचार करने दो। मैं भी देख रहा हूँ कि भगवान् कितने न्यायी हैं।

गोविन्दी—तुम असामियों के पास क्यों नहीं जाते ? हमारे घर न आयें, हमारा छुआ पानी न पियें, या हमारे रुपये भी मार लेंगे ?

ज्ञान०—वाह, इससे सरल तो कोई काम ही नहीं है। कह देंगे—हम रुपये दे

चुके। सारा गाँव उनकी तरफ हो जायगा। मैं तो अब गाँव-भर का द्रोही हूँ न। आज खूब डटकर भोजन किया। अब मैं भी रईस हूँ, बिना हाथ-पैर हिलाये गुलछर्रे उड़ाता हूँ। सच कहता हूँ, तुम्हारी ओर से अब मैं निश्चिन्त हो गया। देश-विदेश भी चला जाऊँ, तो तुम अपना निबाह कर सकती हो।

गोविन्दी--कहीं जाने का काम नहीं है।

ज्ञान०—तो यहाँ जाता ही कौन है। किसे कुत्ते ने काटा है, जो यह सेवा छोड़कर मेहनत-मजूरी करने जाय। तुम सचमुच देवी हो, गोविन्दी!

भोजन करके ज्ञानचन्द्र बाहर निकले। गोविन्दी भोजन करके कोठरी में आई, तो ज्ञानचन्द्र न थे। समझी—कहीं बाहर चले गये होंगे। आज पति की बातों से उसका चित्त कुछ प्रसन्न था। शायद अब वह नौकरी-चाकरी की खोज में कहीं जाने-वाले हैं। यह आशा बँध रही थी। हाँ, उनकी व्यङ्गोक्तियों का भाव उसकी समझ ही में न आता था। ऐसी बातें वह कभी न करते थे। आज क्या सूझी!

कुछ कपड़े सीने थे। जाड़ों के दिन थे। गोविन्दी धूप में बैठकर सीने लगी। थोड़ी ही देर में शाम हो गई। अभी तक ज्ञानचन्द्र नहीं आये। तेल-बत्ती का समय आया, फिर भोजन की तैयारी करने लगी। कालिन्दी थोड़ा-सा दूध दे गई थी। गोविन्दी को तो भूख न थी, अब वह एक ही बेला खाती थी। हाँ, ज्ञानचन्द्र के लिए रोटियाँ सेंकनी थीं। सोचा—दूध है ही, दूध-रोटी खा लेंगे।

भोजन बनाकर निकली ही थी कि सोमदत्त ने आँगन मे आकर पूछा—कहाँ है ज्ञानू?

गोविन्दी कहीं गये हैं।

सोम०—कपड़े पहनकर गये हैं?

गोविन्दी - हाँ, काली मिर्जई पहने थे।

सोम० - जूता भी पहने थे?

गोविन्दी की छाती धड़-धड़ करने लगी। बोली—हाँ, जूता तो पहने थे। क्यों पूछते हो?

सोमदत्त ने ज़ोर से हाथ मारकर कहा—हाय ज्ञानू! हाय!

गोविन्दी घबराकर बोली—क्या हुआ दादाजी? हाय! बताते क्यों नहीं? हाय!

सोम०—अभी थाने से आ रहा हूँ। वहाँ उनकी लाश मिली है। रेल के नीचे दब गये! हाय ज्ञानू! मुझ हत्यारे को क्यों न मौत आ गई!

गोविन्दी के मुँह से फिर कोई शब्द न निकला। अन्तिम 'हाय' के साथ बहुत दिनों तक तड़पता हुआ प्राण-पक्षी उड़ गया।

एक क्षण मे गाँव की कितनी ही स्त्रियाँ जमा हो गईं। सब कहती थीं—देवी थी! सती थी!

प्रातःकाल दो अर्थियाँ गाँव से निकलीं। एक पर रेशमी चुँदरी का कफ़न था, दूसरी पर रेशमी शाल का। गाँव के द्विजों मे से केवल सोमदत्त साथ था। शेष गाँव के नीच जातिवाले आदमी थे। सोमदत्त ही ने दाह-क्रिया का प्रबन्ध किया था! वह रह-रहकर दोनों हाथों से अपनी छाती पीटता था, और ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाता था—हाय ज्ञानू! हाय ज्ञानू!!

चोरी

हाय बचपन ! तेरी याद नहीं भूलती ! वह कच्चा, टूटा घर, वह पयाल का बिछौना, वह नगे बदन, नगे पांव खेतों में घूमना ; आम के पेड़ों पर चढ़ना—सारी बातें आँखों के सामने फिर रही हे । चमरौधे जूते पहनकर उस वक्त जितनी खुशी होती थी, अब 'फ्लैक्स' के बूटों से भी नहीं होती । गरम पनुए रस में जो मजा था, वह अब गुलाब के शर्बत मे भी नहीं, चबेने और कच्चे बेरों मे जो रस था, वह अब अगूर और खीरमोहन मे भी नहीं मिलता ।

मैं अपने चचेरे भाई हलधर के साथ दूसरे गांव मे एक मौलवी साहब के यहाँ पढ़ने जाया करता था । मेरी उम्र आठ साल थी, हलधर (वह अब स्वर्ग में निवास कर रहे हैं) मुझसे दो साल जेठे थे । हम दोनों प्रात काल बासी रोटियाँ खा, दोपहर के लिए मटर और जौ का चबेना लेकर चल देते थे । फिर तो सारा दिन अपना था । मौलवी साहब के यहाँ कोई हाज़िरी का रजिस्टर तो था नहीं, और न गैरहाज़िरी का जुर्माना ही देना पडता था । फिर डर किस बात का ! कभी तो थाने के सामने खड़े सिपाहियों की क़वायद देखते, कभी किसी भालू या बन्दर नचानेवाले मदारी के पीछे-पीछे घूमने मे दिन काट देते, कभी रेलवे स्टेशन की ओर निकल जाते और गाड़ियों की बहार देखते । गाड़ियों के समय का जितना ज्ञान हमको था, उतना शायद टाइम-टेबिल को भी न था । रास्ते में शहर के एक महाजन ने एक बाग़ लगवाना शुरू किया था । वहाँ एक कुआँ खुद रहा था । वह भी हमारे लिए एक दिलचस्प तमाशा था । बूढ़ा माली हमें अपनी झोपड़ी में बड़े प्रेम से बैठाता था । हम उससे झगड़-झगड़कर उसका काम करते । कहीं बाल्टी लिये पौदों को सींच रहे हैं, कहीं खुरपी से क्यारियाँ गोड़ रहे हैं, कहीं कैंची से बेलों की पत्तियाँ छाँट रहे हैं । उन कामों में कितना आनन्द था ! माली बाल-प्रकृति का पण्डित था । हमसे काम लेता, पर इस तरह, मानो हमारे ऊपर कोई एहसान कर रहा है । जितना काम वह दिनभर में करता, हम घण्टेभर में निबटा देते थे । अब वह माली नहीं है, लेकिन बाग़ हरा-भरा है । उसके पास से होकर गुजरता हूँ तो जी चाहता है, उन पेड़ों के गले मिलकर रोऊँ,

और कहूँ—प्यारे, तुम मुझे भूल गये हो, लेकिन मैं तुम्हें नहीं भूला, मेरे हृदय में तुम्हारी याद अभी तक हरी है—उतनी ही हरी, जितने तुम्हारे पत्ते। नि स्वार्थ प्रेम के तुम जीते-जागते स्वरूप हो।

कभी-कभी हम हफ्तों गैरहाजिर रहते, पर मौलवी साहब से ऐसा बहाना कर देते कि उनकी चढी हुई त्योरियाँ उतर जातीं। उतनी कल्पना-शक्ति आज होती, तो एसा उपन्यास लिख मारता कि लोग चकित रह जाते। अब तो यह हाल है कि बहुत सिर खपाने के बाद कोई कहानी सूझती है। खैर, हमारे मौलवी साहब दरजी थे। मौलवीगिरी केवल शौक से करते थे। हम दोनों भाई अपने गाँव के कुरमो-कुम्हारों से उनकी खूब बड़ाई करते थे। या कहिए कि हम मौलवी साहब के सफरी एजेंट थे। हमारे उद्योग से जब मौलवी साहब को कुछ काम मिल जाता, तो हम फूले न समाते। जिस दिन कोई अच्छा बहाना न सूझता, मौलवी साहब के लिए कोई-न-कोई सौगात ले जाते। कभी सेर-आध सेर फलियाँ तोड़ लीं, तो कभी दस पाँच ऊख; कभी जौ या गेहूँ की हरी-हरी बालें ले लीं, इन सौगातों को देखते ही मौलवी साहब का क्रोध शान्त हो जाता। जब इन चीजों की फसल न होती, तो हम सजा से बचने का कोई और ही उपाय सोचते। मौलवी साहब को चिड़ियों का शौक था। मकतब में श्यामा, बुलबुल, दहियल और चण्डूलों के पिंजरे लटकते रहते थे। हमें सबक याद हो या न हो, पर चिड़ियों को याद हो जाते थे। हमारे साथ ही वे भी पढा करती थीं। इन चिड़ियों के लिए बेसन पीसने मे हम लोग खूब उत्साह दिखाते थे। मौलवी साहब सब लड़कों को पतिंगे पकड़ लाने की ताकीद करते रहते थे। इन चिड़ियों को पतिंगों से विशेष रुचि थी। कभी-कभी हमारी बला पतिंगों ही के सिर चली जाती थी। उनका बलि-दान करके हम मौलवी साहब के रौद्र-रूप को प्रसन्न कर लिया करते थे।

एक दिन सबेरे हम दोनों भाई तालाब में मुँह धोने गये, तो हलधर ने कोई सफेद-सी चीज़ मुट्ठी में लेकर दिखाई। मैंने लपककर मुट्ठी खोली, तो उसमें एक रुपया था। विस्मित होकर पूछा—यह रुपया तुम्हें कहाँ मिला?

हलधर—अम्माँ ने ताक पर रखा था, चारपाई खड़ी करके निकाल लाया।

घर में कोई सन्दूक या आलमारी तो थी नहीं, रुपये-पैसे एक ऊँचे ताक पर रख दिये जाते थे। एक दिन पहले चचाजी ने सन बेचा था। उसी के रुपये जमींदार को देने के लिए रखे हुए थे। हलधर को न-जाने क्योंकर पता लग गया। जब घर

के सब लोग काम-धन्धे में लग गये, तो आपने चारपाई खड़ी की, और उस पर चढ़-कर एक रुपया निकाल लिया।

उस वक्त तक हमने कभी रुपया छुआ तक न था। वह रुपया देखकर आनन्द और भय की जो तरगें दिल में उठीं, वे अभी तक याद हैं, हमारे लिए रुपया एक अलभ्य वस्तु थी। मौलवी साहब को हमारे यहाँ से सिर्फ बारह आने मिला करते थे। महीने के अन्त में चचाजी खुद जाकर पैसे दे आते थे। हमारा इतना भी विश्वास न था। वही हम आज एक रुपये के छत्रपति राजा थे। भला कौन हमारे गर्व का अनुमान कर सकता है! लेकिन मार का भय आनन्द में विघ्न डाल रहा था। रुपये अनगिनती तो थे नहीं। चोरी का खुल जाना मानी हुई बात थी। चचाजी के क्रोध का भी, मुझे तो नहीं, हलधर को प्रत्यक्ष अनुभव हो चुका था। यों उनसे ज्यादा सीधा-सादा आदमी दुनिया में न था। चची ने उनकी रक्षा का भार सिर पर न लिया होता, तो कोई बनिया उन्हें बाज़ार में बेच सकता था, पर जब क्रोध आ जाता, तो फिर उन्हें कुछ न सूझता। और तो और, चची भी उनके क्रोध का सामना करते डरती थीं। हम दोनों ने कई मिनट तक इन्हीं बातों पर विचार किया, और आखिर यही निश्चय हुआ कि आई हुई लक्ष्मी को न जाने देना चाहिए। एक तो हमारे ऊपर सदेह होगा ही नहीं, और अगर हुआ भी, तो हम साफ इनकार कर जायँगे—कहेंगे हम रुपया लेकर क्या करते, हमारी नगा-झोली ले लीजिए। शायद और शात चित्त से विचार करते, तो यह निश्चय पलट जाता, और वह वीभत्स लीला न होती, जो आगे चलकर हुई, पर उस समय हममे शाति से विचार करने की क्षमता ही न थी।

मुँह-हाथ धोकर हम दोनों घर आये और डरते-डरते अन्दर कदम रखा। अगर कहीं इस वक्त तलाशी की नौबत आई, तो फिर भगवान् ही मालिक हैं, लेकिन सब लोग अपना-अपना काम कर रहे थे। कोई हमसे न बोला। हमने नाश्ता भी न किया, चबेना भी न लिया, किताब बगल में दबाई और मदरसे का रास्ता लिया।

बरसात के दिन थे। आकाश पर बादल छाये हुए थे। हम दोनों खुश-खुश मकतब चले जा रहे थे। आज काउसिल की मिनिस्ट्री पाकर भी शायद उतना आनन्द न हो। हज़ारों मसूबे बाँधते थे, हजारों हवाई किले बनाते थे। यह अवसर बड़े भाग्य से मिला था। जीवन में फिर शायद ही यह अवसर मिले। इसलिए रुपये

को इस तरह खर्च करना चाहते थे कि ज्यादा-से-ज्यादा दिनों तक चल सके। यद्यपि उन दिनों पाँच आने सेर बहुत अच्छी मिठाई मिलती थी और शायद आध सेर मिठाई में हम दोनों अफर जाते, लेकिन यह खयाल हुआ कि मिठाई खायेंगे, तो रुपया आज ही ग़ायब हो जायगा। कोई सस्ती चीज खानी चाहिए, जिसमें मज़ा भी आये, पेट भी भरे, और पैसे भी कम खर्च हों। आखिर अमरूदों पर हमारी नज़र गई। हम दोनों राज़ी हो गये। दो पैसे के अमरूद लिये। सस्ता समय था, बड़े-बड़े बारह अमरूद मिले। हम दोनों के कुर्तों के दामन भर गये। जब हलधर ने खटकिन के हाथ में रुपया रखा, तो उसने सदेह से देखकर पूछा--रुपया कहाँ पाया, लाला? चुरा तो नहीं लाये।

जवाब हमारे पास तैयार था। ज्यादा नहीं, तो दो-तीन किताबें तो पढ़ ही चुके थे। विद्या का कुछ-कुछ असर हो चला था। मैंने झट से कहा—मौलवी साहब की फीस देनी है। घर मे पैसे न थे, तो चचाजी ने रुपया दे दिया।

इस जवाब ने खटकिन का सन्देह दूर कर दिया। हम दोनों ने एक पुलिया पर बैठकर खूब अमरूद खाये, मगर अब साढ़े पंद्रह आने पैसे कहाँ ले जायँ! एक रुपया छिपा लेना तो इतना मुश्किल काम न था। पैसों का ढेर कहाँ छिपता? न कमर मे इतनी जगह थी और न जेब में इतनी गुञ्जाइश। उन्हें अपने पास रखना अपनी चोरी का ढिंढोरा पीटना था। बहुत सोचने के बाद यह निश्चय किया कि बारह आने तो मौलवी साहब को दे दिये जायँ, शेष साढ़े तीन आने की मिठाई उड़े। यह फैसला करके हम लोग मक़तब पहुँचे। आज कई दिन के बाद गये थे। मौलवी साहब ने बिगड़कर पूछा--इतने दिन कहाँ रहे?

मैंने कहा—मौलवी साहब, घर में ग़मी हो गई थी।

यह कहते-ही-कहते बारह आने उनके सामने रख दिये। फिर क्या पूछना था! पैसे देखते ही मौलवी साहब की बाछें खिल गईं। महीना खत्म होने में अभी कई दिन बाक़ी थे। साधारणत महीना चढ़ जाने और बार-बार तक़ाज़े करने पर कहीं पैसे मिलते थे। अबकी इतनी जल्दी पैसे पाकर उनका खुश होना कोई अस्वाभाविक बात न थी। हमने अन्य लड़कों की ओर सगर्व नेत्रों से देखा, मानो कह रहे हों—एक तुम हो कि माँगने पर भी पैसे नहीं देते, एक हम हैं कि पेशगी देते हैं।

हम अभी सबक़ पढ ही रहे थे कि मालूम हुआ, आज तालाब का मेला है,

दोपहर से छुट्टी हो जायगी। मौलवी साहब मेले मे बुलबुल लड़ाने जायँगे। यह खबर सुनते ही हमारी खुशी का ठिकाना न रहा, बारह आने तो बैंक मे जमा ही कर चुके थे, साढे तीन आने मे मेला देखने की ठहरी। खूब बहार रहेगी। मजे से रेवड़ियाँ खायेंगे, गोलगप्पे उड़ायेंगे, झूले पर चढेंगे, और शाम को घर पहुँचेंगे, लेकिन मौलवी साहब ने एक कड़ी शर्त यह लगा दी थी कि सब लड़के छुट्टी के पहले अपना-अपना सबक सुना दें, जो सबक़ न सुना सकेगा, उसे छुट्टी न मिलेगी। नतीजा यह हुआ कि मुझे तो छुट्टी मिल गई, पर हलधर क़ैद कर लिये गये। और कई लड़कों ने भी सबक़ सुना दिये थे। वे सभी मेला देखने चल पड़े। मैं भी उनके साथ हो लिया। पैसे मेरे ही पास थे, इसलिए मैंने हलधर को साथ लेने का इतज़ार न किया। तय हो गया था कि वह छुट्टी पाते ही मेले आ जायँ, और दोनों साथ-साथ मेला देखें। मैंने वचन दिया था कि जब तक वह न आयेंगे, एक पैसा भी न खर्च करूँगा, लेकिन क्या मालूम था कि दुर्भाग्य कुछ और ही लीला रच रहा है। मुझे मेला पहुँचे एक घटे से ज़्यादा गुजर गया, पर हलधर का कहीं पता नहीं। क्या अभी तक मौलवी साहब ने छुट्टी नहीं दी, या रास्ता भूल गये? आँखें फाड़-फाड़कर सड़क की ओर देखता था। अकेले मेला देखने में जी भी न लगता था। यह सशय भी हो रहा था कि कहीं चोरी खुल तो नहीं गई, और चचाजी हलधर को पकड़कर घर तो नहीं ले गये। आखिर जब शाम हो गई, तो मैंने कुछ रेवड़ियाँ खाई, और हलधर के हिस्से के पैसे जेब में रखकर धीरे-धीरे घर चला। रास्ते में खयाल आया, मकतब होता चलूँ। शायद हलधर अभी वहीं हो, मगर वहाँ सन्नाटा था। हाँ, एक लड़का खेलता हुआ मिला। उसने मुझे देखते ही ज़ोर से कहक़हा मारा और बोला—बचा घर जाओ तो, कैसी मार पड़ती है। तुम्हारे चचा आये थे। हलधर को मारते-मारते ले गये हैं। अजी ऐसा तानकर घूसा मारा कि मियाँ हलधर मुँह के बल गिर पड़े। यहाँ से घसीटते ले गये हैं। तुमने मौलवी साहब की तनख्वाह दे दी थी, वह भी ले ली। अभी से कोई बहाना सोच लो, नहीं तो बेभाव की पड़ेगी।

मेरी सिट्टी-पिट्टी भूल गई, बदन का लहू सूख गया। वही हुआ जिसका मुझे शक हो रहा था। पैर मन-मन भर के हो गये। घर की ओर एक-एक कदम चलना मुश्किल हो गया। देवी-देवताओं के जितने नाम याद थे, सभी की मानता मानी—किसी को लड्डू, किसी को पेड़े, किसी को बतासे। गाँव के पास पहुँचा, तो गाँव के

डीह का सुमिरन किया, क्योंकि अपने हलके में डीह ही की इच्छा सर्वप्रधान होती है।

यह सब कुछ किया, लेकिन ज्यों-ज्यों घर निकट आता, दिल की धड़कन बढ़ती जाती थी। घटाएँ उमड़ी आती थीं। मालूम होता था—आसमान फटकर गिरा ही चाहता है। देखता था—लोग अपने-अपने काम छोड़-छोड़ भागे जा रहे हैं, गोरू भी पूँछ उठाये घर की ओर उछलते-कूदते चले जाते थे। चिड़ियाँ अपने घोसलों की ओर उड़ी चली आती थीं, लेकिन मैं उसी मन्द गति से चला जाता था, मानो पैरों मे शक्ति ही नहीं। जी चाहता था—जोर का बुखार चढ आये, या कहीं चोट लग जाय; लेकिन कहने से धोबी गधे पर नहीं चढता। बुलाने से मौत भी नहीं आती, बीमारी का तो कहना ही क्या! कुछ न हुआ, और धीरे-धीरे चलने पर भी घर सामने आ ही गया। अब क्या हो? हमारे द्वार पर इमली का एक घना वृक्ष था। मैं उसी की आड़ में छिप गया कि जरा और अँधेरा हो जाय, तो चुपके-से घुस जाऊँ, और अम्माँ के कमरे में चारपाई के नीचे जा बैठूँ। जब सब लोग सो जायँगे, तो अम्माँ से सारी कथा कह सुनाऊँगा। अम्माँ कभी नहीं मारतीं। ज़रा उनके सामने झूठ-मूठ रोऊँगा, तो वह और भी पिघल जायँगी। रात कट जाने पर फिर कौन पूछता है। सुबह तक सबका गुस्सा ठण्डा हो जायगा। अगर ये मसूबे पूरे हो जाते, तो इसमें सन्देह नहीं, मैं बेदाग बच जाता। लेकिन वहाँ तो विधाता को कुछ और ही मजूर था। मुझे एक लड़के ने देख लिया, और मेरे नाम की रट लगाते हुए सीधे मेरे घर में भागा। अब मेरे लिए कोई आशा न रही। लाचार घर में दाखिल हुआ, तो सहसा मुँह से एक चीख निकल गई, जैसे मार खाया हुआ कुत्ता किसी को अपनी ओर आता देखकर भय से चिल्लाने लगता है। बरोठे में पिताजी बैठे थे। पिताजी का स्वास्थ्य इन दिनों कुछ खराब हो गया था। छुट्टी लेकर घर आये हुए थे। यह तो नहीं कह सकता कि उन्हें शिकायत क्या थी, पर वह मूँग की दाल खाते थे, और सन्ध्या समय शीशे के गिलास में एक बोतल में से कुछ उँड़ेल-उँड़ेलकर पीते थे। शायद यह किसी तजुरबेकार हकीम की बताई हुई दवा थी। दवाएँ सब बासनेवाली और कड़वी होती हैं। यह दवा भी बुरी ही थी, पर पिताजी न जाने क्यों इस दवा को खूब मज़ा ले-लेकर पीते थे। हम जो दवा पीते हैं; तो आँखें बन्द करके एक ही घूँट में गटक जाते हैं, पर शायद इस दवा का असर धीरे-धीरे पीने में ही होता हो। पिताजी के पास गाँव के दो-तीन और कभी-कभी चार-पाँच और रोगी भी

जमा हो जाते, और घण्टों दवा पीते रहते थे, मुश्किल से खाना खाने उठते थे। इस समय भी वह दवा पी रहे थे। रोगियों की मडली जमा थी, मुझे देखते ही पिताजी ने लाल आँखें करके पूछा—कहाँ थे अब तक ?

मैंने दबी ज़बान से कहा – कहीं तो नहीं।

'अब चोरी की आदत सीख रहा है! बोल, तूने रुपया चुराया कि नहीं ?'

मेरी जबान बन्द हो गई। सामने नगी तलवार नाच रही थी। शब्द भी निकलते हुए डरता था।

पिताजी ने ज़ोर से डाँटकर पूछा—बोलता क्यों नहीं, तूने रुपया चुराया कि नहीं ?

मैंने जान पर खेलकर कहा – मैंने कहाँ ..

मुँह से पूरी बात न निकलने पाई थी कि पिताजी विकराल रूप धारण किये, दाँत पीसते, झपटकर उठे और हाथ उठाये मेरी ओर चले। मैं जोर से चिल्लाकर रोने लगा--ऐसा चिल्लाया कि पिताजी भी सहम गये। उनका हाथ उठा ही रह गया। शायद समझे कि जब अभी से इसका यह हाल है, तब तमाचा पड़ जाने पर कहीं इसकी जान ही न निकल जाय। मैंने जो देखा कि मेरी हिकमत काम कर गई, तो और भी गला फाड़-फाड़कर रोने लगा। इतने में मडली के दो-तीन आदमियों ने पिताजी को पकड़ लिया, और मेरी ओर इशारा किया, भाग जा! बच्चे बहुधा ऐसे मौके पर और भी मचल जाते हैं, और *व्यर्थ मार खा जाते हैं*। मैंने बुद्धिमानी से काम लिया।

लेकिन अन्दर का दृश्य इससे कहीं भयकर था। मेरा तो खून सर्द हो गया। हलधर के दोनों हाथ एक खम्भे से बँधे थे, सारी देह धूल-धूसरित हो रही थी, और वह अभी तक सिसक रहे थे। शायद वह आँगन-भर में लोटे थे। ऐसा मालूम हुआ कि सारा आँगन उनके आँसुओं से भीग गया है। चची हलधर को डाँट रही थीं, और अम्माँ बैठी मसाला पीस रही थीं। सबसे पहले मुझ पर चची की निगाह पड़ी। बोलीं—लो, वह भी आ गया। क्यों रे, रुपया तूने चुराया था कि इसने ?

मैंने निश्शक होकर कहा – हलधर ने।

अम्माँ बोलीं—अगर उसी ने चुराया था, तो तूने घर आकर किसी से कहा क्यों नहीं ?

अब झूठ बोले बगैर बचना मुश्किल था। मैं तो समझता हूँ कि जब आदमी

को जान का खतरा हो, तो झूठ बोलना क्षम्य है। हलधर मार खाने के आदी थे, दो-चार घूँसे और पड़ने से उनका कुछ न बिगड़ सकता था। मैंने मार कभी न खाई थी। मेरा तो दो ही चार घूँसों में काम तमाम हो जाता। फिर हलधर ने भी तो अपने को बचाने के लिए मुझे फँसाने की चेष्टा की थी, नहीं तो चची मुझसे यह क्यों पूछतीं—रुपया तूने चुराया, या हलधर ने? किसी भी सिद्धान्त से मेरा झूठ बोलना इस समय स्तुत्य नहीं, तो क्षम्य ज़रूर था। मैंने छूटते ही कहा—हलधर कहते थे, किसी से बताया, तो मार ही डालूँगा।

अम्माँ—देखा, वही बात निकली न! मैं तो कहती ही थी कि बच्चा की ऐसी आदत नहीं; पैसा हो तो हाथ से छूता ही नहीं, लेकिन सब लोग मुझी को उल्लू बनाने लगे।

हल०—मैंने तुमसे कब कहा था कि बताओगे, तो मारूँगा?

मैं—वहीं तालाब के किनारे तो!

हल०—अम्माँ, बिलकुल झूठ है!

चची—झूठ नहीं, सच है। झूठा तो तू है, और तो सारा ससार सच्चा है। तेरा नाम निकल गया है न! तेरा बाप भी नौकरी करता, बाहर से रुपये कमा लाता, चार जने उसे भला आदमी कहते, तो तू भी सच्चा होता। अब तो तू ही झूठा है। जिसके भाग में मिठाई लिखी थी, उसने मिठाई खाई। तेरे भाग में तो लात खाना ही लिखा था।

यह कहते हुए चची ने हलधर को खोल दिया, और हाथ पकड़कर भीतर ले गईं। मेरे विषय में स्नेह-पूर्ण आलोचना करके अम्माँ ने पाँसा पलट दिया था, नहीं तो अभी बेचारे पर न-जाने कितनी मार पड़ती। मैंने अम्माँ के पास बैठकर अपनी निर्दोषिता का राग खूब अलापा। मेरी सरल-हृदया माता मुझे सत्य का अवतार समझती थीं। उन्हें पूरा विश्वास हो गया कि सारा अपराध हलधर का है। एक क्षण बाद मैं गुड़-चबेना लिये कोठरी से बाहर निकला। हलधर भी उसी वक्त चिउड़े खाते हुए बाहर निकले। हम दोनों साथ-साथ बाहर आये और अपनी-अपनी बीती सुनाने लगे। मेरी कथा सुखमय थी, हलधर की दुःखमय; पर अन्त दोनों का एक था—गुड़ और चबेना।

———

लांछन

मुंशी श्यामकिशोर के द्वार पर मुन्नू मेहतर ने झाड़ू लगाई, गुसलखाना धो-धाकर साफ किया, और तब द्वार पर आकर गृहिणी से बोला—माजी, देख लीजिए, सब साफ कर दिया। आज कुछ खाने को मिल जाय, सरकार!

देवी रानी ने द्वार पर आकर कहा—अभी तो तुम्हें महीना पाये दस दिन भी नहीं हुए। इतनी जल्द फिर माँगने लगे?

मुन्नू—क्या करूँ माजी, खर्च नहीं चलता। अकेला आदमी, घर देखूँ कि काम करूँ?

देवी—तो ब्याह क्यों नहीं कर लेते?

मुन्नू—रुपये माँगते हैं, सरकार! यहाँ खाने से नहीं बचता, थैली कहाँ से लाऊँ?

देवी—अभी तो तुम जवान हो, कब तक अकेले बैठे रहोगे?

मुन्नू—हजूर की इतनी निगाह है, तो कहीं-न-कहीं ठीक हो ही जायगी, सरकार कुछ मदद करेंगी न?

देवी—हाँ-हाँ, तुम ठीक-ठाक करो, मुझसे जो कुछ हो सकेगा, मैं भी दे दूँगी।

मुन्नू—सरकार का मिजाज बड़ा अच्छा है। हजूर इतना खयाल करती हैं। दूसरे घरों में तो मालकिनें बात भी नहीं पूछतीं। सरकार को अल्लाह ने जैसी सकल-सूरत दी है, वैसा ही दिल भी दिया है। अल्लाह जानता है, हजूर को देखकर भूख-प्यास जाती रहती है। बड़े-बड़े घर की औरतें देखी हैं, मुदा हजूर के तलुओं की बराबरी भी नहीं कर सकतीं।

देवी—चल झूठे! मैं ऐसी कौन बड़ी खूबसूरत हूँ।

मुन्नू—अब सरकार से क्या कहूँ। बड़ी-बड़ी खत्रानियों को देखता हूँ, मगर गोरेपन के सिवा और कोई बात नहीं। उनमें यह नमक कहाँ सरकार!

देवी—एक रुपये मे तुम्हारा काम चल जायगा ?

मुन्नू—भला सरकार, दो रुपये तो दे दें।

देवी—अच्छा, यह लो और जाओ।

मुन्नू—जाता हूँ सरकार! आप नाराज न हों, तो एक बात पूछूँ?

देवी—क्या पूछते हो, पूछो; मगर जल्दी, मुझे चूल्हा जलाना है।

मुन्नू—तो सरकार जायँ, फिर कभी कहूँगा।

देवी—नहीं-नहीं, कहो, क्या बात है? अभी कुछ ऐसी जल्दी नहीं है।

मुन्नू—दालमण्डी में सरकार के कोई रहते हैं क्या?

देवी—नहीं, यहाँ तो कोई नातेदार नहीं है।

मुन्नू—तो कोई दोस्त होंगे। सरकार को अक्सर एक कोठे पर से उतरते देखता हूँ।

देवी—दालमण्डी तो रण्डियों का मुहल्ला है?

मुन्नू—हाँ सरकार, रण्डियाँ बहुत हैं वहाँ, लेकिन सरकार तो सीधे-सादे आदमी मालूम होते हैं। यहाँ रात को देर से तो नहीं आते?

देवी—नहीं, शाम होने से पहले ही आ जाते हैं और फिर कही नही जाते। हाँ, कभी-कभी लाइब्रेरी अलबत्ता जाते हैं।

मुन्नू—बस-बस, यही बात है हजूर। मौका मिले, तो इशारे से समझा दीजिएगा सरकार, कि रात को उधर न जाया करें। आदमी का दिल कितना ही साफ हो, लेकिन देखनेवाले तो शक करने लगते हैं।

इतने ही में बाबू श्यामकिशोर आ गये। मुन्नू ने उन्हे सलाम किया, बाल्टी उठाई और चलता हुआ।

श्यामकिशोर ने पूछा—मुन्नू क्या कह रहा था?

देवी—कुछ नहीं, अपने दुखड़े रो रहा था। खाने को माँगता था। दो रुपये दे दिये हैं। बातचीत बड़े ढग से करता है।

श्याम०—तुम्हें तो बातें करने का मरज़ है। और कोई नहीं, मेहतर ही सही। इस भुतने से न-जाने तुम कैसे बातें करती हो!

देवी—मुझे उसकी सूरत लेकर क्या करना है। ग़रीब आदमी है। अपना दुख सुनाने लगता है, तो कैसे न सुनूँ?

बाबू साहब ने बेले का गज़रा रूमाल से निकालकर देवी के गले में डाल दिया, किन्तु देवी के मुख पर प्रसन्नता का कोई चिह्न न दिखाई दिया। तिरछी निगाहों से देखकर बोलीं—आप आज-कल दालमण्डी की सैर बहुत किया करते हैं?

श्याम०—कौन? मैं?

देवी—जी हाँ, तुम। मुझसे तो लाइब्रेरी का बहाना करके जाते हो, और वहाँ जल्से होते हैं!

श्याम०—बिलकुल झूठ, सोलहो आने झूठ। तुमसे कौन कहता था? यही मुन्नू?

देवी मुन्नू ने मुझसे कुछ नहीं कहा, पर मुझे तुम्हारी टोह मिलती रहती है।

श्याम०—तुम मेरी टोह मत लिया करो। शक करने से आदमी शक्की हो जाता है, और तब बड़े-बड़े अनर्थ हो जाते हैं। भला, मैं दालमण्डी क्यों जाने लगा? तुमसे बढकर दालमण्डी में और कौन है? मैं तो तुम्हारो इन मद-भरी आँखों का आशिक हूँ। अगर अप्सरा भी सामने आ जाय, तो आँख उठाकर न देखूँ। आज शारदा कहाँ है?

देवी—नीचे खेलने चली गई है?

श्याम०—नीचे मत जाने दिया करो। इक्के, मोटरें, बग्घियाँ दौड़ती रहती हैं। न-जाने कब क्या हो जाय। आज ही अरदलोबाज़ार में एक वारदात हो गई। तीन लड़के एक साथ दब गये।

देवी—तीन लड़के!! बड़ा गज़ब हो गया। किसकी मोटर थी?

श्याम०—इसका अभी तक पता नहीं चला। ईश्वर जानता है, तुम्हें यह गजरा बहुत खिल रहा है!

देवी—(मुसकिराकर) चलो, बातें न बनाओ।

(२)

तीसरे दिन मुन्नू ने देवी से कहा—सरकार, एक जगह सगाई ठीक हो रही है; देखिए, क़ौल से फिर न जाइएगा। मुझे आपका बड़ा भरोसा है।

देवो—देख ली औरत? कैसी है?

मुन्नू—सरकार, जैसी तकदीर में है, वैसी है। घर की रोटियाँ तो मिलेंगी, नहीं तो अपने हाथों ठोकना पड़ता था। है क्या कि मिजाज की सीधो है। हमारे जात की औरतें बड़ी चञ्चल होती हैं, हजूर! सैकड़े पीछे एक भी पाक न मिलेगी।

देवी—मेहतर लोग अपनी औरतों को कुछ कहते नहीं ?

मुन्नू—क्या कहें हजूर ! डरते हैं कि कहीं अपने आसना से चुगली खाकर हमारी नौकरी-चाकरी न छुड़ा दे । मेहतरानियों पर बाबू साहबों की बहुत निगाह रहती है, सरकार !

देवी—(हँसकर) चल झूठे ! बाबू साहबों की औरतें क्या मेहतरानियों से भी गई-गुज़री होती हैं !

मुन्नू—अब सरकार कुछ न कहलायें । हजूर को छोड़कर और तो कोई ऐसी बहुआइन नहीं देखता, जिसका कोई बखान करे । बहुत ही छोटा आदमी हूँ सरकार, पर इन बहुआइनों की तरह मेरी औरत होती, तो उससे बोलने को जी न चाहता । हजूर के चेहरे-मुहरे की कोई औरत मैंने तो नहीं देखी ।

देवी—चल झूठे, इतनी खुशामद करना किससे सीखा ?

मुन्नू—खुसामद नहीं करता सरकार, सच्ची बात कहता हूँ । हजूर एक दिन खिड़की के सामने खड़ी थीं । रजा मियाँ की निगाह आप पर पड़ गई । जूते की बड़ी दूकान है उनकी । अल्लाह ने जैसा धन दिया है, वैसा ही दिल भी । आपको देखते ही आँखें नीचे कर लीं । आज बातों-बातों मे हजूर की सकल-सूरत को सराहने लगे । मैंने कहा—जैसी सूरत है, वैसा सरकार को अल्लाह ने दिल भी दिया है ।

देवी—अच्छा, वह लाँबा-सा साँवले रङ्ग का जवान ?

मुन्नू—हाँ हजूर, वही । मुझसे कहने लगे कि किसी तरह एक बार फिर उन्हें देख पाता ; लेकिन मैंने डाँटकर कहा—खबरदार मियाँ, जो मुझसे ऐसी बातें कीं । वहाँ तुम्हारी दाल न गलेगी ।

देवी—तुमने बहुत अच्छा किया । निगोड़े की आँखें फूट जायँ, जब इधर से जाता है, खिड़की की ओर उसकी निगाह रहती है । कह देना—इधर भूलकर भी न ताके !

मुन्नू—कह दिया है हजूर ! हुकुम हो तो चलूँ । और तो कुछ साफ नहीं करना है ? सरकार के आने की बेला हो गई, मुझे देखेंगे तो कहेंगे—यह क्या बातें कर रहा है ।

देवी—ये रोटियाँ लेते जाओ । आज चूल्हे से बच जाओगे ।

मुन्नू—अल्लाह हजूर को सलामत रखे । मेरा तो यही जी चाहता है कि इसी

दरवाजे पर पड़ा रहूँ और एक टुकड़ा खा लिया करूँ। सच कहता हूँ, हजूर को देख-कर भूख-प्यास जाती रहती है।

मुन्नू जा ही रहा था कि बाबू श्यामकिशोर ऊपर आ पहुँचे। मुन्नू की पिछली बात उनके कानों में पड़ गई थी। मुन्नू ज्योंही नीचे गया, बाबू साहब देवी से बोले— मैंने तुमसे कह दिया था कि मुन्नू को मुँह न लगाओ, पर तुमने मेरी बात न मानी। छोटे आदमी एक घर की बात दूसरे घर पहुँचा देते हैं, इन्हें कभी मुँह न लगाना चाहिए। भूख-प्यास बन्द होने की क्या बात थी?

देवी—क्या जानें, भूख-प्यास कैसी? ऐसी तो कोई बात न थी।

श्याम०—थी क्यों नहीं, मैंने साफ सुना?

देवी—मुझे तो खयाल नहीं आता। होगी कोई बात। मैं कौन उसकी सब बातें बैठी सुना करती हूँ।

श्याम०—तो क्या वह दीवार से बातें करता है? देखो, नीचे कोई आदमी इस खिड़की की तरफ ताकता चला जाता है। इसी महल्ले का एक मुसलमान लौंडा है। जूते की दूकान करता है। तुम क्या इस खिड़की पर खड़ी रहा करती हो?

देवी—चिक तो पड़ी हुई है।

श्याम०—चिक के पास खड़े होने से बाहर का आदमी तुम्हें साफ देख सकता है।

देवी—यह मुझे मालूम न था। अब कभी खिड़की खोलूँगी ही नहीं।

श्याम०—हाँ, क्या फायदा? मुन्नू को अन्दर मत आने दिया करो।

देवी—गुसलखाना कौन साफ करेगा?

श्याम०—खैर आये, मगर उससे तुम्हें बातें न करनी चाहिएँ। आज एक नया थिएटर आया है। चलो, देख आयें। सुना है, इसके ऐक्टर बहुत अच्छे हैं।

इतने में शारदा नीचे से मिठाई का एक दोना लिये दौड़ती हुई आई। देवी ने पूछा—अरी, यह मिठाई किसने दी?

शारदा—राजा-भैया ने तो दी है। कहते थे—तुमको अच्छे-अच्छे खिलौने ला दूँगा।

श्याम०—राजा-भैया कौन है?

शारदा—वही तो हैं, जो अभी इधर से गये हैं।

श्याम०—वही तो नहीं, जो लम्बा-सा साँवले रंग का आदमी है?

शारदा—हाँ-हाँ, वही-वही। मैं अब उनके घर रोज़ जाऊँगी।

देवी—क्या तू उसके घर गई थी?

शारदा—वही तो गोद में उठाकर ले गये।

श्याम०—तू नीचे खेलने मत जाया कर। किसी दिन मोटर के नीचे दब जायगी। देखती नहीं, कितनी मोटरें आती रहती हैं।

शारदा—राजा-भैया कहते थे, तुम्हें मोटर पर हवा खिलाने ले चलेंगे।

श्याम०—तुम बैठी-बैठी क्या किया करती हो, जो तुमसे एक लड़की की निगरानी भी नहीं हो सकती?

देवी—इतनी बड़ी लड़की को संदूक मे बन्द करके नहीं रखा जा सकता।

श्याम०—तुम जवाब देने में तो बहुत तेज़ हो, यह मैं जानता हूँ। यह क्यों नहीं कहतीं कि बातें करने से फ़ुरसत नहीं मिलती।

देवी—बातें मैं किससे करती हूँ। यहाँ तो कोई पड़ोसिन भी नहीं?

श्याम०—मुन्नू तो हुई है!

देवी—(ओठ चबाकर) मुन्नू क्या मेरा कोई सगा है, जिससे बैठी बातें किया करती हूँ! ग़रीब आदमी है, अपना दुःख रोता है, तो क्या कह दूँ? मुझसे तो दुत्कारते नहीं बनता।

श्याम०—ख़ैर, खाना बना लो, नौ बजे तमाशा शुरू हो जायगा। सात बज गये हैं।

देवी—तुम जाओ, देख आओ, मैं न जाऊँगी।

श्याम०—तुम्हीं तो महीनों से तमाशे की रट लगाये हुए थीं। अब क्या हो गया? क्या तुमने कसम खा ली है कि यह जो बात कहें, वह कभी न मानूँगी?

देवी—जाने क्यों तुम्हारा ऐसा खयाल है। मैं तो तुम्हारी इच्छा पाकर ही कोई काम करती हूँ। मेरे जाने से कुछ और पैसे खर्च हो जायँगे, और रुपये कम पड़ जायँगे तो तुम मेरी जान खाने लगोगे, यही सोचकर मैंने कहा था। अब तुम कहते हो, तो चली चलूँगी। तमाशा देखना किसे बुरा लगता है।

(३)

नौ बजे श्यामकिशोर एक ताँगे पर बैठकर देवी और शारदा के साथ थियेटर देखने चले। सड़क पर थोड़ी ही दूर गये थे कि पीछे से एक और ताँगा आ पहुँचा। इस पर रज़ा बैठा हुआ था, और उसके बग़ल में—हाँ, उसके बगल में—बैठा था

मुन्नू मेहतर, जो बाबू साहब के घर की सफ़ाई करता था। देवी ने उन दोनों को देखते ही सिर झुका लिया। उसे आश्चर्य हुआ कि रज़ा और मुन्नू में इतनी गाढ़ी मित्रता है कि रज़ा उसे ताँगे पर बिठाकर सैर कराने ले जाता है। शारदा रजा को देखते ही बोल उठी—बाबूजी, देखो वह राजा-भैया आ रहे हैं। (ताली बजाकर) राजा-भैया, इधर देखो, हम लोग तमाशा देखने जा रहे हैं।

रज़ा ने मुसकिरा दिया, मगर बाबू साहब मारे क्रोध के तिलमिला उठे। उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि ये दुष्ट केवल मेरा पीछा करने के लिए आ रहे हैं। इन दोनों में जरूर साँठ-गाँठ है। नहीं तो रज़ा मुन्नू को साथ क्यों लेता ? उनसे पीछा छुड़ाने के लिए उन्होंने ताँगेवालेसे कहा--और तेज़ ले चलो, देर हो रही है। ताँगा तेज हो गया। रज़ा ने भी अपना ताँगा तेज़ किया। बाबू साहब ने जब ताँगे को धीमा करने को कहा, तो रज़ा का ताँगा भी धीमा हो गया। आखिर बाबू साहब ने झुँझ-लाकर कहा--तुम ताँगे को छावनी की ओर ले चलो, हम थिएटर देखने न जायँगे। ताँगेवाले ने उनकी ओर कुतूहल से देखा, और ताँगा फेर दिया। रज़ा का ताँगा भी फिर गया। बाबू बाहब को इतना क्रोध आ रहा था कि रज़ा को ललकारूँ ; पर डरते थे कि कहीं झगड़ा हो गया, तो बहुत-से आदमी जमा हो जायँगे और व्यर्थ ही झेंप होगी। लहू का घूँट पीकर रह गये। अपने ही ऊपर झुँझलाने लगे कि नाहक आया। क्या जानता था कि ये दोनों शैतान सिर पर सवार हो जायँगे। मुन्नू को तो कल ही निकाल दूँगा। बारे रज़ा का ताँगा कुछ दूर चलकर दूसरी तरफ मुड़ गया, और बाबू साहब का क्रोध कुछ शांत हुआ, किन्तु अब थियेटर जाने का समय न था। छावनी से घर लौट आये।

देवी ने कोठे पर आकर कहा--मुफ्त में ताँगेवाले को दो रुपये देने पड़े।

श्यामकिशोर ने उसकी ओर रक्त-शोषक दृष्टि से देखकर कहा—और मुन्नू से बातें करो, और खिड़की पर खड़ी हो-होकर रज़ा को छवि दिखाओ। तुम न-जाने क्या करने पर तुली हुई हो !

देवी--ऐसी बातें मुँह से निकालते तुम्हें शर्म नहीं आती ? तुम मेरा व्यर्थ ही अपमान करते हो, इसका फल अच्छा न होगा। मैं किसी मर्द को तुम्हारे पैरों की धूल के बराबर भी नहीं समझती, उस अभागे मेहतर की क्या हकीक़त है। तुम मुझे इतनी नीच समझते हो ?

श्याम०—नहीं, मैं तुम्हें इतना नीच नहीं समझता, मगर बेसमझ ज़रूर समझता हूँ। तुम्हें इस बदमाश को कभी मुँह न लगाना चाहिए था। अब तो तुम्हें मालूम हो गया कि वह छटा हुआ शोहदा है, या अब भी कुछ शक है?

देवी—मैं उसे कल ही निकाल दूँगी।

मुंशीजी लेटे; पर चित्त अशांत था। वह दिन-भर दफ्तर में रहते थे। क्या जान सकते थे कि उनके पीछे देवी क्या करती है। वह यह जानते थे कि देवी पतिव्रता है, पर यह भी जानते थे कि अपनी छवि दिखाने का सुन्दरियों को मरज़ होता है। देवी जरूर बन-ठनकर खिड़की पर खड़ी होती है, और महल्ले के शोहदे उसको देख-देखकर मन में न जाने क्या-क्या कल्पना करते होंगे। इस व्यापार को बन्द कराना उन्हें अपने क़ाबू से बाहर मालूम होता था। शोहदे वशीकरण की कला में निपुण होते हैं। ईश्वर न करे, इन बदमाशों की निगाह किसी भले घर की बहू-बेटी पर पड़े! इनसे कैसे पिंड छुड़ाऊँ?

बहुत सोचने के बाद अन्त में उन्होंने वह मकान छोड़ देने का निश्चय किया। इसके सिवा उन्हें दूसरा उपाय न सूझा। देवी से बोले—कहो, तो यह घर छोड़ दूँ। इन शोहदों के बीच में रहने से आबरू बिगड़ने का भय है। देवी ने आपत्ति के भाव से कहा—जैसी तुम्हारी इच्छा!

श्याम०—आखिर तुम्हीं कोई उपाय बताओ।

देवी—मैं कौन-सा उपाय बताऊँ, और किस बात का उपाय? मुझे तो घर छोड़ने की कोई जरूरत नहीं मालूम होती। एक-दो नहीं, लाख-दो लाख शोहदे हों, तो क्या। कुत्तों के भूकने के भय से कोई अपना मकान छोड़ देता है!

श्याम०—कभी-कभी कुत्ते काट भी तो लेते हैं।

देवी ने इसका कोई जवाब न दिया और तर्क करने से पति की दुश्चिन्ताओं के बढ़ जाने का भय था। यह शक्की तो हैं ही, न-जाने उसका क्या आशय समझ बैठें।

तीसरे ही दिन श्याम बाबू ने वह मकान छोड़ दिया।

(४)

इस नये मकान में आने के एक सप्ताह पीछे एक दिन मुन्नू सिर मे पट्टी बाँधे, लाठी टेकता हुआ आया, और आवाज़ दी। देवी उसकी आवाज पहचान गई, पर उसे दुत्कारा नहीं। जाकर केवाड़ खोल दिये। पुराने घर के समाचार जानने के लिए

उसका चित्त लालायित हो रहा था। मुन्नू ने अन्दर आकर कहा—सरकार, जबसे आपने वह मकान छोड़ दिया, कसम ले लिजिए, जो उधर एक बार भी गया हूँ। उस घर को देखकर रोना आने लगता है। मेरा भी जी चाहता है कि इसी महल्ले मे आ जाऊँ। पागलों की तरह इधर-उधर मारा फिरा करता हूँ सरकार, किसी काम मे जी नहीं लगता। बस, हर घड़ी आप ही की याद आती रहती है। हजूर जितनी परवरिस करती थीं, उतनी अब कौन करेगा? यह मकान तो बहुत छोटा है।

देवी—तुम्हारे ही कारन तो वह मकान छोड़ना पड़ा।

मुन्नू—मेरे कारन! मुझसे कौन-सी खता हुई, सरकार?

देवी—तुम्हीं तो ताँगे पर रज़ा के साथ बैठे मेरे पीछे चले आ रहे थे। ऐसे आदमी पर आदमी को शक होता ही है!

मुन्नू—अरे सरकार, उस दिन की बात कुछ न पूछिए। रजा मियाँ को एक वकील साहब से मिलने जाना था। वह छावनी मे रहते है। मुझे भी साथ बिठा लिया। उनका साईस कहीं गया हुआ था। मारे लिहाज़ के आपके ताँगे के आगे न निकालते थे। सरकार उसे शोहदा कहती हैं। उसका-सा भला आदमी महल्ले-भर मे नहीं है। पाँचो वखत की नमाज पढता है हजूर, तीसो रोजे रेखता है। घर मे बीबी-बच्चे सभी मौजूद हैं। क्या मजाल कि किसी पर बदनिगाह हो।

देवी - खैर होगा, तुम्हारे सिर में पट्टी क्यों बँधी है?

मुन्नू - इसका माजरा न पूछिए हजूर! आपकी बुराई करते किसी को देखता हूँ, तो बदन मे आग लग जाती है। दरवाजे पर जो हलवाई रहता न था, कहने लगा - मेरे कुछ पैसे बाबूजी पर आते हैं। मैंने कहा—वह ऐसे आदमी नहीं हैं कि तुम्हारे पैसे हजम कर जाते। बस, हजूर, इसी बात पर तकरार हो गई। मैं तो दूकान के नीचे नाली धो रहा था। वह ऊपर से कूदकर आया, और मुझे ढकेल दिया। मैं बेखबर खड़ा था, चारों खाने चित सड़क पर गिर पड़ा। चोट तो आई, मगर मैंने भी दूकान के सामने बचा को इतनी गालियाँ सुनाई कि याद ही करते होंगे। अब घाव अच्छा हो रहा है, हजूर।

देवी— राम! राम! नाहक लड़ाई लेने गये। सीधी-सी बात तो थी। कह देते—तुम्हारे पैसे आते है, तो जाकर माँग लाओ। है तो शहर ही मे, किसी दूसरे देश तो नहीं भाग गये?

मुन्नू—हजूर, आपकी बुराई सुनके नहीं रहा जाता, फिर चाहे वह अपने घर का लाट ही क्यों न हो, भिड़ पड़ूँगा। वह महाजन होगा, तो अपने घर का होगा। यहाँ कौन उसका दिया खाते हैं।

देवी—उस घर में अभी कोई आया कि नहीं?

मुन्नू—कई आदमी देखने आये हजूर, मगर जहाँ आप रह चुकी हैं, वहाँ अब दूसरा कौन रह सकता है? हम लोगों ने उन लोगों को भड़का दिया। रज़ा मियाँ तो हजूर, उसी दिन से खाना-पीना छोड़ बैठे हैं। बिटिया को याद कर-करके रोया करते हैं। हजूर को हम गरीबों की याद काहे को आती होगी?

देवी—याद क्यों नहीं आती? क्या मैं आदमी नहीं हूँ? जानवर तक थान छूटने पर दो-चार दिन चारा नहीं खाते। यह पैसे लो, कुछ बाजार से लाकर खा लो। भूखे होगे।

मुन्नू—हजूर की दुआ से खाने की तगी नहीं है। आदमी का दिल देखा जाता है हजूर, पैसों की कौन बात है। आपका दिया तो खाते ही हैं। हजूर का मिजाज ऐसा है कि आदमी बिना कौड़ी का गुलाम हो जाता है। तो अब चलूँगा हजूर, बाबूजी आते होंगे। कहेंगे—यह सैतान यहाँ फिर आ पहुँचा।

देवी—अभी उनके आने में बड़ी देर है।

मुन्नू—ओहो, एक बात तो भूला ही जाता था। रज़ा मियाँ ने बिटिया के लिए ये खिलौने दिये थे। बातों में ऐसा भूल गया कि इनकी सुध ही न रही। कहाँ है बिटिया?

देवी—अभी तो मदरसे से नहीं आई, मगर इतने खिलौने लाने की क्या ज़रूरत थी? अरे! रज़ा ने तो ग़ज़ब ही कर दिया। भेजना ही था, तो दो-चार आने के खिलौने भेज देते। अकेली मेम तीन-चार रुपये से कम की न होगी। कुल मिलाकर तीस-पैंतीस रुपये से कम के खिलौने नहीं हैं।

मुन्नू—क्या जानें सरकार, मैंने तो कभी खिलौने नहीं खरीदे। तीस-पैंतीस रुपये के ही होंगे, तो उनके लिए कौन बड़ी बात है? अकेली दूकान से पचास रुपये रोज की आमदन है, हजूर!

देवी—नहीं, इनको लौटा ले जाओ। इतने खिलौने लेकर वह क्या करेगी? मैं एक मेम रखे लेती हूँ।

मुन्नू—हजूर, रज़ा मियाँ को बड़ा रज होगा। मुझे तो जीता ही न छोड़ेंगे। बड़े ही मुहब्बती आदमी हैं हुजूर! बीवी दो-चार दिन के लिए मैके चली जाती है, तो बेचैन हो जाते हैं।

सहसा शारदा पाठशाला से आ गई, और खिलौने देखते ही उनपर टूट पड़ी। देवी ने डाँटकर कहा—क्या करती है, क्या करती है! मेम ले ले, और सब लेकर क्या करेगी?

शारदा--मैं तो सब लूँगी। मेम को मोटर पर बैठाकर दौड़ाऊँगी। कुत्ता पीछे-पीछे दौड़ेगा। इन बरतनों में गुड़िया के खाने बनाऊँगी। कहाँ से आये हैं अम्माँ? बता दो।

देवी--कहीं से नहीं आये, मैंने देखने को मँगवाये थे। तू इनमें से कोई एक ले ले।

शारदा—मैं सब लूँगी, मेरी अम्माँ न, सब ले लीजिए। कौन लाया है, अम्माँ?

देवी - मुन्नू, तुम खिलौने लेकर जाओ। एक मेम रहने दो।

शारदा —कहाँ से लाये हो मुन्नू, बता दो?

मुन्नू—तुम्हारे राजा-भैया ने तुम्हारे लिए भेजे हैं।

शारदा—राजा-भैया ने भेजे हैं। ओ हो! (नाचकर) राजा-भैया बड़े अच्छे हैं। कल अपनी सहेलियों को दिखलाऊँगी। किसी के पास ऐसे खिलौने न निकलेंगे।

देवी—अच्छा मुन्नू, तुम अब जाओ। रज़ा मियाँ से कह देना, फिर यहाँ खिलौने न भेजें।

मुन्नू चला गया, तो देवी ने शारदा से कहा—ला बेटी, तेरे खिलौने रख दूँ। बाबूजी देखेंगे, तो बिगड़ेंगे। कहेंगे, रज़ा मियाँ के खिलौने क्यों लिये। तोड़-ताड़कर फेंक देंगे। भूलकर भी उनसे खिलौनों की चरचा न करना।

शारदा—हाँ, अम्माँ, रख दो। बाबूजी तोड़ देंगे।

देवी--उनसे कभी मत कहना कि राजा-भैया ने खिलौने भेजे हैं, नहीं तो बाबूजी राजा भैया को मारेंगे, और तुम्हारे कान भी काट लेंगे। कहेंगे, लड़की भिखमगी है, सबसे खिलौने माँगती फिरती है।

शारदा—मैं उनसे कुछ न कहूँगी अम्माँ! रख दो सब खिलौने।

इतने में बाबू श्यामकिशोर भी दफ्तर से आ गये। भौहें चढ़ी हुई थीं। आते-ही-आते बोले—वह शैतान मुन्नू इस मुहल्ले में भी आने लगा। मैंने आज उसे देखा। क्या यहाँ भी आया था ?

देवी ने हिचकिचाते हुए कहा—हाँ, आया तो था।

श्याम०—और तुमने आने दिया ? मैंने मना न किया था कि उसे कभी अन्दर क़दम न रखने देना।

देवी—आकर द्वार खटखटाने लगा, तो क्या करती ?

श्याम०—उसके साथ वह शोहदा भी रहा होगा ?

देवी—उसके साथ और कोई नहीं था।

श्याम०—तुमने आज भी न कहा होगा, यहाँ मत आया कर।

देवी—मुझे तो इसका खयाल न रहा। और अब वह यहाँ क्या करने आयेगा ?

श्याम०—जो करने आज आया था, वही करने फिर आयेगा। तुम मेरे मुँह में कालिख लगाने पर तुली हुई हो।

देवी ने क्रोध से ऐंठकर कहा—मुझसे तुम ऐसी ऊटपटाँग बातें मत किया करो, समझ गये। तुम्हें ऐसी बातें मुँह से निकालते शर्म भी नहीं आती ? एक बार पहले भी तुमने कुछ ऐसी ही बातें कही थीं। आज फिर तुम वही बात कर रहे हो। अगर तीसरी बार ये शब्द मैंने सुने तो नतीजा बुरा होगा, इतना कहे देती हूँ, तुमने मुझे कोई वेश्या समझ लिया है ?

श्याम०—मैं नहीं चाहता कि वह मेरे घर आये।

देवी—तो मना क्यों नहीं कर देते ? मैं तुम्हे रोकती हूँ ?

श्याम०—तुम क्यों नहीं मना कर देतीं ?

देवी—तुम्हें कहते क्या शर्म आती है ?

श्याम०—मेरा मना करना व्यर्थ है। मेरे मना करने पर भी तुम्हारी इच्छा पाकर उसका आना-जाना होता रहेगा।

देवी ने ओंठ चबाकर कहा—अच्छा, अगर वह आता ही रहे, तो इससे क्या हानि है ? मेहतर सभी घरों में आया-जाया करते हैं।

श्याम०—अगर मैंने मुन्नू को कभी अपने द्वार पर फिर देखा, तो तुम्हारा कुशल नहीं, इतना समझाये देता हूँ।

यह कहते हुए श्यामकिशोर नीचे चले गये, और देवी स्तम्भित-सी खड़ी रह गई। तब उसका हृदय इस अपमान, लाछन और अविश्वास के आघात से पीड़ित हो उठा। वह फूट-फूटकर रोने लगी। उसको सबसे बड़ी चोट जिस बात से लगी, वह यह थी कि मेरे पति मुझे इतनी नीच, इतनी निर्लज्ज समझते हैं। जो काम वेश्या भी न करेगी, उसका सदेह मुझ पर कर रहे हैं।

(५)

श्यामकिशोर के आते ही शारदा अपने खिलौने उठाकर भाग गई थी कि कहीं बाबूजी तोड़ न डालें। नीचे जाकर वह सोचने लगी कि इन्हे कहाँ छिपाकर रखूँ। वह इसी सोच में थी कि उसकी एक सहेली आँगन में आ गई। शारदा उसे अपने खिलौने दिखाने के लिए आतुर हो गई। इस प्रलोभन को वह किसी तरह न रोक सकी। अभी तो बाबूजी ऊपर हैं, कौन इतनी जल्दी आये जाते हैं। तब तक क्यों न सहेली को अपने खिलौने दिखा दूँ? उसने सहेली को बुला लिया, और दोनो नये खिलौने देखने में मग्न हो गई कि बाबू श्यामकिशोर के नीचे आने की भी उन्हें खबर न हुई। श्यामकिशोर खिलौने देखते ही झपटकर शारदा के पास जा पहुँचे और पूछा—तूने ये खिलौने कहाँ पाये?

शारदा की घिग्घी बँध गई। मारे भय के थरथर काँपने लगी। उसके मुँह से एक शब्द भी न निकला।

श्यामकिशोर ने फिर गरजकर पूछा—बोलती क्यों नहीं, तुझे किसने खिलौने दिये?

शारदा रोने लगी। तब श्यामकिशोर ने उसे फुसलाकर कहा—रो मत, हम तुझे मारेंगे नहीं। तुझसे इतना ही पूछते हैं, तूने ऐसे सुन्दर खिलौने कहाँ पाये?

इस तरह दो चार बार दिलासा देने से शारदा को कुछ धैर्य बँधा। उसने सारी कथा कह सुनाई। हा अनर्थ! इससे कहीं अच्छा होता कि शारदा मौन ही रहती। उसका गूँगी हो जाना भी इससे अच्छा था। देवी कोई बहाना करके बला सिर से टाल देती, पर होनहार को कौन टाल सकता है? श्यामकिशोर के रोम-रोम से ज्वाला निकलने लगी। खिलौने वहीं छोड़ वह धम-धम करते हुए ऊपर गये और देवी के कन्धे दोनों हाथों से झँझोड़कर बोले—तुम्हें इस घर में रहना है या नहीं? साफ-साफ कह दो। देवी अभी तक खड़ी सिसकियाँ ले रही थी। यह निर्मम प्रश्न सुनकर उसके आँसू गायब हो गये। किसी भारी विपत्ति की आशका ने इस हल्के-से आघात

को भुला दिया, जैसे घातक की तलवार देखकर कोई प्राणी रोग-शय्या से उठकर भागे। श्यामकिशोर की ओर भयातुर नेत्रों से देखा ; पर मुँह से कुछ न बोली। उसका एक-एक रोम मौन भाषा में पूछ रहा था—इस प्रश्न का क्या मतलब है ?

श्यामकिशोर ने फिर कहा—तुम्हारी जो इच्छा हो, साफ-साफ कह दो। अगर मेरे साथ रहते-रहते तुम्हारा जी ऊब गया हो, तो तुम्हें अख़्तियार है। मैं तुम्हें क़ैद करके नहीं रखना चाहता। मेरे साथ तुम्हें छल-कपट करने की ज़रूरत नहीं। मैं सहर्ष तुम्हें विदा करने को तैयार हूँ। जब तुमने मन में एक बात निश्चय कर ली, तो मैंने भी निश्चय कर लिया। तुम इस घर में अब नहीं रह सकती, रहने के योग्य नहीं हो।

देवी ने आवाज़ को सँभालकर कहा—तुम्हें आजकल क्या हो गया है, जो हर वक्त ज़हर उगलते रहते हो ! अगर मुझसे जी ऊब गया है, तो ज़हर दे दो, जला-जलाकर क्यों जान मारते हो ? मेहतर से बातें करना तो ऐसा अपराध न था। जब उसने आकर पुकारा, तो मैंने आकर द्वार खोल दिया। अगर मैं जानती कि जरा-सी बात का बतगड़ हो जायगा, तो उसे दूर ही से दुत्कार देती।

श्याम०—जी चाहता है, तालू से ज़बान खींच लें। बातें होने लगीं, इशारे होने लगे, तोहफे आने लगे। अब बाकी क्या रहा ?

देवी—क्यों नाहक़ घाव पर नमक छिड़कते हो ? एक अबला की जान लेकर कुछ पा न जाओगे !

श्याम०—मैं झूठ कहता हूँ ?

देवी—हाँ, झूठ कहते हो।

श्याम०—ये खिलौने कहाँ से आये ?

देवी का कलेजा धक्-से हो गया। काटो, तो बदन मे लहू नहीं। समझ गई, इस वक्त ग्रह बिगड़े हुए हैं, सर्वनाश के सभी संयोग मिलते जाते हैं। ये निगोड़े खिलौने न-जाने किस बुरी साइत मे आये ! मैंने लिये ही क्यों, उसी वक्त लौटा क्यों न दिये ! बात बनाकर बोली—आग लगे, वही खिलौने तोहफे हो गये ! बच्चों को कोई कैसे रोके, किसी की मानते हैं। कहती रही, मत ले, मगर न माने, तो मैं क्या करती। हाँ, यह जानती कि इन खिलौनों पर मेरी जान मारी जायगी, तो ज़बरदस्ती छीनकर फेंक देती।

श्याम०—इनके साथ और कौन-कौन-सी चीज़ें आई हैं, भला चाहती हो, तो अभी लाओ।

देवी—जो कुछ आया होगा, इसी घर ही मे तो होगा। देख क्यो नहीं लेते ? इतना बड़ा घर भी तो नहीं है कि दो-चार दिन देखते लग जायँ !

श्याम०—मुझे इतनी फ़ुरसत नहीं है। खैरियत इसी में है कि जो चीजें आई हों, लाकर मेरे सामने रख दो। यह तो हो ही नहीं सकता कि लड़की के लिए खिलौने आयें और तुम्हारे लिए कोई सौग़ात न आये। तुम भरी गंगा मे क़सम खाओ, तो भी मुझे विश्वास न आयेगा।

देवी—तो घर में देख क्यो नहीं लेते ?

श्यामकिशोर ने घूँसा तानकर कहा—कह दिया, मुझे फ़ुरसत नहीं है। सीधे से सारी चीज़ें लाकर रख दो, नहीं तो इसी दम गला दबाकर मार डालूँगा।

देवी—मारना हो, तो मार डालो, जो चीजें आई ही नहीं, उन्हे मैं दिखा कहाँ से दूँ।

श्यामकिशोर ने क्रोध से उन्मत्त होकर देवी को इतनी ज़ोर से धक्का दिया कि वह चारो खाने चित्त ज़मीन पर गिर पड़ी। तब उसके गले पर हाथ रखकर बोले—दबा दूँ गला ! न दिखलायेगी तू उन चीजों को ?

देवी—जो अरमान हों, पूरे कर लो।

श्याम०—खून पी जाऊँगा ! तूने समझा क्या है ?

देवी—अगर दिल की प्यास बुझती हो, तो पी जाओ।

श्याम०—फिर तो उस मेहतर से बातें न करेगी ! अगर अब कभी मुन्नू या उस शोहदे रज़ा को इस द्वार पर देखा, तो गला काट लूँगा।

यह कहकर बाबूजी ने देवी को छोड़ दिया, और बाहर चले गये, लेकिन देवी उसी दशा में बड़ी देर तक पड़ी रही। उसके मन में इस समय पति-प्रेम, और मर्यादा-रक्षा का लेश भी न था। उसका अ त करण प्रतीकार के लिए विकल हो रहा था। इस वक्त अगर वह सुनती कि श्यामकिशोर को किसी ने बाज़ार मे जूतों से पीटा, तो कदाचित् वह खुश होती। कई दिनों तक पानी से भीगने के बाद, आज यह झोंका पाकर प्रेम की दीवार भूमि पर गिर पड़ी, और मन की रक्षा करनेवाली कोई साधना न रही। अब केवल सकोच और लोक-लाज की हलकी-सी रस्सी रह गई है, जो एक झटके में टूट सकती है।

(६)

श्यामकिशोर बाहर चले गये, तो शारदा भी अपने खिलौने लिये हुए घर से निकली। बाबूजी खिलौनों को देखकर कुछ नहीं बोले, तो अब उसे किसकी चिन्ता और किसका भय! अब वह क्यों न अपनी सहेलियों को खिलौने दिखाये। सड़क के उस पार एक हलवाई का मकान था। हलवाई की लड़की अपने द्वार पर खड़ी थी। शारदा उसे खिलौने दिखाने चली। बीच में सड़क थी, सवारी गाड़ियों और मोटरों का ताँता बँधा हुआ था। शारदा को अपनी धुन में किसी बात का ध्यान न रहा। बालोचित उत्सुकता से भरी हुई वह खिलौने लिये दौड़ी। वह क्या जानती थी, मृत्यु भी उसी तरह उसके प्राणों का खिलौना खेलने के लिए दौड़ी आ रही है। सामने से एक मोटर आती हुई दिखाई दी। दूसरी ओर से एक बग्घी आ रही थी। शारदा ने चाहा, दौड़कर उस पार निकल जाय। मोटर ने बिगुल बजाया, पर शारदा उसके सामने आ चुकी थी। ड्राइवर ने मोटर को रोकना चाहा, शारदा ने भी बहुत ज़ोर मारा कि सामने से निकल जाय, पर होनहार को कौन टालता! मोटर बालिका को रौंदती हुई चली गई। सड़क पर केवल एक मांस की लोथ पड़ी रह गई। खिलौने ज्यों-के-त्यों थे। उनमें से एक भी न टूटा था! खिलौने रह गये, खेलनेवाला चला गया। दोनों में कौन स्थायी है और कौन अस्थायी, इसका फैसला कौन करे!

चारों ओर से लोग दौड़ पड़े। अरे! यह तो बाबूजी की लड़की है, जो ऊपर-वाले मकान में रहते हैं। लोथ कौन उठाये। एक आदमी ने लपककर द्वार पर पुकारा—जी! आपकी लड़की तो सड़क पर नहीं खेल रही थी? ज़रा नीचे आ जाइये।

देवी ने छज्जे पर खड़े होकर सड़क की ओर देखा, शारदा की लोथ पड़ी हुई थी। चीख मारकर बेतहाशा नीचे दौड़ी, और सड़क पर आकर बालिका को गोद में उठा लिया। उसके पैर थर-थर काँपने लगे। इस वज्रपात ने स्तम्भित कर दिया। रोना भी न आया।

महल्ले के कई आदमी पूछने लगे--बाबूजी कहाँ गये हैं? उनको कैसे बुलाया जाय?

देवी क्या जवाब देती। वह तो सज्ञाहीन-सी हो गई थी। लड़की की लाश को गोद में लिये, उसके रक्त से अपने वस्त्रों को भिगोती, आकाश की ओर ताक रही थी, मानो देवताओं से पूछ रही हो—क्या सारी विपत्तियाँ मुझी पर?

अँधेरा होता जाता था , पर बाबूजी का कहीं पता नहीं। कुछ मालूम भी नहीं, वह कहाँ गये हैं। धीरे-धीरे नौ बजे , पर अब तक बाबूजी न लौटे। इतनी देर तक वह कभी बाहर न रहते थे। क्या आज ही उन्हें भी ग़ायब होना था ? दस भी बज गये अब देवी रोने लगी। उसे लड़की की मृत्यु का इतना दु ख न था, जितना अपनी असमर्थता का। वह कैसे शव की दाहक्रिया करेगी ? कौन उसके साथ जायगा ? क्या इतनी रात गये कोई उसके साथ चलने पर तैयार होगा ? अगर कोई न गया, तो क्या उसे अकेले जाना पड़ेगा ? क्या रात-भर लोथ पड़ी रहेगी ?

ज्यों-ज्यों सन्नाटा होता जाता था, देवी को भय होता था। वह पछता रही थी कि मैं शाम ही को क्यों न इसे लेकर चली गई।

ग्यारह बजे थे सहसा किसी ने द्वार खोला। देवी उठकर खड़ी हो गई। समझी बाबूजी आ गये। उसका हृदय उमड़ आया और वह रोती हुई बाहर आई, पर आह! यह बाबूजी न थे, ये पुलिस के आदमी थे जो इस मामले की तहक़ीक़ात करने आये थे। पाँच बजे की घटना। तहकीक़ात होने लगी ग्यारह बजे। आखिर थानेदार भी तो आदमी है, वह भी तो सन्ध्या समय घूमने-फिरने जाता ही है।

घण्टे-भर तक तहक़ीकात होती रही। देवी ने देखा, अब सकोच से काम न चलेगा। थानेदार ने उससे जो कुछ पूछा, उसका उत्तर उसने निस्सकोच भाव से दिया। ज़रा भी न शरमाई, जरा भी न झिझकी। थानेदार भी दग रह गया।

जब सबके बयान लिखकर दारोगाजी चलने लगे, तो देवी ने कहा—आप उस मोटर का पता लगायेंगे ?

दारोगा—अब तो शायद ही उसका पता लगे।

देवी—तो उसको कुछ सज़ा न होगी ?

दारोगा—मजबूरी है। किसी को नम्बर भी तो मालूम नहीं।

देवी — सरकार इसका कुछ इ तजाम नहीं करती ? ग़रीबों के बच्चे इसी तरह कुचले जाते रहेंगे ?

दारोगा – इसका क्या इन्तजाम हो सकता है ? मोटरें तो बन्द नहीं हो सकती ?

देवी—कम-से-कम पुलिसवालों को यह तो देखना चाहिये कि शहर में कोई बहुत तेज़ न चलाये ? मगर आप लोग ऐसा क्यों करने लगें ? आपके अफसर भी तो मोटरों पर बैठते हैं। आप उनकी मोटरें रोकेंगे, तो नौकरी कैसे रहेगी ?

थानेदार लज्जित होकर चला गया। जब लोग सड़क पर पहुँचे, तो एक सिपाही ने कहा – मेहरिया बड़ी टनमन दिखात है।

थानेदार—अजी, इसने तो मेरा नातक़ा बद कर दिया। किस गज़ब का हुस्न पाया है। मगर कसम ले लो, जो मैंने एक बार भी उसकी तरफ निगाह की हो। ताकने की हिम्मत ही न पड़ती थी।

बाबू श्यामकिशोर बारह बजे के बाद नशे में चूर घर पहुँचे। उन्हें यह खबर रास्ते ही में मिल गई थी। रोते हुए घर मे दाखिल हुए। देवी भरी बैठी, थी सोच रखा था—आज चाहे जो हो जाय, पर फटकारूँगी ज़रूर। पर उनको रोते देखा, तो सारा गुस्सा गायब हो गया। खुद भी रोने लगी। दोनों बड़ी देर तक रोते रहे। इस विपत्ति ने दोनो के हृदयों को एक दूसरे की ओर बड़े जोर से खींचा। उन्हें ऐसा ज्ञात हुआ कि उनमें फिर पहले का-सा प्रेम जाग्रत हो गया है।

प्रात काल जब लोग दाह-क्रिया करके लौटे, तो श्यामकिशोर ने देवी की ओर स्नेह से देखकर करुण स्वर में कहा – तुम्हारा जी अकेले कैसे लगेगा?

देवी—तुम दस-पाँच दिन की छुट्टी न ले सकोगे?

श्याम०—यही मैं भी सोचता हूँ। पन्द्रह दिन की छुट्टी ले लूँ।

श्याम बाबू दफ्तर छुट्टी लेने चले गये। इस विपत्ति में भी आज देवी का हृदय जितना प्रसन्न था, उतना उधर महीनों से न हुआ था। बालिका को खोकर वह विश्वास और प्रेम पा गई थी, और यह उसके आँसू पोछने के लिए कुछ कम न था।

आह! अभागिनी! खुश मत हो। तेरे जीवन का वह अन्तिम काड होना अभी बाक़ी है, जिसकी आज तू कल्पना भी नहीं कर सकती।

(७)

दूसरे दिन बाबू श्यामकिशोर घर ही पर थे कि मुन्नू ने आकर सलाम किया। श्यामकिशोर ने ज़रा कड़ी आवाज़ में पूछा—क्या है जी, यह तुम क्यों बार-बार यहाँ आया करते हो?

मुन्नू बड़े दीन भाव से बोला—मालिक, कल की बात जो सुनता है, उसी को रंज होता है। मैं तो हजूर का गुलाम ठहरा। अब नौकर नहीं हूँ तो क्या, सरकार का नमक तो खा चुका हूँ। भला, वह कभी हड्डियों से निकल सकता है? कभी-कभी हाल-हवाल पूछने आ जाता हूँ। जब से कलवाली बात सुनी है, हजूर, ऐसा कलक हो

रहा है कि क्या कहूँ। कैसी प्यारी-प्यारी बच्ची थी कि देखकर दुख दूर हो जाता था। मुझे देखते ही मुन्नू-मुन्नु करके दौड़ती थी ; जब गैरों का यह हाल है, तो हजूर के दिल पर जो कुछ बीत रही होगी, हजूर ही जानते होंगे।

श्याम बाबू कुछ नर्म होकर बोले—ईश्वर की मरजी में इन्तजाम का क्या चारा? मेरा तो घर ही अँधेरा हो गया। अब यहाँ रहने को जी नहीं चाहता।

मुन्नू—मालकिन तो और भी बेहाल होंगी !

श्याम—हुआ ही चाहें। मैं तो उसे शाम-सवेरे खिला लिया करता था। मा तो दिन-भर साथ रहती थी। मैं तो काम-धन्धों में भूल भी जाऊँगा। वह कहाँ भूल सकती हैं। उनको तो सारी जिन्दगी का रोना है।

पति को मुन्नू से बातें करते सुनकर देवी ने कोठे पर से आँगन की ओर देखा। मुन्नू को देखकर उसकी आँखों में बे-अख्तियार आँसू भर आये। बोली—मुन्नू, मैं तो लुट गई !

मुन्नू—हजूर अब सबर कीजिये, रोने-धोने से क्या फायदा? यही सब अन्धेर देखकर तो कभी-कभी अल्लाह मियाँ को जालिम कहना पड़ता है। जो बेईमान हैं, दूसरों का गला काटते फिरते हैं, उनसे अल्लाह मियाँ भी डरते हैं। जो सीधे और सच्चे हैं, उन्हीं पर आफत आती है।

मुन्नू देवी को दिलासा देता रहा। श्याम बाबू भी उसकी बातों का समर्थन करते जाते थे। जब वह चला गया, तो बाबू साहब ने कहा—आदमी तो कुछ बुरा नहीं मालूम होता।

देवी ने कहा—मोहब्बती आदमी है। रज न होता तो यहाँ क्या आता।

(८)

पन्द्रह दिन गुज़र गये। बाबू साहब फिर दफ्तर जाने लगे। मुन्नू इसी बीच में फिर कभी न आया। अब तक तो देवी का दिन पति से बातें करने मे कट जाता था, लेकिन अब उनके चले जाने पर उसे बार-बार शारदा की याद आती। प्रायः सारा दिन रोते ही कटता था। मुहल्ले की दो-चार नीच जाति कीं औरतें आती थीं ; लेकिन देवी का उनसे मन न मिलता था, वे झूठी सहानुभूति सिखाकर देवी से कुछ ऐंठना चाहती थीं।

एक दिन कोई चार बजे मुन्नू फिर आया, और आँगन में खड़ा होकर बोला—मालकिन, मैं हूँ मुन्नू, जरा नीचे आ जाइयेगा।

देवी ने ऊपर ही से पूछा—क्या काम है? कहो तो।

मुन्नू—ज़रा आइये तो!

देवी नीचे आई, तो मुन्नू ने कहा—रजा मियाँ बाहर खड़े हैं, और हजूर से मातमपुरसी करते हैं।

देवी ने कहा—जाकर कह दो, ईश्वर की जो मरज़ी थी, वह हुई।

रजा दरवाजे पर खड़ा था। ये बातें उसने साफ सुनीं। बाहर ही से बोला—खुदा जानता है, जब यह खबर सुनी है, दिल के टुकड़े हुए जाते हैं। मैं ज़रा दिल्ली चला गया था। आज ही लौटकर आया हूँ। अगर मेरी मौजूदगी में यह वारदात हुई होती, तो और तो क्या कर सकता था, मगर मोटरवाले को बिला सजा कराये न छोड़ता, चाहे वह किसी राजा ही की मोटर होती। सारा शहर छान डालता। बाबू साहब चुपके होके बैठ रहे, यह भी कोई बात है! मोटर चलाकर क्या कोई किसी की जान ले लेगा! फूल सी मासूम बच्ची को ज़ालिमों ने मार डाला। हाय! अब कौन मुझे राजा-भैया कहकर पुकारेगा? खुदा की क़सम, उसके लिए दिल्ली से टोकरी-भर खिलौना ले आया हूँ। क्या जानता था कि यहाँ यह सितम हो गया। मुन्नू, देख यह तावीज़ ले जाकर बहूजी को दे दे। इसे अपने जूड़े में बाँध लेंगी। खुदा ने चाहा, तो उन्हें किसी तरह की दहशत या खटका न रहेगा। उन्हें बुरे-बुरे ख्वाब दिखाई देते होंगे, रात को नींद उचट जाती होगी, दिल घबराया करता होगा। ये सारी शिकायतें इस तावीज़ से दूर हो जायँगी। मैंने एक पहुँचे हुए फकीर से यह तावीज लिखाया है।

इसी तरह से रज़ा और मुन्नू उस वक्त तक एक-न-एक बहाने से द्वार से न टले; जब तक बाबू साहब आते न दिखाई दिये। श्यामकिशोर ने उन दोनों को जाते देख लिया। ऊपर जाकर गंभीर भाव से बोले—रज़ा क्या करने आया था?

देवी—यों ही मातमपुरसी करने आया था। आज दिल्ली से आया है। यह खबर सुनकर दौड़ा आया था।

श्याम०—मर्द मर्दों से मातमपुरसी करते हैं, या औरतों से?

देवी—तुम न मिले, तो मुझी से शोक प्रकट करके चला गया।

श्याम०—इसके यह माने हैं कि जो आदमी मुझसे मिलने आये, वह मेरे न रहने पर तुमसे मिल सकता है। इसमें कोई हरज़ नहीं, क्यों ?

देवी—सबसे मिलने मैं थोड़े ही जा रही हूँ।

श्याम०—तो रज़ा क्या मेरा साला है या ससुरा ?

देवी—तुम तो ज़रा-ज़रा-सी बात पर झल्लाने लगते हो।

श्याम०—यह ज़रा-सी बात है! एक भले घर की स्त्री एक शोहदे से बातें करे, यह ज़रा-सी बात है! तो बड़ी-सी बात किसे कहते हैं ? यह ज़रा-सी बात नहीं है कि यदि मैं तुम्हारी गरदन घोट दूँ, तो भी मुझे पाप न लगेगा; देखता हूँ, फिर तुमने वही रग पकड़ा। इतनी बड़ी सज़ा पाकर भी तुम्हारी आँखें नहीं खुलीं। अबकी क्या मुझे ले बीतना चाहती हो ?

देवी सन्नाटे में आ गई। एक तो लड़की का शोक! उस पर यह अपशब्दों की बौछार और भीषण आक्षेप! उसके सिर में चक्कर-सा आ गया। बैठकर रोने लगी। इस जीवन से तो मौत कहीं अच्छा! केवल यही शब्द उसके मुँह से निकले।

बाबू साहब गरजकर बोले—यही होगा, मत घबराओ, मत घबराओ, यही होगा। तुम मरना चाहती हो, तो मुझे भी तुम्हारे अमर होने की आकाक्षा नहीं है। जितनी जल्द तुम्हारे जीवन का अन्त हो जाय, उतना ही अच्छा। कुल में कलक तो न लगेगा ?

देवी ने सिसकियाँ लेते हुए कहा—क्यों एक अबला पर इतना अन्याय करते हो! तुम्हें ज़रा भी दया नहीं आती!

श्याम०—मैं कहता हूँ, चुप रह!

देवी—क्यों चुप रहूँ ? क्या किसी की ज़बान बन्द कर दोगे ?

श्याम०—फिर बोले जाती है ? मैं उठकर सिर तोड़ दूँगा ?

देवी - क्यों सिर तोड़ दोगे, कोई ज़बरदस्ती है ?

श्याम० अच्छा तो बुला, देखें तेरा कौन हिमायती है ?

यह कहते हुए बाबू साहब झल्लाकर उठे, और देवी को कई थप्पड़ और घूँसे लगा दिये, मगर वह न रोई, न चिल्लाई, न ज़बान से एक शब्द निकाला, केवल अर्थ-शून्य नेत्रों से पति की ओर ताकती रही, मानो यह निश्चय करना चाहती थी कि यह आदमी है या कुछ और।

जब श्यामकिशोर मार-पीटकर अलग खड़े हो गये, तो देवी ने कहा—दिल के अरमान अभी न निकले हों, तो और निकाल लो। फिर शायद यह अवसर न मिले।

श्यामकिशोर ने जवाब दिया—सिर काट लूँगा, सिर, तू है किस फेर में?

यह कहते हुए वह नीचे चले गये, झटके के साथ किवाड़ खोले, धमाके के साथ बन्द किये, और कहीं चले गये।

अब देवी की आँखों से आँसू की नदी बहने लगी।

(९)

रात के दस बज गये; पर श्यामकिशोर घर न लौटे। रोते-रोते देवी की आँखें सूज आईं। क्रोध में मधुर स्मृतियों का लोप हो जाता है। देवी को ऐसा ज्ञान होता था कि श्यामकिशोर को उसके साथ कभी प्रेम ही न था। हाँ, कुछ दिनों वह उसका मुँह अवश्य जोहते रहते थे; लेकिन वह बनावटी प्रेम था। उसके यौवन का आनन्द लूटने ही के लिए उससे मीठी-मीठी प्यार की बातें की जाती थीं। उसे छाती से लगाया जाता था, उसे कलेजे पर सुलाया जाता था। वह सब दिखावा था, स्वाँग था। उसे याद ही न आता था कि कभी उससे सच्चा प्रेम किया गया। अब वह रूप नहीं रहा, वह यौवन नहीं रहा, वह नवीनता नहीं रही। फिर उसके साथ क्यों न अत्याचार किये जायँ। उसने सोचा—कुछ नहीं! अब इनका दिल मुझसे फिर गया है, नहीं तो क्या इस ज़रा-सी बात पर यों मुझ पर टूट पड़ते। कोई-न-कोई लाछन लगाकर मुझसे गला छुड़ाना चाहते हैं। यही बात है, तो मैं क्या इनकी रोटियों और इनकी मार खाने के लिए इस घर मे पड़ी रहूँ? जब प्रेम ही नहीं रहा, तो मेरे यहाँ रहने को धिक्कार है! मैके में कुछ न सही, यह दुर्गति तो न होगी। इनकी यही इच्छा है, तो यही सही। मै भी समझ लूँगी कि विधवा हो गई।

ज्यों-ज्यों रात गुज़रती थी, देवी के प्राण सूखे जाते थे। उसे यह धड़का समाया हुआ था कि कहीं वह आकर फिर न मार-पीट शुरू कर दें। कितने क्रोध मे भरे हुए यहाँ से गये। वाह री तक़दीर! अब मैं इतनी नीच हो गई कि मेहतरों से, जूते-वालों से आशनाई करने लगी। इस भले आदमी को ऐसी बाते मुँह से निकालते शर्म भी नहीं आती! न-जाने इनके मन में ऐसी बातें कैसे आती हैं। कुछ नहीं, यह स्वभाव के नीच, दिल के मैले, स्वार्थी आदमी हैं। नीचों के साथ नीच ही बनना चाहिये। मेरी भूल थी कि इतने दिनों से इनकी घुड़कियाँ सहती रही। जहाँ

इज्ज़त नहीं, मर्यादा नहीं, प्रेम नहीं, विश्वास नहीं, वहाँ रहना बेहयाई है। कुछ मैं इनके हाथ बिक तो गई ही नहीं कि यह जो चाहें करें, मारें या काटें, पड़ी सहा करूँ। सीता-जैसी पत्नियाँ होती थीं, तो राम-जैसे पति भी होते थे!

देवी को अब ऐसी शका होने लगी, कि कहीं श्यामकिशोर आते-ही-आते सच-मुच उसका गला न दबा दें, या छुरी न भोंक दे। वह समाचार-पत्रों में ऐसी कई हरजाइयों की खबरें पढ़ चुकी थी। शहर ही में ऐसी कई घटनाएँ हो चुकी थीं। मारे भय के वह थरथरा उठी। यहाँ रहने से प्राणों की कुशल न थी।

देवी ने कपड़ों की एक छोट-सी बुकची बाँधी, और सोचने लगी—यहाँ से कैसे निकलूँ? और फिर यहाँ से निकलकर जाऊँ कहाँ! कहीं इस वक्त मुन्नू का पता लग जाता तो बड़ा काम निकलता। वह मुझे क्या मैके न पहुँचा देता। एक बार मैके पहुँच-भर जाती। फिर तो लाला सिर पटककर रह जायँ, भूलकर भी न आऊँ। यह भी क्या याद करें। रुपए क्यों छोड़ दूँ, जिसमें यह मज़े से गुलछर्रे उड़ायें? मैंने ही तो काट-कपटकर जमा किये हैं। इनकी कौन-सी ऐसी बड़ी कमाई थी। खर्च करना चाहती तो कौड़ी न बचती। पैसा-पैसा बचाती रहती थी।

देवी ने जाकर नीचे के किवाड़े बन्द कर दिये। फिर सन्दूक खोलकर अपने सारे जेवर और रुपए निकालकर बुक़ची में बाँध लिये। सब-के-सब करेंसी नोट थे; विशेष बोझ भी न हुआ।

एकाएक किसी ने सदर दरवाजे में ज़ोर से धक्का मारा। देवी सहम उठी। ऊपर से झाँककर देखा, श्याम बाबू थे। उसकी हिम्मत न पड़ी कि जाकर द्वार खोल दे। फिर तो बाबू साहब ने इतनी ज़ोर से धक्के मारने शुरू किये, मानो किवाड़ ही तोड़ डालेंगे। इस तरह द्वार खुलवाना ही उनकी चित्त की दशा को साफ प्रकट कर रहा था। देवी शेर के मुँह में जाने का साहस न कर सकी।

आखिर श्यामकिशोर ने चिल्लाकर कहा—ओ डैम! किवाड़ खोल, ओ ब्लडी! क़िवाड़ खोल! अभी खोल!

देवी की रही-सही हिम्मत भी जाती रही। श्यामकिशोर नशे में चूर थे। होश में शायद दया आ जाती, इसलिए शराब पीकर आये हैं। किवाड़ तो न खोलूँगी चाहे तोड़ ही डालो। अब तुम मुझे इस घर में पाओगे ही नहीं, मारोगे कहाँ से? तुम्हें खूब पहचान गई।

श्यामकिशोर पन्द्रह-बीस मिनट तक शोर मचाने और किवाड़े हिलाने के बाद ऊल-जलूल बकते चले गये। दो-चार पड़ोसियों ने फटकारें भी सुनाईं। आप भी तो पढ़े-लिखे आदमी होकर आधीरात को घर चलते हैं। नींद ही तो है, नहीं खुलती, तो क्या कीजियेगा। जाइये, किसी यार-दोस्त के घर लेट रहिये, सबेरे आइयेगा।

श्यामकिशोर के जाते ही देवी ने बुकची उठाई और धीरे-धीरे नीचे उतरी। ज़रा देर उसने कान लगाकर आहट ली कि कहीं श्यामकिशोर खड़े तो नहीं हैं जब विश्वास हो गया कि वह चले गये, तो उसने धीरे से द्वार खोला और बाहर निकल आई। उसे ज़रा भी क्षोभ, ज़रा भी दुःख न था। बस, केवल एक इच्छा थी कि यहाँ से बचकर भाग जाऊँ। कोई ऐसा आदमी न था, जिस पर वह भरोसा कर सके, जो इस सकट में काम आ सके। था तो बस वही मुन्नू मेहतर। अब उसी के मिलने पर उसकी सारी आशाएँ अवलम्बित थीं। उसी से मिलकर वह निश्चय करेगी कि कहाँ जाय, कैसे रहे, मैके जाने का अब उसका इरादा न था। उसे भय होता था कि मैके में श्यामकिशोर से वह अपनी जान न बचा सकेगी। उसे यहाँ न पाकर वह अवश्य उसके मैके जायँगे, और उसे ज़बरदस्ती खींच लायेंगे। वह सारी यातनाएँ, सारे अपमान सहने को तैयार थी, केवल श्यामकिशोर की सूरत नहीं देखना चाहती थी। प्रेम अपमानित होकर द्वेष में बदल जाता है।

थोड़ी ही दूर पर चौराहा था, कई ताँगेवाले खड़े थे। देवी ने एक इक्का किया और उससे स्टेशन चलने को कहा।

(१०)

देवी ने रात स्टेशन पर काटी। प्रातःकाल उसने एक ताँगा किराये पर किया और परदे में बैठकर चौक जा पहुँची। अभी दुकानें न खुली थीं; लेकिन पूछने से रजा मियाँ का पता चल गया। उसकी दूकान पर एक लौंडा झाड़ू दे रहा था। देवी ने उसे बुलाकर कहा—जाकर रज़ा मियाँ से कह दे कि शारदा की अम्माँ तुमसे मिलने आई हैं, अभी चलिये।

दस मिनट में रज़ा और मुन्नू आ पहुँचे।

देवी ने सजल-नेत्र होकर कहा—तुम लोगों के पीछे मुझे घर छोड़ना पड़ा। कल रात को तुम्हारा मेरे घर जाना गजब हो गया। जो कुछ हुआ, वह फिर कहूँगी। मुझे

कहीं एक घर दिला दो। घर ऐसा हो कि बाबू साहब को मेरा पता न मिले। नहीं, वह मुझे जीता न छोड़ेंगे।

रजा ने मुन्नू की ओर देखा, मानो कह रहा है—देखा, चाल कैसी ठीक थी! देवी से बोला—आप निशाखातिर रहें, ऐसा घर दिला दूँगा कि बाबू साहब के बाबा साहब को भी पता न चले। आपको किसी बात की तकलीफ न होगी। हम आपके पसीने की जगह खून बहा देंगे। सच पूछो तो बहूजी, बाबू साहब आपके लायक थे ही नहीं।

मुन्नू—कहाँ की बात भैया, आप रानी होने लायक हैं। मैं मालकिन से कहता था कि बाबूजी को दालमण्डी की हवा लग गई है, पर आप मानती ही न थीं। आज ही रात को मैंने उन्हें गुलाबजान के कोठे पर से उतरते देखा। नशे में चूर थे।

देवी—झूठी बात। उनकी यह आदत नहीं। गुस्सा उन्हें जरूर बहुत है, और गुस्से मे आकर उन्हें नेक-बद कुछ नहीं सूझता, लेकिन निगाह के बुरे नहीं।

मुन्नू—हुजूर मानती ही नहीं, तो क्या करूँ। अच्छा कभी दिखा दूँगा, तब तो मानियेगा।

रजा—अबे दिखाना पीछे, इस वक्त आपको मेरे घर पहुँचा दे। ऊपर ले जाना। जब तक मैं एक मकान देखने जाता हूँ। आपके लायक बहुत ही अच्छा है।

देवी—तुम्हारे घर में बहुत-सी औरते होंगी?

रज़ा—कोई नहीं है, बहूजी, सिर्फ एक बुढिया मामा है, वह आपके लिए एक कहारिन बुला देगी। आपको किसी बात की तकलीफ न होगी। मैं मकान देखने जा रहा हूँ।

देवी—ज़रा बाबू साहब की तरफ भी होते आना। देखना घर आये कि नहीं?

रज़ा—बाबू साहब से तो मुझे चिढ़ हो गई है। शायद नजर आ जायँ तो मेरी उनसे लड़ाई हो जाय। जो मर्द आप-जैसी हुस्न की देवी की क़दर नहीं कर सकता, वह आदमी नहीं।

मुन्नू—बहुत ठीक कहते हो, भैया। ऐसी सरीपजादी को न-जाने किस मुँह से डाँटते हैं! मुझे इतने दिन हजूर की गुलामी करते हो गये, कभी एक बात न कही।

रजा मकान देखने गया, और ताँगा रज़ा के घर की तरफ़ चला।

देवी के मन में इस समय एक शङ्का का आभास हुआ—कहीं ये दोनो सचमुच

शोहदे तो नहीं हैं ! लेकिन कैसे मालूम हो ? यह सत्य है कि देवी ने जीवन-पर्यन्त के लिए स्वामी का परित्याग किया था ; पर इतनी ही देर में उसे कुछ पश्चात्ताप होने लगा था। अकेली एक घर में कैसे रहेगी, बैठी-बैठी क्या करेगी, यह कुछ उसकी समझ में न आता था। उसने दिल में कहा—क्यों न घर लौट चलूँ ? ईश्वर करे, वह अभी घर न आये हों। मुन्नू से बोली—तुम ज़रा दौड़कर देखो तो, बाबूजी घर आये कि नहीं।

मुन्नू—आप चलकर आराम से बैठें, मैं देख आता हूँ।

देवी—मैं अन्दर न जाऊँगी।

मुन्नू—खुदा की कसम खाके कहता हूँ, घर बिलकुल खाली है। आप हम लोगों पर शक करती हैं। हम वह लोग हैं कि आपका हुक्म पायें, तो आग में कूद पड़ें।

देवी इक्के से उतरकर अन्दर चली गई। चिड़िया एक बार पकड़ जाने पर भी फड़फड़ाई, किन्तु परों में लासा लगे होने के कारण उड़ न सकी, और शिकारी ने उसे अपनी झोली में रख लिया। वह अभागिनी क्या फिर कभी आकाश में उड़ेगी ? क्या फिर उसे डालियों पर चहकना नसीब होगा !

(११)

श्यामकिशोर सबेरे घर लौटे, तो उनका चित्त शान्त हो गया था। उन्हें शङ्का हो रही थी कि कदाचित् देवी घर में न होगी। द्वार के दोनों पट खुले देखे तो कलेजा सन-से हो गया। इतने सबेरे किवाड़ों का खुला रहना अमगल-सूचक था। एक क्षण द्वार पर खड़े होकर अन्दर की आहट ली। कोई आवाज़ न सुनाई दी। आँगन में गये, वहाँ भी सन्नाटा, ऊपर गये चारो तरफ सूना ! घर काटने को दौड़ रहा था। श्यामकिशोर ने अब जरा सतर्क होकर देखना शुरू किया। सन्दूक़ में रुपए नदारद। गहने का सन्दूक़ भी खाली। अब क्या भ्रम हो सकता था। कोई गगा-स्नान के लिए जाता है, तो घर के रुपए नहीं उठा ले जाता। वह चली गई। अब इसमें लेश-मात्र भी सन्देह नहीं था। यह भी मालूम था कि वह कहाँ गई है। शायद इसी वक्त लपककर जाने से वह वापस भी लाई जा सकती है ; लेकिन दुनिया क्या कहेगी ?

श्यामकिशोर ने अब चारपाई पर बैठकर ठण्डे दिल से इस घटना की विवेचना करना शुरू की। इसमें तो उन्हें सन्देह न था कि रज़ा और मुन्नू उसका पिट्ठू। तो आखिर बाबूजी का कर्तव्य क्या था ? उन्होंने वह पुराना मकान छोड़ दिया, देवी को

बार-बार समझाया। इसके उपरांत वह क्या कर सकते थे? क्या मारना अनुचित था? अगर एक क्षण के लिए अनुचित ही मान लिया जाय, तो क्या देवी को इस तरह घर से निकल जाना चाहिये था? कोई दूसरी स्त्री, जिसके हृदय में पहले ही से विष न भर दिया गया हो, केवल मार खाकर घर से न निकल जाती। अवश्य ही देवी का हृदय कलुषित हो गया है।

बाबू साहब ने फिर सोचा—अभी ज़रा देर में महरी आयेगी। वह देवी को घर में न देखकर पूछेगी, तो क्या जवाब दूँगा? दम-के-दम में सारे महल्ले में यह खबर फैल जायगी। हाय भगवन्! क्या करूँ! श्यामकिशोर के मन में इस वक्त ज़रा भी पाश्चात्ताप, ज़रा भी दया न थी। अगर देवी किसी तरह उन्हें मिल सकती, तो वह उसकी हत्या कर डालने में ज़रा भी पसोपेश न करते। उसका घर से निकल जाना, चाहे आवेश के सिवा उसका और कुछ कारण न हो, उनकी निगाह में अक्षम्य था। यह अपमान वह किसी तरह न सह सकते थे। मर जाना इससे कहीं अच्छा था। क्रोध बहुधा विरक्त का रूप धारण कर लिया करता है। श्यामकिशोर को ससार से घृणा हो गई। जब अपनी पत्नी ही दगा कर जाय, तो किसीसे क्या आशा की जाय! जिस स्त्री के लिए हम जीते भी हैं और मरते भी, जिसको सुखी रहने के लिए हम अपने प्राणों का बलिदान कर देते हैं, जब वह अपनी न हुई, तो फिर दूसरा कौन अपना हो सकता है। इस स्त्री को प्रसन्न रखने के लिए उन्होंने क्या-क्या नहीं किया। घरवालों से लड़ाई की, भाइयों से नाता तोड़ा, यहाँ तक कि वे अब उनकी सूरत भी नहीं देखना चाहते। उसकी कोई ऐसी इच्छा न थी, जो उन्होंने पूरी न की हो, उसका ज़रा-सा सिर भी दुखता था, तो उनके हाथों के तोते उड़ जाते थे। रात-की-रात उसकी सेवा-शुश्रूषा में बैठे रह जाते थे। वही स्त्री आज उनसे दगा कर गई, केवल एक गुण्डे के बहकाने में आकर उनके मुँह में कालिख लगा गई। गुण्डों पर इल्ज़ाम लगाना, तो एक प्रकार से मन को समझाना है। जिसके दिल मे खोट न हो, उसे कोई क्या बहका सकता है। जब इस स्त्री ने धोखा दिया, तो फिर समझना चाहिये कि ससार में प्रेम और विश्वास का अस्तित्व ही नहीं। यह केवल भावुक-प्राणियों की कल्पना-मात्र है। ऐसे ससार में रहकर दु ख और दुराशा के सिवा और क्या मिलना है। हा दुष्टा! ले, आज से तू स्वतन्त्र है, जो चाहे कर, अब कोई तेरा हाथ पकड़नेवाला नहीं रहा। जिसे तू 'प्रियतम' कहते

नहीं थकती थी, उसके साथ तूने यह कुटिल व्यवहार किया ! चाहूँ, तो तुझे अदालत में घसीटकर इस पाप का दंड दे सकता हूँ ; मगर क्या फ़ायदा ! इसका फल तुझे ईश्वर देंगे ।

श्यामकिशोर चुपचाप नीचे उतरे, न किसी से कुछ कहा न सुना, द्वार खुले छोड़ दिये, और गङ्गा-तट की ओर चले ।

कजाकी

मेरी बाल-स्मृतियों में 'कजाकी' एक न मिटनेवाला व्यक्ति है। आज चालीस साल गुजर गये, लेकिन कजाकी की मूर्ति अभी तक आँखों के सामने नाच रही है। मैं उन दिनों अपने पिता के साथ आजमगढ़ की एक तहसील में था। कजाकी जाति का पासी था, बड़ा ही हँसमुख, बड़ा ही साहसी, बड़ा ही जिंदा-दिल। वह रोज़ शाम को डाक का थैला लेकर आता, रात-भर रहता, और सबेरे डाक लेकर चला जाता। शाम को फिर उधर से डाक लेकर आ जाता। मैं दिन-भर एक उद्विग्न दशा में उसकी राह देखा करता, ज्यो ही चार बजते, व्याकुल होकर, सड़क पर आकर, खड़ा हो जाता, और थोड़ी देर में कजाकी कधे पर बल्लम रखे, उसकी झुँझुनी बजाता, दूर से दौड़ता हुआ आता दिखलाई देता। वह साँवले रग का गठीला, लम्बा जवान था। शरीर साँचे मे ऐसा ढला हुआ कि चतुर मूर्तिकार भी उसमें कोई दोष न निकाल सकता। उसकी छोटी-छोटी मूछें उसके सुडौल चेहरे पर बहुत ही अच्छी मालूम होती थीं। मुझे देखकर वह और तेज़ दौड़ने लगता, उसकी झुँझुनी और ज़ोर से बजने लगती, और मेरे हृदय में और ज़ोर से खुशी की धड़कन होने लगती। हर्षातिरेक में मैं भी दौड़ पड़ता और एक क्षण में कजाकी का कन्धा मेरा सिंहासन बन जाता। वह स्थान मेरी अभिलाषाओं का स्वर्ग था। स्वर्ग के निवासियों को भी शायद वह आन्दोलित आनद न मिलता होगा, जो मुझे कजाकी के विशाल कन्धों पर मिलता था। ससार मेरी आँखों में तुच्छ हो जाता और जब कजाकी मुझे कन्धे पर लिए दौड़ने लगता, तब तो ऐसा मालूम होता, मानो मैं हवा के घोड़े पर उड़ा जा रहा हूँ।

कजाकी डाकखाने में पहुँचता, तो पसीने से तर रहता; लेकिन आराम करने की आदत न थी। थैला रखते ही वह हम लोगों को लेकर किसी मैदान में निकल जाता, कभी हमारे साथ खेलता, कभी बिरहे गाकर सुनाता, और कभी कहानियाँ

सुनाता। उसे चोरी और डाके, मार-पीट, भूत-प्रेत की सैकड़ों कहानियाँ याद थीं। मैं ये कहानियाँ सुनकर विस्मय-पूर्ण आनन्द में मग्न हो जाता। उसकी कहानियों के चोर और डाकू सच्चे योद्धा होते थे, जो अमीरों को लूटकर दीन-दुखी प्राणियों का पालन करते थे। मुझे उन पर घृणा के बदले श्रद्धा होती थी।

(२)

एक दिन कजाकी को डाक का थैला लेकर आने में देर हो गई। सूर्यास्त हो गया और वह दिखलाई न दिया। मैं खोया हुआ-सा सड़क पर दूर तक आँखें फाड़ फाड़कर देखता था; पर वह परिचित रेखा न दिखलाई पड़ती थी। कान लगाकर सुनता था; पर 'झुन-झुन' की वह आमोदमय ध्वनि न सुनाई देती थी। प्रकाश के साथ मेरी आशा भी मलिन होती जाती थी। उधर से किसी को आते देखता, तो पूछता—कजाकी आता है? पर या तो कोई सुनता ही न था, या केवल सिर हिला देता था।

सहसा 'झुन-झुन' की आवाज़ कानों में आई। मुझे अँधेरे में चारों ओर भूत ही दिखलाई देते थे, यहाँ तक कि माताजी के कमरे में ताक पर रखी हुई मिठाई भी, अँधेरा हो जाने के बाद, मेरे लिए त्याज्य हो जाती थी; लेकिन वह आवाज़ सुनते ही मैं उसकी तरफ जोर से दौड़ा। हाँ, वह कजाकी ही था। उसे देखते ही मेरी विकलता क्रोध में बदल गई। मैं उसे मारने लगा, फिर मान करके अलग खड़ा हो गया।

कज़ाकी ने हँसकर कहा—मारोगे, तो मैं एक चीज लाया हूँ, वह न दूँगा।

मैंने साहस करके कहा—जाओ, मत देना, मैं लूँगा ही नहीं।

कजाकी—अभी दिखा दूँ, तो दौड़कर गोद में उठा लोगे।

मैंने पिघलकर कहा—अच्छा, दिखा दो।

कजाकी—तो आकर मेरे कन्धे पर बैठ जाओ, भाग चलूँ। आज बहुत देर हो गई। बाबूजी बिगड़ रहे होंगे।

मैंने अकड़कर कहा—पहिले दिखा।

मेरी विजय हुई। अगर कजाकी को देर का डर न होता और वह एक मिनट भी और रुक सकता, तो शायद पासा पलट जाता। उसने कोई चीज दिखलाई, जिसे वह एक हाथ से छाती से चिपटाये हुए था; लम्बा मुँह था, और दो आँखें चमक रही थीं।

मैंने दौड़कर उसे कजाकी की गोद से ले लिया। वह हिरन का बच्चा था। आह! मेरी उस खुशी का कौन अनुमान करेगा? तबसे कठिन परीक्षाएँ पास कीं, अच्छा पद भी पाया, रायबहादुर भी हुआ, पर वह खुशी फिर न हासिल हुई। मैं उसे गोद में लिये, उसके कोमल स्पर्श का आनन्द उठाता घर की ओर दौड़ा। कजाकी को आने में क्यों इतनी देर हुई, इसका खयाल ही न रहा।

मैंने पूछा—यह कहाँ मिला कजाकी?

कजाकी—भैया, यहाँ से थोड़ी दूर पर एक छोटा-सा जगल है। उसमें बहुत-से हिरन हैं। मेरा बहुत जी चाहता था कि कोई बच्चा मिल जाय, तो तुम्हें दूँ। आज यह बच्चा हिरनों के झुण्ड के साथ दिखलाई दिया। मैं झुण्ड की ओर दौड़ा, तो सब-के-सब भागे। यह बच्चा भी भागा, लेकिन मैंने पीछा न छोड़ा। और हिरन तो बहुत दूर निकल गये, यही पीछे रह गया। मैंने इसे पकड़ लिया। इसी से तो इतनी देर हुई।

यों बातें करते हम दोनों डाकखाने पहुँचे। बाबूजी ने मुझे न देखा, हिरन के बच्चे को भी न देखा, कजाकी ही पर उनकी निगाह पड़ी। बिगड़कर बोले—आज इतनी देर कहाँ लगाई? अब थैला लेकर आया है, इसे लेकर क्या करूँ? डाक तो चली गई। बता, तूने इतनी देर कहाँ लगाई?

कजाकी के मुँह से आवाज़ न निकली।

बाबूजी ने कहा—तुझे शायद अब नौकरी नहीं करनी है। नीच है न, पेट भरा तो मोटा हो गया! जब भूखों मरने लगेगा, तो आँखें खुलेंगी।

कजाकी चुपचाप खड़ा रहा।

बाबूजी का क्रोध और बढ़ा। बोले—अच्छा, थैला रख दे और अपने घर की राह ले। सुअर, अब डाक लेके आया है! तेरा क्या बिगड़ेगा, जहाँ चाहेगा, मजूरी कर लेगा। माथे तो मेरे जायगी—जवाब तो मुझसे तलब होगा।

कजाकी ने रुआँसे होकर कहा—सरकार, अब कभी देर न होगी!

बाबूजी—आज क्यों देर की, इसका जवाब दे?

कजाकी के पास इसका कोई जवाब न था। आश्चर्य तो यह था कि मेरी ज़बान भी बन्द हो गई। बाबूजी बड़े गुस्सेवर थे। उन्हें काम बहुत करना पड़ता था, इसीसे बात-बात पर झुँझला पड़ते थे। मैं तो उनके सामने कभी आता ही न था। वह भी

मुझे कभी प्यार न करते थे। घर में वह केवल दो बार घण्टे-घण्टे-भर के लिए भोजन करने आते थे ; बाकी सारे दिन दफ्तर में लिखा करते थे। उन्होंने बार-बार एक सहकारी के लिए अफसरों से विनय की थी ; पर इसका कुछ असर न हुआ था। यहाँ तक कि तातील के दिन भी बाबूजी दफ़्तर ही में रहते थे। केवल माताजी उनका क्रोध शान्त करना जानती थीं, पर वह दफ्तर में कैसे आतीं। बेचारा कजाकी उसी वक्त मेरे देखते-देखते निकाल दिया गया। उसका बल्लम, चपरास और साफा छीन लिया गया और उसे डाकखाने से निकल जाने का नादिरी हुक्म सुना दिया गया। आह ! उस वक्त मेरा ऐसा जी चाहता था कि मेरे पास सोने की लङ्का होती, तो कजाकी को दे देता और बाबूजी को दिखा देता कि आपके निकाल देने से कजाकी का बाल भी बाँका नहीं हुआ। किसी योद्धा को अपनी तलवार पर जितना घमण्ड होता है, उतना ही घमण्ड कजाकी को अपनी चपरास पर था। जब वह चपरास खोलने लगा, तो उसके हाथ काँप रहे थे और आँखों से आँसू बह रहे थे। और इस सारे उपद्रव की जड़ वह कोमल वस्तु थी, जो मेरी गोद में मुँह छिपाये ऐसे चैन से बैठी हुई थी, मानो माता की गोद में हो। जब कजाकी चला, तो मैं भी धीरे-धीरे उसके पीछे-पीछे चला। मेरे घर के द्वार पर आकर कजाकी ने कहा—भैया, अब घर जाओ , साँझ हो गई।

मैं चुपचाप खड़ा अपने आँसुओं के वेग को सारी शक्ति से दबा रहा था।

कजाकी फिर बोला—भैया, मैं कहीं बाहर थोड़े ही चला जाऊँगा। फिर आऊँगा और तुम्हें कन्धे पर बैठालकर कुदाऊँगा। बाबूजी ने नौकरी ले ली है, तो क्या इतना भी न करने देंगे ! तुमको छोड़कर मैं कहीं न जाऊँगा, भैया ! जाकर अम्माँ से कह दो, कजाकी जाता है। उसका कहा-सुना माफ करें।

मैं दौड़ा हुआ घर गया ; लेकिन अम्माँजी से कुछ कहने के बदले बिलख-बिलखकर रोने लगा। अम्माँजी रसोई से बाहर निकलकर पूछने लगीं—क्या हुआ बेटा ? किसने मारा ? बाबूजी ने कुछ कहा है ? अच्छा, रह तो जाओ, आज घर आते हैं, तो पूछती हूँ। जब देखो, मेरे लड़के को मारा करते हैं। चुप रहो बेटा, अब तुम उनके पास कभी मत जाना।

मैंने बड़ी मुश्किल से आवाज़ सँभालकर कहा—कजाकी···

अम्माँ ने समझा, कजाकी ने मारा है ; बोली—अच्छा, आने दो कजाकी को।

देखो, खड़े-खड़े निकलवा देती हूँ। हरकारा होकर मेरे राजा बेटा को मारे! आज ही तो साफा, बल्लम, सब छिनवाये लेती हूँ। वाह!

मैंने जल्दी से कहा—नहीं, कजाकी ने नहीं मारा। बाबूजी ने उसे निकाल दिया; उसका साफा, बल्लम छीन लिया—चपरास भी ले ली।

अम्माँ—यह तुम्हारे बाबूजी ने बहुत बुरा किया। वह बेचारा अपने काम में इतना चौकस रहता है। फिर उसे क्यों निकाला?

मैंने कहा—आज उसे देर हो गई थी।

यह कहकर मैंने हिरन के बच्चे को गोद से उतार दिया। घर में उसके भाग जाने का भय न था। अब तक अम्माँजी की निगाह भी उस पर न पड़ी थी। उसे फुदकते देखकर वह सहसा चौंक पड़ी और लपककर मेरा हाथ पकड़ लिया कि कहीं वह भयकर जीव मुझे काट न खाय! मैं कहाँ तो फूट-फूटकर रो रहा था और कहाँ अम्माँ-जी की घबराहट देखकर खिलखिलाकर हँस पड़ा।

अम्माँ—अरे, यह तो हिरन का बच्चा है! कहाँ मिला?

मैंने हिरन के बच्चे का सारा इतिहास और उसका भीषण परिणाम आदि से अन्त तक कह सुनाया—अम्माँ, यह इतना तेज़ भागता था कि कोई दूसरा होता, तो पकड़ ही न सकता। सन्-सन्, हवा की तरह उड़ता चला जाता था। कजाकी पाँच-छ घण्टे तक इसके पीछे दौड़ता रहा। तब कहीं जाकर बचा मिले। अम्माँजी, कजा-की की तरह कोई दुनिया-भर में नहीं दौड़ सकता, इसी से तो देर हो गई। इसलिए बाबूजी ने बेचारे को निकाल दिया—चपरास, साफा, बल्लम, सब छीन लिया। अब बेचारा क्या करेगा? भूखों मर जायगा।

अम्माँ ने पूछा—कहाँ है कजाकी, ज़रा उसे बुला तो लाओ।

मैंने कहा—बाहर तो खड़ा है। कहता था, अम्माँजी से मेरा कहा-सुना माफ करवा देना।

अब तक अम्माँजी मेरे वृत्तान्त को दिल्लगी समझ रही थीं। शायद वह समझती थी कि बाबूजी ने कजाकी को डाँटा होगा, लेकिन मेरा अन्तिम वाक्य सुनकर सशय हुआ कि सचमुच तो कजाकी बरखास्त नहीं कर दिया गया। बाहर आकर 'कजाकी! कजाकी!' पुकारने लगी; पर कजाकी का कहीं पता न था। मैंने बारबार पुकारा; लेकिन कजाकी वहाँ न था।

खाना तो मैंने खा लिया— बच्चे शोक में खाना नहीं छोड़ते, खासकर जब रबड़ी भी सामने हो ; मगर बड़ी रात तक पड़े-पड़े सोचता रहा—मेरे पास रुपये होते, तो एक-लाख रुपये कजाकी को दे देता और कहता— बाबूजी से कभी मत बोलना। बेचारा भूखों मर जायगा ! देखूँ, कल आता है कि नहीं। अब क्या करेगा आकर ? मगर आने को तो कह गया है। मैं कल उसे अपने साथ खाना खिलाऊँगा।

यही हवाई क़िले बनाते-बनाते मुझे नींद आ गई।

(३)

दूसरे दिन मैं दिन-भर अपने हिरन के बच्चे के सेवा-सत्कार में व्यस्त रहा। पहले उसका नामकरण-संस्कार हुआ। 'मुन्नू' नाम रखा गया। फिर मैंने उसका अपने सब हमजोलियों और सहपाठियों से परिचय कराया। दिन ही भर में वह मुझसे इतना हिल गया कि मेरे पीछे-पीछे दौड़ने लगा। इतनी ही देर में मैंने उसे अपने जीवन में एक महत्त्व-पूर्ण स्थान दे दिया। अपने भविष्य में बननेवाले विशाल भवन में उसके लिए अलग कमरा बनाने का भी निश्चय कर लिया ; चारपाई, सैर करने की फिटन आदि की भी आयोजना कर ली।

लेकिन संध्या होते ही मैं सब कुछ छोड़-छाड़कर सड़क पर जा खड़ा हुआ और कजाकी की बाट जोहने लगा। जानता था, कजाकी निकाल दिया गया है, अब उसे यहाँ आने की कोई ज़रूरत नहीं रही। फिर भी न-जाने क्यों मुझे यह आशा हो रही थी कि वह आ रहा है। एकाएक मुझे खयाल आया कि कजाकी भूखों मर रहा होगा। मैं तुरन्त घर आया। अम्माँ दिया-बत्ती कर रही थीं। मैंने चुपके से एक टोकरी में आटा निकाला, आटा हाथों में लपेटे, टोकरी से गिरते आटे की एक लकीर बनाता हुआ भागा। आकर सड़क पर खड़ा हुआ ही था कि कजाकी सामने से आता दिखलाई दिया। उसके पास बल्लम भी था, कमर में चपरास भी थी, सिर पर साफा भी बँधा हुआ था। बल्लम में डाक का थैला भी बँधा हुआ था। मैं दौड़कर उसकी कमर से चिपट गया और विस्मित होकर बोला—तुम्हें चपरास और बल्लम कहाँ से मिल गया, कजाकी ?

कजाकी ने मुझे उठाकर कन्धे पर बैठालते हुए कहा— वह चपरास किस काम की थी, भैया। वह तो गुलामी की चपरास थी, यह अपनी खुशी की चपरास है। पहले सरकार का नौकर था, अब तुम्हारा नौकर हूँ।

यह कहते-कहते उसकी निगाह टोकरी पर पड़ी, जो वहीं रखी थी। बोला—यह आटा कैसा है, भैया ?

मैंने सकुचाते हुए कहा—तुम्हारे ही लिए तो लाया हूँ। तुम भूखे होगे, आज क्या खाया होगा ?

कजाकी आँखें तो मैं न देख सका, उसके कन्धे पर बैठा हुआ था, हाँ, उसकी आवाजसे मालूम हुआ कि उसका गला भर आया है। बोला—भैया, क्या रूखी रोटियाँ खाऊँगा ! दाल, नमक, घी – और तो कुछ नहीं है।

मैं अपनी भूलपर बहुत लज्जित हुआ। सच तो है, बेचारा रूखी रोटियाँ कैसे खायगा ? लेकिन नमक, दाल, घी कैसे लाऊँ ? अब तो अम्माँ चौके में होंगी। आटा लेकर तो किसी तरह भाग आया था (अभी तक मुझे न मालूम था कि मेरी चोरी पकड़ ली गई, आटेकी लकीर ने सुराग दे दिया है।) अब ये तीन-तीन चीजें कैसे लाऊँगा ? अम्माँ से माँगूँगा, तो कभी न देंगी। एक-एक पैसेके लिए तो घंटों रुलाती हैं, इतनी सारी चीजें क्यों देने लगी ? एकाएक मुझे एक बात याद आई। मैंने अपनी किताबों के बस्ते मे कई आने पैसे रख छोड़े थे। मुझे पैसे जमा करके रखने मे बड़ा आनन्द आता था। मालूम नहीं, अब वह आदत क्यों बदल गई। अब भी वही हालत होती, तो शायद इतना फाकेमस्त न रहता। बाबूजी मुझे प्यार तो कभी न करते थे, पर पैसे खूब देते थे, शायद अपने काम में व्यस्त रहने के कारण, मुझसे पिंड छुड़ानेके लिए इसी नुस्खे को सबसे आसान समझते थे। इनकार करने मे मेरे रोने और मचलने का भय था। इस बाधा को वह दूर ही से टाल देते थे। अम्माँजी का स्वभाव इससे ठीक प्रतिकूल था। उन्हें मेरे रोने और मचलने से किसी काममें बाधा पड़ने का भय न था। आदमी लेटे-लेटे दिन-भर रोना सुन सकता है, हिसाब लगाते हुए ज़ोर की आवाज से भी ध्यान बँट जाता है। अम्माँ मुझे प्यार तो बहुत करती थी, पर पैसे का नाम सुनते ही उनकी त्योरियाँ बदल जाती थी। मेरे पास किताबें न थीं, हाँ एक बस्ता था, जिसमें डाकखाने के दो-चार फार्म तह करके पुस्तक के रूप में रखे हुए थे। मैंने सोचा – दाल नमक और घी के लिए क्या उतने पैसे काफी न होंगे ? मेरी तो मुट्ठी में नहीं आते। यह निश्चय करके मैंने कहा—अच्छा, मुझे उतार दो, तो मैं दाल और नमक ला दूँ, मगर रोज आया करोगे न।

कजाकी—भैया, खाने को दोगे, तो क्यों न आऊँगा।

मैंने कहा—मैं रोज खाने को दूँगा।

कजाकी बोला—तो मैं भी रोज़ आऊँगा।

मैं नीचे उतरा और दौड़कर अपनी सारी पूँजी उठा लाया। कजाकी को रोज बुलाने के लिए उस वक्त मेरे पास कोहनूर हीरा भी होता, तो उसकी भेंट करने मे मुझे पसोपेश न होता।

कजाकी ने विस्मित होकर पूछा—ये पैसे कहाँ पाये, भैया?

मैंने गर्व से कहा—मेरे ही तो हैं।

कजाकी—तुम्हारी अम्माँजी तुमको मारेंगी, कहेंगी—कजाकी ने फुसलाकर मँगवा लिए होंगे। भैया, इन पैसों की मिठाई ले लेना और आटा मटकेमें रख देना। मैं भूखों नहीं मरता। मेरे दो हाथ है। मैं भला भूखों मर सक्ता हूँ?

मैंने बहुत कहा कि पैसे मेरे हैं; लेकिन कजाकी ने न लिए। उसने बड़ी देर तक इधर-उधर की सैर कराई, गीत सुनाये और मुझे घर पहुँचाकर चला गया। मेरे द्वार पर आटे की टोकरी भी रख दी।

मैंने घर में कदम रखा ही था कि अम्माँजीने डाँटकर कहा—क्यों रे चोर, तू आटा कहाँ ले गया था? अब चोरी करना सीखता है! बता किसको आटा दे आया, नहीं तो तेरी खाल उधेड़कर रख दूँगी।

मेरी नानी मर गई। अम्माँ क्रोधमें सिंहिनी हो जाती थीं। सिटपिटाकर बोला—किसी को तो नहीं दिया।

अम्माँ—तूने आटा नहीं निकाला? देख, कितना आटा सारे आँगन में बिखरा पड़ा है?

मैं चुप खड़ा था। वह कितना ही धमकाती थीं, चुमकारती थी, पर मेरी ज़बान न खुलती थी। आनेवाली विपत्ति के भय से प्राण सूख रहे थे। यहाँ तक कहने की हिम्मत न पड़ती थी कि बिगड़ती क्यों हो, आटा तो द्वार पर रखा हुआ है। न उठाकर लाते ही बनता था, मानो क्रिया-शक्ति ही लुप्त हो गई हो। मानो पैरों मे हिलने की सामर्थ्य ही नहीं।

सहसा कजाकी ने पुकारा—बहूजी, आटा यह द्वार पर रखा हुआ है। भैया मुझे देने को ले गये थे।

यह सुनते ही अम्माँ द्वार की ओर चली गईं। कजाकी से वह परदा न करती

थीं। उन्होंने कजाकी से कोई बात की या नहीं, यह तो मैं नहीं जानता ; लेकिन अम्माँजी खाली टोकरी लिये हुए घर में आईं। फिर कोठरी में जाकर सन्दूक से कुछ निकाला और द्वार की ओर गईं। मैंने देखा—उनकी मुट्ठी बन्द थी। अब मुझसे वहाँ खड़े न रहा गया।

अम्माँजी के पीछे-पीछे मैं भी गया। अम्माँ ने द्वार पर कई बार पुकारा, मगर कजाकी चला गया था।

मैंने बड़ी वीरता से कहा—मैं जाकर खोज लाऊँ, अम्माँजी। अम्माँजी ने किवाड़े बन्द करते हुए कहा—तुम अँधेरे में कहाँ जाओगे, अभी तो खड़ा था। मैंने कहा—यहीं रहना, मैं आती हूँ। तब तक न-जाने कहाँ खिसक गया। बड़ा सकोची है। आटा तो लेता ही न था। मैंने ज़बरदस्ती उसके अँगोछे मे बाँध दिया। मुझे तो बेचारे पर बड़ी दया आती है। न-जाने बेचारे के घर में कुछ खाने को है कि नहीं। रुपए लाई थी कि दे दूँगी, पर न-जाने कहाँ चला गया। अब तो मुझे भी साहस हुआ। मैंने अपनी चोरी की पूरी कथा कह डाली। बच्चों के साथ समझदार बच्चे बनकर मा बाप उन पर जितना असर डाल सकते हैं, जितनी शिक्षा दे सकते हैं, उतने बूढ़े बनकर नहीं।

अम्माँजी ने कहा—तुमने मुझसे पूछ क्यों न लिया? क्या मैं कजाकी को थोड़ा-सा आटा न देती?

मैंने इसका कोई उत्तर न दिया। दिल में कहा—इस वक्त तुम्हें कजाकी पर दया आ गई है, जो चाहे दे डालो, लेकिन मैं माँगता, तो मारने दौड़तीं। हाँ, यह सोचकर चित्त प्रसन्न हुआ कि अब कजाकी भूखों न मरेगा। अम्माँजी उसे रोज़ खाने को देंगी और वह रोज़ मुझे कन्धे पर बिठाकर सैर करायेगा।

दूसरे दिन मैं दिन-भर मुन्नू के साथ खेलता रहा। शाम को सड़क पर जाकर खड़ा हो गया। मगर अँधेरा हो गया और कजाकी का कहीं पता नहीं। दिये जल गये, रास्ते में सन्नाटा छा गया ; पर कजाकी न आया।

मैं रोता हुआ घर आया। अम्माँजी ने पूछा—क्यों रोते हो बेटा? क्या कजाकी नहीं आया?

मैं और ज़ोर से रोने लगा। अम्माँजी ने मुझे छाती से लगा लिया, मुझे ऐसा मालूम हुआ कि उनका कंठ भी गद्गद् हो गया है।

उन्होंने कहा—बेटा, चुप हो जाओ। मैं कल किसी हरकारे को भेजकर कजाकी को बुलवाऊँगी।

मैं रोते-ही-रोते मर गया। सबेरे ज्योंही आँख खुली, मैंने अम्माँजी से कहा—कजाकी को बुलवा दो।

अम्मा ने कहा—आदमी गया है बेटा, कजाकी आता होगा। मैं खुश होकर खेलने लगा। मुझे मालूम था कि अम्माजी जो बात कहती हैं, उसे पूरा जरूर करती हैं। उन्होंने सबेरे ही एक हरकारे को भेज दिया था। दस बजे जब मैं मुन्नू को लिये हुए घर आया, तो मालूम हुआ कि कजाकी अपने घर पर नहीं मिला। वह रात को भी घर न गया था। उसकी स्त्री रो रही थी कि न-जाने कहाँ चले गये। उसे भय था कि वह कहीं भाग गया है।

बालकों का हृदय कितना कोमल होता है, इसका अनुमान दूसरा नहीं कर सकता। उनमें अपने भावों को व्यक्त करने के लिए शब्द नहीं होते। उन्हें यह भी ज्ञात नहीं होता कि कौन-सी बात उन्हें विकल कर रही है, कौन-सा काँटा उनके हृदय में खटक रहा है, क्यों बार-बार उन्हें रोना आता है, क्यों वे मनमारे बैठे रहते हैं, खेलने में जी नहीं लगता? मेरी भी यही दशा थी। कभी घर में आता, कभी बाहर जाता, कभी सड़क पर जा पहुँचता। आँखें कजाकी को ढूँढ़ रही थी। वह कहाँ चला गया? कहीं भाग तो नहीं गया!

तीसरे पहर को मैं खोया हुआ-सा सड़क पर खड़ा था। सहसा मैंने कजाकी को एक गली में देखा। हाँ, वह कजाकी ही था। मैं उसकी ओर चिल्लाता हुआ दौड़ा, पर गली में उसका पता न था, न-जाने किधर ग़ायब हो गया। मैंने गली के इस सिरे से उस सिरे तक देखा, मगर कहीं कजाकी की गन्ध तक न मिली।

घर आकर मैंने अम्माजी से यह बात कही। मुझे ऐसा जान पड़ा कि वह यह बात सुनकर बहुत चिन्तित हो गईं।

इसके बाद दो-तीन दिन तक कजाकी न दिखलाई दिया। मैं भी अब उसे कुछ-कुछ भूलने लगा। बच्चे पहले जितना प्रेम करते हैं, बाद को उतने ही निष्ठुर भी हो जाते हैं; जिस खिलौने पर प्राण देते हैं, उसी को दो-चार दिन के बाद पटककर फोड़ भी डालते हैं।

दस-बारह दिन और बीत गये। दोपहर का समय था। बाबूजी खाना खा रहे

थे। मैं मुन्नू के पैरों में पीनस की पैजनियाँ बाँध रहा था। एक औरत घूँघट निकाले हुए आई और आँगन मे खड़ी हो गई। उसके कपड़े फटे हुए और मैले थे, पर गोरी, सुन्दर स्त्री थी। उसने मुझसे पूछा—भैया, बहूजी कहाँ हैं ?

मैंने उसके पास जाकर उसका मुँह देखते हुए कहा—तुम कौन हो, क्या बेचती हो ?

औरत—कुछ बेचती नहीं नहीं हूँ, तुम्हारे लिए ये कमलगट्टे लाई हूँ, भैया। तुम्हें तो कमलगट्टे बहुत अच्छे लगते हैं न ?

मैंने उसके हाथों से लटकती हुई पोटली को उत्सुक नेत्रों से देखकर पूछा—कहाँ से लाई हो ? देखें।

औरत—तुम्हारे हरकारे ने भेजा है भैया।

मैंने उछलकर पूछा—कजाकी ने ?

औरत ने सिर हिलाकर 'हाँ' कहा और पोटली खोलने लगी। इतने में अम्माँजी भी रसोई से निकल आई। उसने अम्मा के पैरों को स्पर्श किया। अम्मा ने पूछा—तू कजाकी की घरवाली है ?

औरत ने सिर झुका लिया।

अम्मा—आजकल कजाकी क्या करता है ?

औरत ने रोकर कहा—बहूजी, जिस दिन से आपके पास से आटा लेकर गये हैं, उसी दिन से बीमार पड़े हैं। बस, भैया-भैया किया करते हैं। भैया ही में उनका मन बसा रहता है। चौंक-चौंककर भैया! भैया! कहते हुए द्वार की ओर दौड़ते हैं। न-जाने उन्हें क्या हो गया है, बहूजी! एक दिन मुझसे कुछ कहा न सुना, घर से चल दिये और एक गली में छिपकर भैया को देखते रहे। जब भैया ने उन्हें देख लिया, तो भागे।

तुम्हारे पास आते हुए लजाते हैं।

मैंने कहा—हाँ-हाँ, मैंने उस दिन तुमसे जो कहा था, अम्माँजी!

अम्मा—घर में कुछ खाने-पीने को है ?

औरत—हाँ बहूजी, तुम्हारे आसिरबाद से खाने-पीने का दुःख नहीं है। आज सबेरे उठे और तालाब की ओर चले गये। बहुत कहती रही, बाहर मत जाओ, हवा लग जायगी, मगर न माना! मारे कमज़ोरी के पैर काँपने लगते हैं, मगर तालाब

में घुसकर ये कमलगट्टे तोड़ लाये। तब मुझसे कहा—ले जा, भैया को दे आ। उन्हें कमलगट्टे बहुत अच्छे लगते हैं। कुसलछेम पूछती आना।

मैंने पोटली से कमलगट्टे निकाल लिये थे और मजे से चख रहा था। अम्मा ने बहुत आँखें दिखाई ; मगर यहाँ इतना सब्र कहाँ!

अम्मा ने कहा—कह देना सब कुशल है।

मैंने कहा—यह भी कह देना कि भैया ने बुलाया है। न जाओगे तो फिर तुमसे कभी न बोलेंगे, हाँ!

बाबूजी खाना खाकर निकल आये थे। तौलिये से हाथ-मुँह पोंछते हुए बोले—और भी कह देना कि साहब ने तुमको बहाल कर दिया है। जल्दी जाओ, नहीं तो कोई दूसरा आदमी रख लिया जायगा।

औरत ने अपना कपड़ा उठाया और चली गई। अम्मा ने बहुत पुकारा, पर वह न रुकी। शायद अम्माँजी उसे सीधा देना चाहती थीं।

अम्माँ ने पूछा—सचमुच बहाल हो गया?

बाबूजी—और क्या झूठे ही बुला रहा हूँ। मैंने तो पाँचवें ही दिन उसकी बहाली की रिपोर्ट की थी।

अम्मा—यह तुमने बहुत अच्छा किया।

बाबूजी—उसकी बीमारी की यही दवा है।

(४)

प्रातःकाल मैं उठा, तो क्या देखता हूँ कि कजाकी लाठी टेकता हुआ चला आ रहा है। वह बहुत दुबला हो गया था। मालूम होता था, बूढ़ा हो गया है। हरा-भरा पेड़ सूखकर ठूँठा हो गया था। मैं उसकी ओर दौड़ा और उसकी कमर से चिमट गया। कजाकी ने मेरे गाल चूमे और मुझे उठाकर कन्धे पर बैठालने की चेष्टा करने लगा, पर मैं न उठ सका। तब वह जानवरों की भाँति भूमि पर हाथों और घुटनों के बल खड़ा हो गया और मैं उसकी पीठ पर सवार होकर डाकखाने की ओर चला। मैं उस वक्त फूला न समाता था और शायद कजाकी भी मुझसे भी ज्यादा खुश था।

बाबूजी ने कहा—कजाकी, तुम बहाल हो गये। अब कभी देर न करना।

कजाकी रोता हुआ पिताजी के पैरों पर गिर पड़ा, मगर शायद मेरे भाग्य में दोनों सुख भोगना न लिखा था—मुन्नू मिला, तो कजाकी छूटा, कजाकी आया, तो

मुन्नू हाथ से गया और ऐसा गया कि आज तक उसके जाने का दुख है। मुन्नू मेरी ही थाली में खाता था। जब तक मैं खाने न बैठूँ, वह भी कुछ न खाता था। उसे भात से बहुत ही रुचि थी, लेकिन जब तक खूब घी न पड़ा हो, उसे सन्तोष न होता था। वह मेरे ही साथ सोता भी था और मेरे ही साथ उठता भी। सफाई तो उसे इतनी पसन्द थी कि मल-मूत्र त्याग करने के लिए घर से बाहर मैदान में निकल जाता था, कुत्तों से उसे चिढ थी, कुत्तों को घर मे न घुसने देता। कुत्ते को देखते ही थाली से उठ जाता और उसे दौड़ाकर घर से बाहर निकाल देता था।

कजाकी को डाकखाने मे छोड़कर जब मैं खाना खाने गया, तो मुन्नू भी आ बैठा। अभी दो-चार ही कौर खाये थे कि एक बड़ा-सा झबरा कुत्ता आँगन में दिखाई दिया। मुन्नू उसे देखते ही दौड़ा। दूसरे घर मे जाकर कुत्ता चूहा हो जाता है। झबरा कुत्ता उसे आते देखकर भागा। मुन्नू को अब लौट आना चाहिए था, मगर वह कुत्ता उसके लिए यमराज का दूत था। मुन्नू को उसे घर से निकालकर ही संतोष न हुआ। वह उसे घर से बाहर मैदान में भी दौड़ाने लगा। मुन्नू को शायद खयाल न रहा कि यहाँ मेरी अमलदारी नहीं है। वह उस क्षेत्र में पहुँच गया था, जहाँ झबरे का भी उतना ही अधिकार था, जितना मुन्नू का। मुन्नू कुत्तों को भगाते-भगाते कदाचित् अपने बाहुबल पर घमण्ड करने लगा था। वह यह न समझता था कि घर मे उसकी पीठ पर घर के स्वामी का भय काम किया करता है। झबरे ने इस मैदान मे आते ही उलटकर मुन्नू की गरदन दबा दी। बेचारे मुन्नू के मुँह से आवाज़ तक न निकली। जब पड़ोसियों ने शोर मचाया, तो मैं दौड़ा। देखा, तो मुन्नू मरा पड़ा है और झबरे का कहीं पता नही।

आँसुओं की होली

नामों को बिगाड़ने की प्रथा न-जाने कब चली और कहाँ शुरू हुई। कोई इस ससार-व्यापी रोग का पता लगाये तो ऐतिहासिक संसार में अवश्य ही अपना नाम छोड़ जाय। पण्डितजी का नाम तो श्रीविलास था, पर मित्र लोग सिलविल कहा करते थे। नामों का असर चरित्र पर कुछ-न-कुछ पड़ जाता है। बिचारे सिलविल सचमुच ही सिलविल थे। दफ्तर जा रहे हैं; मगर पाजामे का इजारबन्द नीचे लटक रहा है। सिर पर फेल्ट कैप है, पर लम्बी-सी चुटिया पीछे झाँक रही है। अचकन यों बहुत सुन्दर है। कपड़ा फैशनेबल, सिलाई अच्छी; मगर ज़रा नीची हो गई है। न-जाने उन्हें त्योहारों से क्या चिढ थी। दिवाली गुज़र जाती, पर वह भलामानस कौड़ी हाथ में न लेता। और होली का दिन तो उनकी भीषण परीक्षा का दिन था। तीन दिन वह घर से बाहर न निकलते। घर पर भी काले कपड़े पहने बैठे रहते थे। यार लोग टोह में रहते थे कि कहीं बचा फँस जायँ, मगर घर में घुसकर तो फौजदारी नहीं की जाती। एक-आध बार फँसे भी, मगर घिघिया-पुतियाकर बेदाग़ निकल गये।

लेकिन अबकी समस्या बहुत कठिन हो गई थी। शास्त्रों के अनुसार २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करने के बाद उन्होंने विवाह किया था। ब्रह्मचर्य के परिपक्व होने में जो थोड़ी-बहुत कसर रही, वह तीन वर्ष के गौने की मुद्दत ने पूरी कर दी। यद्यपि स्त्री से उन्हें कोई शंका न थी, वह औरतों को सिर चढाने के हामी न थे। इस मामले में उन्हें अपना वही पुराना-धुराना ढङ्ग पसन्द था। बीबी को जब कसकर डाँट दिया, तो उसकी मजाल है कि रङ्ग हाथ से छुये। विपत्ति यह थी कि ससुराल के लोग भी होली मनाने आनेवाले थे। पुरानी मसल है, बहन अन्दर तो भाई सिकन्दर। इन सिकन्दरों के आक्रमण से बचने का उन्हें कोई उपाय न सूझता था। मित्र लोग घर में न जा सकते थे; लेकिन सिकन्दरों को कौन रोक सकता है।

स्त्री ने आँख फाड़कर कहा—अरे भैया! क्या सचमुच रंग न घर लाओगे। यह कैसी होली है, बाबा?

सिलबिल ने त्योरियाँ चढ़ाकर कहा—बस, मैंने एक बार कह दिया और बात दोह-राना मुझे पसन्द नहीं। घर में रंग नहीं आयेगा और न कोई छुयेगा। मुझे कपड़ों पर लाल छींटे देखकर मतली आने लगती है। हमारे घर में ऐसी ही होली होती है।

स्त्री ने सिर झुकाकर कहा—तो न लाना रंग-संग, मुझे रंग लेकर क्या करना है। जब तुम्हीं रंग न छुओगे, तो मैं कैसे छू सकती हूँ। सिलबिल ने प्रसन्न होकर कहा—निस्सन्देह यही साध्वी स्त्री का धर्म है।

'लेकिन भैया तो आनेवाले हैं। वह क्यों मानेंगे ?'

'उनके लिए भी मैंने एक उपाय सोच लिया है। उसे सफल करना तुम्हारा काम है। मैं बीमार बन जाऊँगा। एक चादर ओढ़कर लेटा रहूँगा। तुम कहना, इन्हें ज्वर आ गया। बस, चलो छुट्टी हुई।'

स्त्री ने आँखें नचाकर कहा—ऐ नौज, कैसी बातें मुँह से निकालते हो! ज्वर जाय मुद्दई के घर, यहाँ आये तो मुँह झुलस दूँ निगोड़े का।

'तो फिर दूसरा उपाय ही क्या है ?'

'तुम ऊपरवाली छोटी कोठरी में छिप रहना, मैं कह दूँगी, उन्होंने जुलाब लिया है। बाहर निकलेंगे तो हवा लग जायगी।'

पण्डितजी खिल उठे—बस-बस, यह सबसे अच्छा।

(२)

होली का दिन है। बाहर हाहाकार मचा हुआ है। पुराने जमाने में अबीर और गुलाल के सिवा और कोई रंग न खेला जाता था। अब नीले, हरे, काले, सभी रंगों का मेल हो गया है और इस संगठन से बचना आदमी के लिए तो संभव नहीं। हाँ, देवता बचें, तो बचें। सिलबिल के दोनों साले मुहल्ले भर के मर्दों, औरतों, बच्चों और बूढ़ों का निशाना बने हुए थे। इन्होंने भी एक हण्डा रंग घोल रखा था। सिकन्दरी हमले कर रहे थे। बाहर के दीवानखाने के फर्श, दीवारें यहाँ तक की तस्वीरें भी रंग उठी थीं। घर में भी यही हाल था। मुहल्ले की ननदें भला कब मानने लगी थीं। परनाला तक रंगीन हो गया था।

बड़े साले ने पूछा - क्यों री चम्पा, क्या सचमुच उनकी तबीयत अच्छी नहीं, खाना खाने भी न आये ?

चम्पा ने सिर झुकाकर कहा—हाँ भैया, रात ही से कुछ पेट में दर्द होने लगा, डाक्टर ने हवा में निकलने को मना कर दिया है।

जरा देर बाद छोटे साले ने कहा—क्यों जीजीजी, क्या भाई साहब नीचे नहीं आयेंगे ? ऐसी भी क्या बीमारी है ! कहो तो ऊपर जाकर देख आऊँ।

चम्पा ने उसका हाथ पकड़कर कहा—नहीं-नहीं, ऊपर मत जैयो ! वह रंग-वंग न खेलेंगे। डाक्टर ने हवा में निकलने को मना कर दिया है।

दोनों भाई हाथ मलकर रह गये।

सहसा छोटे भाई को एक बात सूझी—जीजाजी के कपड़ों के साथ क्यों न होली खेलें। वे तो नहीं बीमार हैं।

बड़े भाई के मन में भी यह बात बैठ गई। बहन बेचारी अब क्या करती। सिकन्दरों ने कुञ्जियाँ उसके हाथ से ले लीं और सिलबिल के सारे कपड़े निकाल-निकालकर रंग डाले। रुमाल तक न छोड़ा। जब चम्पा ने उन कपड़ों को आँगन में अलगनी पर सूखने को डाल दिया तो ऐसा जान पड़ा, मानो किसी रंगरेज ने ब्याह के जोड़े रँगे हों। सिलबिल ऊपर बैठे-बैठे यह तमाशा देख रहे थे ; पर ज़बान न खोलते थे। छाती पर साँप-सा लोट रहा था। सारे कपड़े खराब हो गये, दफ्तर जाने को भी कुछ न बचा। इन दुष्टों को मेरे कपड़ों से न-जाने क्या बैर था।

घर में नाना प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजन बन रहे थे। मुहल्ले की एक ब्राह्मणी के साथ चम्पा भी जुती हुई थी। दोनों भाई और कई अन्य सज्जन आँगन में भोजन करने बैठे, तो बड़े साले ने चम्पा से पूछा—कुछ उनके लिए भी खिचड़ी-विचड़ी बनाई है ? पूरियाँ तो बेचारे आज खा न सकेंगे !

चम्पा ने कहा—अभी तो नहीं बनाई, अब बना लूँगी।

'वाह री तेरी अक्ल। अभी तक तुझे इतनी फिक्र नहीं कि वह बिचारे खायँगे क्या। तू तो इतनी लापरवा कभी न थी। जा निकाल ला जल्दी से चावल और मूँग की दाल।'

लीजिए, खिचड़ी पकने लगी। इधर मित्रों ने भोजन करना शुरू किया। सिलबिल ऊपर बैठे अपनी क़िस्मत को रो रहे थे। उन्हें इस सारी विपत्ति का एक ही कारण मालूम होता था—विवाह ! चम्पा न आती, तो ये साले क्यों आते, कपड़े क्यों खराब होते, होली के दिन मूँग की खिचड़ी क्यों खाने को मिलती, मगर अब पछताने से

क्या होता है। जितनी देर में लोगों ने भोजन किया, उतनी देर में खिचड़ी तैयार हो गई। बड़े साले ने खुद चम्पा को ऊपर भेजा कि खिचड़ी की थाली ऊपर दे आये।

सिलबिल ने थाली की ओर कुपित नेत्रों से देखकर कहा—इसे मेरे सामने से हटा ले जाव।

'क्या आज उपास ही करोगे?'

'तुम्हारी यही इच्छा है, तो यही सही।'

'मैंने क्या किया। सवेरे से जुती हुई हूँ। भैया ने खुद खिचड़ी डलवाई और मुझे यहाँ भेजा।'

'हाँ, वह तो मैं देख रहा हूँ कि मैं घर का स्वामी नहीं। सिकन्दरों ने उस पर कब्जा जमा लिया, मगर मैं यह नहीं मान सकता कि तुम चाहतीं, तो और लोगों के पहले ही मेरे पास थाली न पहुँच जाती। मैं इसे पातिव्रत धर्म के विरुद्ध समझता हूँ और क्या कहूँ।'

'तुम तो देख रहे थे कि दोनों जने मेरे सिर पर सवार थे।'

'अच्छी दिल्लगी है कि और लोग तो समोसे और खस्ते उड़ायें और मुझे मूँग की खिचड़ी दी जाय। वाह रे नसीब!'

'तुम इसे दो-चार कौर खा लो, मुझे ज्योंही अवसर मिलेगा, दूसरी थाली लाऊँगी।'

'सारे कपड़े रँगवा डाले। अब दफ़्तर कैसे जाऊँगा। यह दिल्लगी मुझे ज़रा भी नहीं भाती। मैं इसे वदमाशी कहता हूँ। तुमने सन्दूक की कुञ्जी क्यों दे दी, क्या मैं इतना पूछ सकता हूँ?'

'ज़बरदस्ती छीन ली। तुमने सुना नहीं? करती क्या?'

'अच्छा, जो हुआ सो हुआ, यह थाली ले जाव। धर्म समझना, तो दूसरी थाली लाना, नहीं आज व्रत ही सही।'

एकाएक पैरों की आहट पाकर सिलबिल ने सामने देखा, तो दोनों साले चले आ रहे हैं। उन्हें देखते ही बिचारे ने मुँह बना लिया, चादर से शरीर ढक लिया और कराहने लगे।

बड़े साले ने कहा—कहिए, कैसी तबीयत है? थोड़ी-सी खिचड़ी खा लीजिए।

सिलबिल ने मुँह बनाकर कहा—अभी तो कुछ खाने की इच्छा नहीं है।

'नहीं, उपवास करना तो हानिकर होगा। खिचड़ी खा लीजिए।'

बेचारे सिलबिल ने मन में इन दोनों शैतानों को खूब कोसा और विष की भाँति खिचड़ी कण्ठ के नीचे उतारी। आज होली के दिन खिचड़ी ही भाग्य में लिखी थी। जब तक सारी खिचड़ी समाप्त न हो गई, दोनों वहाँ डटे रहे, मानो जेल के अधिकारी किसी अनशन व्रतधारी कैदी को भोजन करा रहे हों। बेचारे को ठूँस-ठूँस खिचड़ी खानी पड़ी। पकवानों के लिए गुञ्जायश ही न रही।

(३)

दस बजे रात को चम्पा उत्तम पदार्थों का थाल लिये पतिदेव के पास पहुँची। महाशय मन-ही-मन झुँझला रहे थे। भाइयों के सामने मेरी परवाह कौन करता है। न-जाने कहाँ से दोनों शैतान फट पड़े। दिन-भर उपवास कराया और अभी तक भोजन का कहीं पता नहीं। बारे चम्पा को थाल लाते देखकर कुछ अग्नि शान्ति हुई। बोले—अभी तो बहुत सबेरा है, एक-दो घण्टे बाद क्यों न आईं?

चम्पा ने सामने थाली रखकर कहा—तुम तो न हारो मानते हो न जीती। अब आखिर ये दो मेहमान आये हुए हैं, इनका सेवा-सत्कार न करूँ, तो भी तो काम नहीं चलता। तुम्हीं को बुरा लगेगा। कौन रोज आयेंगे।

'ईश्वर न करे कि रोज आयें, यहाँ तो एक ही दिन में बधिया बैठ गई।'

थाल की सुगन्धमय, तरवतर चीज़ देखकर सहसा पण्डितजी के मुखारबिन्द पर मुस्कान की लाली दौड़ गई। एक-एक चीज़ खाते थे और चम्पा को सराहते थे—सच कहता हूँ चम्पा, मैंने ऐसी चीज़ें कभी नहीं खाई थीं। हलवाई साला क्या बनायेगा। जी चाहता है, कुछ इनाम दूँ।

'तुम मुझे बना रहे हो। क्या करूँ, जैसा बनाने आता है, बना लाई।'

'नहीं जी, सच कह रहा हूँ। मेरी तो आत्मा तक तृप्त हो गई। आज मुझे ज्ञात हुआ कि भोजन का सम्बन्ध उदर से इतना नहीं, जितना आत्मा से है। बतलाओ, क्या इनाम दूँ?'

'जो माँगूँ, वह दोगे?'

'दूँगा।—जनेऊ की क़सम खाकर कहता हूँ।'

'न दो तो मेरी बात जाय।'

'कहता हूँ भाई, अब कैसे कहूँ। क्या लिखा-पढ़ी कर दूँ?'

'अच्छा तो माँगती हूँ। मुझे अपने साथ होली खेलने दो।'

पण्डितजी का रंग उड़ गया। आँखें फाड़कर बोले—होली खेलने दूँ! मैं तो होली खेलता ही नहीं। कभी नहीं खेला। होली खेलना होता, तो घर में छिपकर क्यों बैठता।

'औरों के साथ मत खेलो, लेकिन मेरे साथ तो खेलना ही पड़ेगा।'

'यह मेरे नियम के विरुद्ध है। जिस चीज़ को अपने घर में उचित समझूँ, उसे किस न्याय से घर के बाहर अनुचित समझूँ, सोचो।'

चम्पा ने सिर नीचा करके कहा—घर में ऐसी कितनी बातें उचित समझते हो, जो घर के बाहर करना अनुचित ही नहीं, पाप है।

पण्डितजी झेंपते हुए बोले—अच्छा भाई, तुम जीतीं, मैं हारा। अब मैं तुमसे यही दान माँगता हूँ

'पहले मेरा पुरस्कार दे दो, पीछे मुझसे दान माँगना'—यह कहते हुए चम्पा ने लोटे का रंग उठा लिया और पण्डितजी को सिर से पाँव तक नहला दिया। जब तक वह उठकर भागें, उसने मुट्ठीभर गुलाल लेकर सारे मुँह में पोत दिया।

पण्डितजी रोनी सूरत बनाकर बोले—अभी और कुछ कसर बाकी हो, तो वह भी पूरी कर लो। मैं न जानता था कि तुम मेरी आस्तीन का साँप बनोगी। अब और कुछ रंग बाकी नहीं रहा?

चम्पा ने पति के मुख की ओर देखा, तो उस पर मनोवेदना का गहरा रंग झलक रहा था। पछताकर बोली—क्या तुम सचमुच बुरा मान गये हो? मैं तो समझती थी कि तुम केवल मुझे चिढ़ा रहे हो।

श्रीविलास ने काँपते हुए स्वर में कहा—नहीं चम्पा, मुझे बुरा नहीं लगा। हाँ, तुमने मुझे उस कर्तव्य की याद दिला दी, जो मैं अपनी कायरता के कारण भूला बैठा था। वह सामने जो चित्र देख रही हो, मेरे परम मित्र मनहरनाथ का है। जो अब संसार में नहीं है। तुमसे क्या कहूँ, कितना सरस, कितना भावुक, कितना साहसी आदमी था। देश की दशा देख-देखकर उसका खून जलता रहता था। १९–२० भी कोई उम्र होती है; पर वह उसी उम्र में अपने जीवन का मार्ग निश्चित कर चुका था। सेवा करने का अवसर पाकर वह इस तरह उसे पकड़ता था, मानो सम्पत्ति हो। जन्म का विरागी था। वासना तो उसे छू ही न गई थी। हमारे और साथी सैर-सपाटे करते थे, पर उसका मार्ग सबसे अलग था। सत्य के लिए प्राण देने को तैयार,

कहीं अन्याय देखा और भवें तन गईं, कहीं पत्रों में अत्याचार की खबर देखी और चेहरा तमतमा उठा। ऐसा तो मैंने आदमी ही नहीं देखा। ईश्वर ने अकाल ही बुला लिया, नहीं तो वह मनुष्यों में रत्न होता। किसी मुसीबत के मारे का उद्धार करने को अपने प्राण हथेली पर लिये फिरता था। स्त्री-जाति का इतना आदर और सम्मान कोई क्या करेगा। स्त्री उसके लिए पूजा और भक्ति की वस्तु थी। पाँच वर्ष हुए, यही होली का दिन था। मैं भंग के नशे में चूर, रंग में सिर से पाँव तक नहाया हुआ उसे गाना सुनने के लिए बुलाने गया, देखा वह कपड़े पहने कहीं जाने को तैयार है। पूछा—कहाँ जा रहे हो?

'उसने मेरा हाथ पकड़कर कहा—तुम अच्छे वक्त पर आ गये, नहीं तो मुझे जाना पड़ता। एक अनाथ बुढ़िया मर गई है, कोई उसे कन्धा देनेवाला नहीं मिलता। कोई किसी मित्र से मिलने गया हुआ है, कोई नशे में चूर पड़ा हुआ है, कोई मित्रों की दावत कर रहा है, कोई महफिल सजाये बैठा है। कोई लाश को उठानेवाला नहीं। ब्राह्मण-क्षत्रिय उस चमारिन की लाश कैसे छुयेंगे, उनका तो धर्म भ्रष्ट होता है, कोई तैयार नहीं होता। बड़ी मुश्किल से दो कहार मिले हैं। एक मैं हूँ, चौथे आदमी की कमी थी, सो ईश्वर ने तुम्हें भेज दिया। चलो चलें।

'हाय! अगर मैं जानता कि यह प्यारे मनहर का आदेश है, तो आज मेरी आत्मा को इतनी ग्लानि न होती। मेरे घर कई मित्र आये हुए थे। गाना हो रहा था। उस वक्त लाश उठाकर नदी जाना मुझे अप्रिय लगा। बोला—इस वक्त तो भाई, मैं नहीं जा सकूँगा। घर पर मेहमान बैठे हुए हैं। मैं तुम्हें बुलाने आया था।

'मनहर ने मेरी ओर तिरस्कार के नेत्रों से देखकर कहा—अच्छी बात है, तुम जाओ, मैं और कोई साथी खोज लूँगा। मगर तुमसे मुझे ऐसी आशा नहीं थी। तुमने भी वही कहा, जो तुमसे पहले औरों ने कहा था। कोई नई बात नहीं थी। अगर हम लोग अपने कर्तव्य को भूल न गये होते, तो आज यह दशा ही क्यों होती? ऐसी होली को धिक्कार है! त्योहार तमाशा देखने, अच्छी-अच्छी चीज़ें खाने और अच्छे-अच्छे कपड़े पहनने का नाम नहीं है। यह व्रत है, तप है, अपने भाइयों से प्रेम और सहानुभूति करना ही त्योहारों का खास मतलब है। और कपड़े लाल करने के पहले खून को लाल कर लो। सुफेद खून पर यह लाली शोभा नहीं देती।

'यह कह वह चला गया। मुझे उस वक्त यह फटकार बहुत बुरी मालूम हुई।

अगर मुझमें वह सेवा-भाव न था, तो उसे मुझे यों धिक्कारने का कोई अधिकार न था। घर चला आया, पर वह बातें बराबर मेरे कानों में गूँजती रहीं। होली का सारा मज़ा बिगड़ गया।

'एक महीने तक हम दोनों से मुलाक़ात न हुई। कालेज इम्तहान की तैयारी के लिए बन्द हो गया था। इसी लिए कालेज में भी भेंट न होती थी। मुझे कुछ खबर नहीं, वह कब और कैसे बीमार पड़ा, कब अपने घर गया। सहसा एक दिन मुझे उसका एक पत्र मिला। हाय! उस पत्र को पढ़कर आज भी छाती फटने लगती है।'

श्रीविलास एक क्षण तक गला रुक जाने के कारण बोल न सके। फिर बोले—किसी दिन तुम्हें फिर दिखाऊँगा। लिखा था, मुझसे आखिरी बार मिल जाओ, अब शायद इस जीवन में भेंट न हो। खत मेरे हाथ से छूटकर गिर पड़ा। उसका घर मेरठ के जिले में था। दूसरी गाड़ी जाने में आध घण्टे की कसर थी। तुरन्त चल पड़ा। मगर उसके दर्शन न बदे थे। मेरे पहुँचने के पहले ही वह सिधार चुका था। चम्पा, उसके बाद मैंने होली नहीं खेली। होली ही नहीं, और सभी त्योहार छोड़ दिये। ईश्वर ने शायद मुझे क्रिया की शक्ति नहीं दी। अब बहुत चाहता हूँ कि कोई मुझसे सेवा का काम ले। खुद आगे नहीं बढ़ सकता, लेकिन पीछे चलने को तैयार हूँ। पर मुझसे कोई काम लेनेवाला भी नहीं, लेकिन आज यह रंग डालकर तुमने मुझे उस धिक्कार की याद दिला दी। ईश्वर मुझे ऐसी शक्ति दे कि मैं मन में ही नहीं, कर्म में भी मनहरन बनूँ।

यह कहते हुए श्रीविलास ने तश्तरी से गुलाल निकाला और उस चित्र पर छिड़ककर प्रणाम किया।

———

अग्नि-समाधि

साधु-संतों के सत्संग से बुरे भी अच्छे हो जाते हैं, किंतु पयाग का दुर्भाग्य था कि उस पर सत्संग का उलटा ही असर हुआ। उसे गांजे, चरस और भंग का चस्का पड़ गया, जिसका फल यह हुआ कि एक मेहनती, उद्यमशील युवक आलस्य का उपासक बन बैठा। जीवन-संग्राम मे यह आनंद कहाँ! किसी वटवृक्ष के नीचे धूईं जल रही है, एक जटाधारी महात्मा विराज रहे हैं, भक्तजन उन्हे घेरे बैठे हुए हैं, और तिल-तिल पर चरस के दम लग रहे हैं। बीच बीच मे भजन भी हो जाते हैं। मजूरी-धतूरी में यह स्वर्ग-सुख कहाँ! चिलम भरना पयाग का काम था। भक्तों को परलोक मे पुण्य-फल की आशा थी, पयाग को तत्काल फल मिलता था—चिलमों पर पहला हक उसीका होता था। महात्माओं के श्रीमुख से भगवत्-चर्चा सुनते हुए वह आनंद से विह्वल हो उठता था, उस पर आत्मविस्मृति-सी छा जाती थी, वह सौरभ, संगीत और प्रकाश से भरे हुए एक दूसरे ही संसार में पहुँच जाता था। इसलिए जब उसकी स्त्री रुक्मिन रात के दस-ग्यारह बज जाने पर उसे बुलाने आती, तो पयाग को प्रत्यक्ष का क्रूर अनुभव होता, संसार उसे कॉंटों से भरा हुआ जंगल-सा दीखता, विशेषतः जब घर आने पर उसे मालूम होता कि अभी चूल्हा नहीं जला और चने-चबैने की कुछ फिक्र करनी है। वह जाति का भर था, गाँव की चौकीदारी उसकी मीरास थी, दो रुपये और कुछ आने वेतन मिलता था। वरदी और साफा मुफ्त। काम था सप्ताह में एक दिन थाने जाना, वहाँ अफसरों के द्वार पर झाड़ू लगाना, अस्तबल साफ करना, लकड़ी चीरना। पयाग रक्त के घूँट पी पीकर ये काम करता, क्योंकि अवज्ञा शारीरिक और आर्थिक दोनों ही दृष्टि से महँगी पड़ती थी। आँसू यों पुछते थे कि चौकीदारी में यदि कोई काम था, तो इतना ही, और महीने में चार दिन के लिए दो रुपये और कुछ आने कम न थे। फिर, गाँव में भी अगर बड़े आदमियों पर नहीं, तो नीचों पर रोब था। वेतन पेंशन थी और जबसे महात्माओं का

सपर्क हुआ, वह पयाग के जेब-खर्च की मद मे आ गई। अतएव जीविका का प्रश्न दिन-दिन चिन्तोत्पादक रूप धारण करने लगा। इन सत्सगों के पहले यह दपति गाँव मे मजदूरी करता था। रुक्मिन लकड़ियाँ तोड़कर बाजार ले जाती, पयाग कभी आरा चलाता, कभी हल जोतता, कभी पुर हाँकता। जो काम सामने आ जाय, उसमें जुट जाता था। हँसमुख, श्रमशील, विनोदी, निर्द्वंद्व आदमी था और ऐसा आदमी कभी भूखों नहीं मरता। उस पर नम्र इतना कि किसी काम के लिए नहीं न करता। किसी ने कुछ कहा और वह 'अच्छा भैया' कहकर दौड़ा। इसलिए गाँव में उसका मान था। इसी की बदौलत निरुद्यम हो जाने पर भी दो-तीन साल उसे अधिक कष्ट न हुआ। दोनों जून की तो बात ही क्या, जब महतो को यह ऋद्धि न प्राप्त थी, जिनके द्वार पर बैलों की तीन-तीन जोड़ियाँ बँधती थीं, तो पयाग किस गिनती मे था। हाँ, जून की दाल-रोटी मे सदेह न था। परन्तु अब यह समस्या दिन-दिन विषमतर होती जाती थी। उस पर विपत्ति यह थी कि रुक्मिन भी अब किसी कारण से उतनी पति-परायण, उतनी सेवाशील, उतनी तत्पर न थी। नहीं, उसकी प्रगल्भता और वाचालता मे आश्चर्य-जनक विकास होता जाता था। अतएव पयाग को किसी ऐसी सिद्धि की आवश्यकता थी, जो उसे जीविका की चिंता से मुक्त कर दे और वह निश्चित होकर भगवद्भजन और साधु-सेवा में प्रवृत्त हो जाय।

एक दिन रुक्मिन बाजार से लकड़ियाँ बेचकर लौटी, तो पयाग ने कहा—ला, कुछ पैसे मुझे दे दे, दम लगा आऊँ।

रुक्मिन ने मुँह फेरकर कहा—दम लगाने की ऐसी चाट है, तो काम क्यों नहीं करते? क्या आजकल कोई बाबा नहीं हैं, जाकर चिलम भरो।

पयाग ने त्योरी चढाकर कहा—भला चाहती है, तो पैसे दे दे, नहीं इस तरह तग करेगी, तो एक दिन कहीं निकल जाऊँगा, तब रोयेगी।

रुक्मिन अँगूठा दिखाकर बोली – रोये मेरी बला। तुम रहते ही हो, तो कौन सोने का कौर खिला देते हो। अब भी छाती फाड़ती हूँ, तब भी छाती फाड़ूँगी।

"तो अब यही फैसला है?"

"हाँ, हाँ, कह तो दिया, मेरे पास पैसे नहीं हैं।"

"गहने बनवाने के लिए पैसे हैं और मैं चार पैसे माँगता हूँ, तो यों जवाब देती है।"

रुक्मिन तिनककर बोली—"गहने बनवाती हूँ, तो तुम्हारी छाती क्यों फटती है ? तुमने तो पीतल का छल्ला भी नहीं बनवाया, या इतना भी नहीं देखा जाता।"

पयाग उस दिन घर न आया। रात के नौ बज गये, तब रुक्मिन ने किवाड़ बंद कर लिये। समझी गाँव में कहीं छिपा बैठा होगा, समझता होगा, मुझे मनाने आयेगी, मेरी बला जाती है।

जब दूसरे दिन भी पयाग न आया, तो रुक्मिन को चिंता हुई। गाँव-भर छान आई। चिड़िया किसी अड्डे पर न मिली। उस दिन उसने रसोई नहीं बनाई। रात को लेटी भी तो बहुत देर तक आँखें न लगीं। शंका हो रही थी, पयाग सचमुच तो विरक्त नहीं हो गया। उसने सोचा, प्रातःकाल पत्ता-पत्ता छान डालूँगी, किसी साधु-संत के साथ होगा। जाकर थाने में रपट कर दूँगी।

अभी तड़का ही था कि रुक्मिन थाने में चलने को तैयार हो गई। किवाड़ बन्द करके निकली ही थी कि पयाग आता हुआ दिखाई दिया। पर वह अकेला न था। उसके पीछे-पीछे एक स्त्री भी थी। उसकी छींट की साड़ी, रँगी हुई चादर, लम्बा घूँघट और शर्मीली चाल देखकर रुक्मिन का कलेजा धक् से हो गया। वह एक क्षण हत-बुद्धि-सी खड़ी रही, तब बढ़कर नई सौत को दोनों हाथों के बीच में ले लिया और उसे इस भाँति धीरे-धीरे घर के अन्दर ले चली, जैसे कोई रोगी जीवन से निराश होकर विष-पान कर रहा हो।

जब पड़ोसिनों की भीड़ छँट गई, तो रुक्मिन ने पयाग से पूछा—इसे कहाँ से लाये ?

पयाग ने हँसकर कहा—घर से भागी जाती थी, मुझे रस्ते में मिल गई। घर का काम-धंधा करेगी, पड़ी रहेगी।

"मालूम होता है, मुझसे तुम्हारा जी भर गया।"

पयाग ने तिरछी चितवनों से देखकर कहा—दुत पगली, इसे तेरी सेवा-टहल करने को लाया हूँ।

"नई के आगे पुरानी को कौन पूछता है ?"

"चल, मन जिससे मिले वही नई है, मन जिससे न मिले वही पुरानी है। ला, कुछ पैसे हों तो दे दे, तीन दिन से दम नहीं लगाया, पैर सीधे नहीं पड़ते। हाँ, देख, दो-चार दिन इस बेचारी को खिला-पिला दे, फिर तो आप ही काम करने लगेगी।"

रुक्मिन ने पूरा रुपया लाकर पयाग के हाथ पर रख दिया। दूसरी बार कहने की ज़रूरत ही न पड़ी।

(२)

पयाग में और चाहे कोई गुण हो या न हो, यह मानना पड़ेगा कि वह शासन के मूल सिद्धांतों से परिचित था। उसने भेद-नीति को अपना लक्ष्य बना लिया था।

एक मास तक किसी प्रकार की विघ्न-बाधा न पड़ी। रुक्मिन अपनी सारी चौकड़ियाँ भूल गई थी। बड़े तड़के उठती, कभी लकड़ियाँ तोड़कर, कभी चारा काटकर, कभी उपले पाथकर, बाज़ार ले जाती। वहाँ जो कुछ मिलता, उसका आधा तो पयाग के हत्थे चढ़ता और आधे में घर का काम चलता। वह सौत को कोई काम न करने देती। पड़ोसिनों से कहती, बहन, सौत है तो क्या, है तो अभी कल की बहुरिया। दो-चार महीने भी आराम से न रहेगी, तो क्या याद करेगी। मैं तो काम करने को हूँ ही।

गाँव-भर में रुक्मिन के शील स्वभाव का बखान होता था, पर सत्संगी घाघ पयाग सब कुछ समझता था और अपनी नीति की सफलता पर प्रसन्न होता था।

एक दिन बहू ने कहा—दीदी, अब तो घर में बैठे-बैठे जी ऊबता है। मुझे भी कोई काम दिला दो।

रुक्मिन ने स्नेह-सिंचित स्वर मे कहा—क्या मेरे मुँह में कालिख पुतवाने पर लगी हुई है? भीतर का काम किये जा, बाहर के लिए तो मैं हूँ ही।

बहू का नाम कौसल्या था, जो बिगड़कर सिलिया हो गया था। इस वक्त तो सिलिया ने कुछ जवाब न दिया। लेकिन यह लौंडियों की दशा अब उसके लिए असह्य हो गई थी। वह दिन-भर घर का काम करते करते मरे, कोई नहीं पूछता। रुक्मिन बाहर से चार पैसे लाती है, तो घर की मालिकिन बनी हुई है। अब सिलिया भी मजूरी करेगी और मालिकिन का घमण्ड तोड़ देगी। पयाग पैसों का यार है, यह बात उससे अब छिपी न थी। जब रुक्मिन चारा लेकर बाज़ार चली गई, तो उसने घर की टट्टी लगाई और गाँव का रंग-ढंग देखने के लिए निकल पड़ी। गाँव में ब्राह्मण, ठाकुर, कायस्थ, बनिये सभी थे। सिलिया ने शील और संकोच का कुछ ऐसा स्वाँग रचा कि सभी स्त्रियाँ उस पर मुग्ध हो गईं। किसी ने चावल दिया, किसी ने दाल, किसी ने कुछ। नई बहू की आवभगत कौन न करता? पहले ही दौरे में सिलिया

को मालूम हो गया कि गाँव में पिसनहारी का स्थान खाली है और वह इस कमी को पूरा कर सकती है। वह यहाँ से घर लौटी, तो उसके सिर पर गेहूँ से भरी हुई एक टोकरी थी।

पयाग ने पहर रात ही से चक्की की आवाज़ सुनी, तो रुक्मिन से बोला—आज तो सिलिया अभी से पीसने लगी।

रुक्मिन बाज़ार से आटा लाया करती थी। अनाज और आटे के भाव में विशेष अन्तर न था। उसे आश्चर्य हुआ कि सिलिया इतने सबेरे क्या पीस रही है। उठकर चक्कीवाली कोठरी में गई, तो देखा, सिलिया अँधेरे में बैठी कुछ पीस रही है। उसने जाकर उसका हाथ पकड़ लिया और टोकरी को उठाकर बोली—तुझसे किसने पीसने को कहा है? किसका अनाज पीस रही है?

सिलिया ने निश्शंक होकर कहा—तुम जाकर आराम से सोती क्यों नहीं। मैं पीसती हूँ तो तुम्हारा क्या बिगड़ता है। चक्की की घुमुर-घुमुर भी नहीं सही जाती? लाओ, टोकरी दे दो। बैठे-बैठे कब तक खाऊँगी, दो महीने तो हो गये।

"मैंने तो तुझसे कुछ नहीं कहा।"

"तुम कहो चाहे न कहो, अपना धरम भी तो कुछ है?"

"तू अभी यहाँ के आदमियों को नहीं जानती। आटा पिसाते तो सबको अच्छा लगता है। पैसे देते रोते हैं। किसका गेहूँ है? मैं सबेरे उसके सिर पटक आऊँगी।"

सिलिया ने रुक्मिन के हाथ से टोकरी छीन ली और बोली—पैसे क्यों न देंगे? कुछ बेगार करती हूँ।

"तू न मानेगी?"

"तुम्हारी लौंडी बनकर न रहूँगी।"

यह तकरार सुनकर पयाग भी आ पहुँचा और रुक्मिन से बोला—काम करती है तो करने क्यों नहीं देती? अब क्या जनम-भर बहुरिया ही बनी रहेगी। हो तो गये दो महीने।

"तुम क्या जानो, नाक तो मेरी कटेगी।"

सिलिया बोल उठी—तो क्या कोई बैठे खिलाता है। चौका-बरतन, झाड़ू-बहारू, रोटी-पानी, पीसना-कूटना, यह कौन करता है? पानी खींचते-खींचते मेरे हाथों में घट्ठे पड़ गये। मुझसे अब यह सारा काम न होगा।

पयाग ने कहा—तो तू ही बाज़ार जाया कर। घर का काम रहने दे। रुक्मिन कर लेगी। रुक्मिन ने आपत्ति की—ऐसी बात मुँह से निकालते लाज नहीं आती? तीन दिन की बहुरिया बाज़ार में घूमेगी तो संसार क्या कहेगा?

सिलिया ने आग्रह करके कहा—संसार क्या कहेगा, क्या कोई ऐब करने जाती हूँ?

सिलिया की डिग्री हो गई। आधिपत्य रुक्मिन के हाथ से निकल गया। सिलिया की अमल्दारी हो गई। जवान औरत थी। गेहूँ पीसकर उठी तो औरों के साथ घास छीलने चली गई और इतनी घास छीली कि सब दंग रह गईं! गट्ठा उठाये न उठता था। जिन पुरुषों को घास छीलने का बड़ा अभ्यास था, उनसे भी उसने बाज़ी मार ली! यह गट्ठा बारह आने को बिका। सिलिया ने आटा, चावल, दाल, तेल, नमक, तरकारी, मसाला सब कुछ लिया, और चार आने बचा लिये। रुक्मिन ने समझ रखा था कि सिलिया बाज़ार से दो-चार आने पैसे लेकर लौटेगी तो उसे डाँटूँगी और दूसरे दिन से फिर बाज़ार जाने लगूँगी। फिर मेरा राज्य हो जायगा। पर यह सामान देखे, तो आँखें खुल गईं। पयाग खाने बैठा तो मसालेदार तरकारी का बखान करने लगा। महीनों से, ऐसी स्वादिष्ट वस्तु मयस्सर न हुई थी। बहुत प्रसन्न हुआ। भोजन करके, वह बाहर जाने लगा, तो सिलिया बरोठे में खड़ी मिल गई। बोला—आज कितने पैसे मिले?

"बारह आने मिले थे।"

"सब खर्च कर डाले? कुछ बचे हों तो मुझे दे दे।"

सिलिया ने बचे हुए चार आने पैसे दे दिये। पयाग पैसे खनखनाता हुआ बोला-तूने तो आज मालामाल कर दिया। रुक्मिन तो दो-चार पैसों ही में टाल देती थी।

"मुझे गाड़कर रखना थोड़ा ही है। पैसा खाने-पीने के लिए है कि गाड़ने के लिए?"

"अब तू ही बाजार जाया कर, रुक्मिन घर का काम करेगी।"

(२)

रुक्मिन और सिलिया में संग्राम छिड़ गया। सिलिया पयाग पर अपना आधिपत्य जमाये रखने के लिए जान तोड़कर परिश्रम करती। पहर रात ही से उसकी

चक्की की आवाज़ कानों मे आने लगती। दिन निकलते ही घास लाने चली जाती और जरा देर सुस्ताकर बाजार की राह लेती। वहाँ से लौटकर भी वह बेकार न बैठती, कभी सन कातती, कभी लकड़ियाँ तोड़ती। रुक्मिन उसके प्रबंध में बराबर ऐब निकालती और जब अवसर मिलता तो गोबर बटोरकर उपले पाथती और गाँव मे बेचती। पयाग के दोनों हाथों में लड्डू थे। स्त्रियाँ उसे अधिक-से-अधिक पैसे देने और उसके स्नेह का अधिकाश अपने अधिकार में लाने का प्रयत्न करती रहतीं, पर सिलिया ने कुछ ऐसी दृढता से आसन जमा लिया था कि किसी तरह हिलाये न हिलती थी। यहाँ तक कि एक दिन दोनों प्रतियोगियों में खुल्लमखुल्ला ठन गई। एक दिन सिलिया घास लेकर लौटी तो पसीने मे तर थी। फागुन का महीना था; धूप तेज़ थी, उसने सोचा, नहाकर तब बाज़ार जाऊँ। घास द्वार पर ही रखकर वह तालाब नहाने चली गई। रुक्मिन ने थोड़ी-सी घास निकालकर पड़ोसिन के घर में छिपा दी और गट्ठे को ढीला करके बराबर कर दिया। सिलिया नहाकर लौटी तो घास कम मालूम हुई। रुक्मिन से पूछा। उसने कहा—मैं नहीं जानती। सिलिया ने गालियाँ देनी शुरू कीं—जिसने मेरी घास छुई हो, उसकी देह में कीड़े पड़ें, उसके बाप और भाई मर जायँ, उसकी आँखें फूट जायँ। रुक्मिन कुछ देर तक तो ज़ब्त किये बैठी रही, आखिर ख़ून में उबाल आ ही गया। झल्लाकर उठी और सिलिया के दो-तीन तमाचे लगा दिये। सिलिया छाती पीट-पीटकर रोने लगी। सारा मुहल्ला जमा हो गया। सिलिया की सुबुद्धि और कार्यशीलता सभी की आँखों में खटकती थी—वह सबसे अधिक घास क्यों छीलती है, सबसे ज्यादा लकड़ियाँ क्यों लाती है, इतने सबेरे क्यों उठती है, इतने पैसे क्यों लाती है, इन कारणों ने उसे पड़ोसियों की सहानुभूति से वंचित कर दिया था। सब उसी को बुरा-भला कहने लगीं। मुट्ठी-भर घास के लिए इतना ऊधम मचा डाला, इतनी घास तो आदमी झाड़कर फेंक देता है, घास न हुई, सोना हुआ। तुझे तो सोचना चाहिए था कि अगर किसी ने ले ही लिया, तो है, तो गाँव-घर ही का। बाहर का कोई चोर तो आया नहीं। तूने इतनी गालियाँ दीं, तो किसको दीं। पड़ोसियों ही को तो।

संयोग से उस दिन पयाग थाने गया हुआ था। शाम को थका-माँदा लौटा तो सिलिया से बोला—ला, कुछ पैसे दे दे तो दम लगा आऊँ। थककर चूर हो गया हूँ।

सिलिया उसे देखते ही हाय-हाय करके रोने लगी। पयाग ने घबड़ाकर पूछा—

क्या हुआ क्या ? क्यों रोती है ? कहीं गमी तो नहीं हो गई ? नैहर से कोई आदमी तो नहीं आया ?

"अब इस घर मे मेरा रहना न होगा। अपने घर जाऊँगी।"

"अरे कुछ मुँह से तो बोल, हुआ क्या ? गाँव में किसी ने गाली दी है, किसने गाली दी है ? घर फूँक दूँ, उसका चालान करवा दूँ।"

सिलिया ने रो-रोकर सारी कथा कह सुनाई। पयाग पर आज थाने मे खूब मार पड़ी थी। झल्लाया हुआ था। यह कथा सुनी, तो देह में आग लग गई। रुक्मिन पानी भरने गई थी। वह अभी घड़ा भी न रखने पाई थी कि पयाग उस पर टूट पड़ा और मारते-मारते बेदम कर दिया। वह मार का जवाब गालियों से देती थी और पयाग हरएक गाली पर और भी झल्ला-झल्लाकर मारता था। यहाँ तक कि रुक्मिन के घुटने फूट गये, चूड़ियाँ टूट गईं। सिलिया बीच बीच में कहती जाती थी—वाह रे तेरा दीदा, वाह रे तेरी ज़बान। ऐसी तो औरत ही नहीं देखी। औरत काहे को, डाइन है, ज़रा भी मुँह में लगाम नहीं। किंतु रुक्मिन उसकी बातों को मानो सुनती ही न थी। उसकी सारी शक्ति पयाग को कोसने में लगी हुई थी। पयाग मारते-मारते थक गया, पर रुक्मिन की ज़बान न थकी। बस यही रट लगी हुई थी – तू मर जा, तेरी मिट्टी निकले, तुझे भवानी खायँ, तुझे मिरगी आये। पयाग रह-रहकर क्रोध से तिलमिला उठता और आकर दो-चार लातें जमा देता। पर रुक्मिन को अब शायद चोट ही न लगती थी। वह जगह से हिलती भी न थी। सिर के बाल खोले, ज़मीन पर बैठी इन्हीं मन्त्रों का पाठ कर रही थी। उसके स्वर में अब क्रोध न था, केवल एक उन्माद-मय प्रवाह था। उसकी समस्त आत्मा हिंसा-कामना की अग्नि से प्रज्वलित हो रही थी।

अँधेरा हुआ तो रुक्मिन उठकर एक ओर निकल गई, जैसे आँखों से आँसू की धार निकल जाती है। सिलिया भोजन बना रही थी। उसने उसे जाते देखा भी, पर कुछ पूछा नहीं। द्वार पर पयाग बैठा चिलम पी रहा था। उसने भी कुछ न कहा।

(४)

जब फसल पकने लगती थी तो डेढ़-दो महीने तक पयाग को हार की देखभाल करनी पड़ती थी। उसे किसानों से दोनों फसलों पर हल पीछे कुछ अनाज बँधा हुआ था। माघ ही मे वह हार के बीच में थोड़ी-सी ज़मीन साफ करके एक मड़ैया डाल लेता था और रात को खा-पीकर आग, चिलम, तमाखू, चरस लिये हुए इसी मड़ैया मे जाकर पड़ रहता

था। चैत के अंत तक उसका यही नियम रहता था। आजकल वही दिन थे। फसल पकी हुई तैयार खड़ी थी। दो-चार दिन में कटाई शुरू होनेवाली थी। पयाग ने दस बजे रात तक रुक्मिन की राह देखी। फिर यह समझकर कि शायद किसी पड़ोसिन के घर सो रही होगी, उसने खा-पीकर अपनी लाठी उठाई और सिलिया से बोला—किवाड़ बंद कर ले, अगर रुक्मिन आये तो खोल देना और मना-जुनाकर थोड़ा-बहुत खिला देना। तेरे पीछे आज इतना तूफान हो गया। मुझे न-जाने इतना गुस्सा कैसे आ गया। मैंने उसे कभी फूल की छड़ी से भी न छुआ था। कहीं बूड़-धँस न मरी हो, तो कल आफत आ जाय।

सिलिया बोली—न-जाने वह आयेगी कि नहीं। मैं अकेली कैसे रहूँगी। मुझे डर लगता है।

"तो घर में कौन रहेगा। सूना घर पाकर कोई लोटा-थाली उठा ले जाय तो? डर किस बात का है? फिर रुक्मिन तो आती ही होगी।"

सिलिया ने अंदर से टट्टी बंद कर ली। पयाग हार की ओर चला। चरस की तरंग में यह भजन गाता जाता था—

> ठगिनी क्या नैना झमकावे।
> कद्दू काट मृदंग बनावे, नीबू काट मजीरा,
> पाँच तरोई मंगल गावें, नाचे बालम खीरा।
> रूपा पहिरके रूप दिखावे, सोना पहिर रिझावे;
> गले डाल तुलसी की माला, तीन लोक भरमावे।
> ठगिनी०।

सहसा सिवाने पर पहुँचते ही उसने देखा कि सामने हार में किसी ने आग जलाई। एक क्षण में एक ज्वाला-सी दहक उठी। उसने चिल्लाकर पुकारा—कौन है वहाँ? अरे, यह कौन आग जलाता है?

ऊपर उठती हुई ज्वालाओं ने अपनी आग्नेय जिह्वा से उत्तर दिया।

अब पयाग को मालूम हुआ कि उसकी मड़ैया में आग लगी हुई है। उसकी छाती धड़कने लगी। इस मड़ैया में आग लगना रुई के ढेर में आग लगना था। हवा चल रही थी। मड़ैया के चारों ओर एक हाथ हटकर पकी हुई फसल की चादरें-सी

बिछी हुई थीं। रात में भी उनका सुनहरा रंग झलक रहा था। आग की एक लपट, केवल एक ज़रा-सी चिनगारी सारे हार को भस्म कर देगी। सारा गाँव तबाह हो जायगा। इसी हार से मिले हुए दूसरे गाँव के हार भी थे। वे भी जल उठेंगे। ओह! लपटें बढ़ती जा रही हैं! अब विलंब करने का समय न था। पयाग ने अपना उपला और चिलम वहीं पटक दिया और कंधे पर लोहबंद लाठी रखकर बेतहाशा मड़ैया की तरफ दौड़ा। मेंड़ों से जाने में चक्कर था, इसलिए वह खेतों में से होकर भागा जा रहा था। प्रतिक्षण ज्वाला प्रचंडतर होती जाती थी और पयाग के पाँव और भी तेजी से उठ रहे थे। कोई तेज घोड़ा भी इस वक्त उसे पा न सकता। अपनी तेज़ी पर उसे स्वयं आश्चर्य हो रहा था। जान पड़ता था, पाँव भूमि पर पड़ते ही नहीं। उसकी आँखें मड़ैया पर लगी हुई थीं—दाहिने-बायें उसे और कुछ न सूझता था। इसी एकाग्रता ने उसके पैरों में पर लगा दिये थे। न दम फूलता था, न पाँव थकते थे। तीन-चार फरलाँग उसने दो मिनट में तय कर लिये और मड़ैया के पास जा पहुँचा।

मड़ैया के आसपास कोई न था। किसने यह कर्म किया है यह सोचने का मौक़ा न था। उसे खोजने की तो बात ही और थी। पयाग का संदेह रुक्मिन पर हुआ। पर यह क्रोध का समय न था। ज्वालाएँ कुचाली बालकों की भाँति ठट्ठा मारतीं, धक्कम-धक्का करतीं, कभी दाहिनी ओर लपकतीं और कभी बाईं तरफ। बस, ऐसा मालूम होता था कि लपट अब खेत तक पहुँची, अब पहुँची, मानो ज्वालाएँ आग्रह-पूर्वक क्यारियों की ओर बढ़तीं और असफल होकर दूसरी बार फिर दूने वेग से लपकती थीं। आग कैसे बुझे! लाठी से पीटकर बुझाने का गौं न था। वह तो निरी मूर्खता थी। फिर क्या हो! फसल जल गई, तो फिर वह किसी को मुँह न दिखा सकेगा। आह! गाँव में कोहराम मच जायगा। सर्वनाश हो जायगा। उसने ज्यादा नहीं सोचा। गँवारों को सोचना नहीं आता। पयाग ने लाठी सँभाली, ज़ोर से एक छलाँग मारकर आग के अन्दर मड़ैया के द्वार पर जा पहुँचा, जलती हुई मड़ैया को अपनी लाठी पर उठाया और उसे सिर पर लिये सबसे चौड़ी मेड़ पर गाँव की तरफ भागा। ऐसा जान पड़ा, मानो कोई अग्नियान हवा में उड़ता चला जा रहा है। फूस की जलती हुई धज्जियाँ उसके ऊपर गिर रही थीं, पर उसे इसका ज्ञान तक न होता था। एक बार एक मूठा अलग होकर उसके हाथ पर गिर पड़ा। सारा हाथ भुन गया।

पर उसके पाँव पल भर भी नहीं रुके, हाथों में ज़रा भी हिचक न हुई। हाथों का हिलना खेती का तबाह होना था। पयाग की ओर से अब कोई शंका न थी। अगर भय था तो यही कि मड़ैया का वह केंद्र-भाग, जहाँ लाठी का कुंदा डालकर पयाग ने उसे उठाया था, न जल जाय, क्योंकि छेद के फैलते ही मड़ैया उसके ऊपर आ गिरेगी और उसे अग्नि-समाधि में मग्न कर देगी। पयाग यह जानता था और हवा की चाल से उड़ा जाता था। चार फरलाँग की दौड़ है। मृत्यु अग्नि का रूप धारण किये हुए पयाग के सिर पर खेल रही है और गाँव की फसल पर। उसकी दौड़ में इतना वेग है कि ज्वालाओं का मुँह पीछे को फिर गया है और उनकी दाहक शक्ति का अधिकांश वायु से लड़ने में लग रहा है नहीं तो अब तक बीच में आग पहुँच गई होती और हाहाकार मच गया होता। एक फरलाँग तो निकल गया, पयाग की हिम्मत ने हार नहीं मानी। वह दूसरा फरलाँग भी पूरा हो गया। देखना पयाग, दो फरलाँग की और कसर है। पाँव जरा भी सुस्त न हों। ज्वाला लाठी के कुन्दे पर पहुँची और तुम्हारे जीवन का अन्त है। मरने बाद भी तुम्हें गालियाँ मिलेंगी, तुम अनन्त काल तक आहों की आग में जलते रहोगे। बस, एक मिनट और! अब केवल दो खेत और रह गये हैं। सर्वनाश! लाठी का कुन्दा ऊपर निकल गया। मड़ैया नीचे खिसक रही है—अब कोई आशा नहीं। पयाग प्राण छोड़कर दौड़ रहा है, वह किनारे का खेत आ पहुँचा। अब केवल दो सेकेण्ड का और मामला है। विजय का द्वार सामने बीस हाथ पर खड़ा स्वागत कर रहा है। उधर स्वर्ग है, इधर नरक। मगर वह मड़ैया खिसकती हुई पयाग के सिर पर आ पहुँची। वह अब भी उसे फेंककर अपनी जान बचा सकता है। पर उसे प्राणों का मोह नहीं। वह उस जलती हुई आग को सिर पर लिये भागा जा रहा है! वह उसके पाँव लड़खड़ाये! हाय! अब यह क्रूर अग्नि-लीला नहीं देखी जाती।

एकाएक एक स्त्री सामने के वृक्ष के नीचे से दौड़ती हुई पयाग के पास पहुँची। यह रुक्मिन थी। उसने तुरन्त पयाग के सामने आकर गरदन झुकाई और जलती हुई मड़ैया के नीचे पहुँचकर उसे दोनों हाथों पर ले लिया। उसी दम पयाग मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। उसका सारा मुँह झुलस गया था।

रुक्मिन उस अलाव को लिये हुए एक सेकेंड में खेत के डाँड़े पर आ पहुँची, मगर इतनी दूर में उसके हाथ जल गये, मुँह जल गया और कपड़ों में आग लग गई

उसे अब इतनी सुधि भी न थी कि मड़ैया के बाहर निकल आये। वह मड़ैया को लिये हुए गिर पड़ी। इसके बाद कुछ देर तक मड़ैया हिलती रही। रुक्मिन हाथ-पाँव फेंकती रही, फिर अग्नि ने उसे निगल लिया। रुक्मिन ने अग्नि-समाधि ले ली।

कुछ देर के बाद पयाग को होश आया। सारी देह जल रही थी। उसने देखा, वृक्ष के नीचे फूस की लाल आग चमक रही है। उठकर दौड़ा और पैर से आग को हटा दिया—नीचे रुक्मिन की अधजली लाश पड़ी हुई थी। उसने बैठकर दोनों हाथों से मुँह ढाँप लिया और रोने लगा।

प्रातःकाल गाँव के लोग पयाग को उठाकर उसके घर ले गये। एक सप्ताह तक उसका इलाज होता रहा, पर बचा नहीं। कुछ तो आग ने जलाया था। जो कसर थी वह शोकाग्नि ने पूरी कर दी।

सुजान भगत

(१)

सीधे-सादे किसान धन हाथ आते ही धर्म और कीर्ति की ओर झुकते हैं। दिव्य समाजकी भाँति वे पहले अपने भोग-विलास की ओर नहीं दौड़ते। सुजान की खेती में कई साल से कचन बरस रहा था। मेहनत तो गाँव के सभी किसान करते थे, पर सुजान के चंद्रमा बली थे, ऊसर में भी दाना छींट आता, तो कुछ-न-कुछ पैदा हो जाता था। तीन वर्ष लगातार ऊख लगती गई। उधर गुड़ का भाव तेज़ था। कोई दो-ढाई हज़ार हाथ में आ गये। बस, चित्त की वृत्ति धर्म की ओर झुक पड़ी। साधु-सतों का आदर-सत्कार होने लगा, द्वार पर धूनी जलने लगी, क़ानूनगो इलाक़े में आते, तो सुजान महतो के चौपाल में ठहरते, हल्के के हेड कांस्टेबिल, थानेदार, शिक्षा-विभाग के अफसर, एक न-एक उस चौपाल मे पड़ा ही रहता। महतो मारे खुशी के फूले न समाते। धन्य भाग! उनके द्वार पर अब इतने बड़े-बड़े हाकिम आकर ठहरते हैं। जिन हाकिमों के सामने उनका मुँह न खुलता था, उन्हीं की अब महतो-महतो कहते ज़बान सूखती थी। कभी-कभी भजन-भाव हो जाता। एक महात्मा ने डौल अच्छा देखा तो गाँव में आसन जमा दिया। गाँजे और चरस की वहार उड़ने लगी। एक ढोलक आई, मँजीरे मँगवाये गये, सत्संग होने लगा। यह सब सुजान के दम का जलूस था। घर में सेरों दूध होता, मगर सुजान के कठ-तले एक बूँद जाने की भी कसम थी। कभी हाकिम लोग चखते, कभी महात्मा लोग। किसान को दूध-घी से क्या मतलब, उसे तो रोटी और साग चाहिए। सुजान की नम्रता का अब वारापार न था। सबके सामने सिर झुकाये रहता, कहीं लोग यह न कहने लगें कि धन पाकर इसे घमड हो गया है। गाँव में कुल तीन ही कुएँ थे, बहुत-से खेतों में पानी न पहुँचता था, खेती मारी जाती थी। सुजान ने एक पक्का कुआँ बनवा दिया। कुएँ का विवाह हुआ, यज्ञ हुआ, ब्रह्मभोज हुआ, जिस दिन कुएँ पर पहली

बार पुर चला, सुजान को मानो चारों पदार्थ मिल गये। जो काम गाँव में किसी ने न किया था, वह बाप-दादा के पुण्य-प्रताप से सुजान ने कर दिखाया।

एक दिन गाँव में गया के यात्री आकर ठहरे। सुजान ही के द्वार पर उनका भोजन बना। सुजान के मन में भी गया करने की बहुत दिनों से इच्छा थी। यह अच्छा अवसर देखकर वह भी चलने को तैयार हो गया।

उसकी स्त्री बुलाकी ने कहा—अभी रहने दो, अगले साल चलेंगे।

सुजान ने गभीर भाव से कहा—अगले साल क्या होगा, कौन जानता है। धर्म के काम में मीन-मेष निकालना अच्छा नहीं। जिंदगानी का क्या भरोसा!

बुलाकी—हाथ खाली हो जायगा।

सुजान—भगवान् की इच्छा होगी, तो फिर रुपये हो जायगे। उनके यहाँ किस बात की कमी है।

बुलाकी इसका क्या जवाब देती। सत्कार्य में बाधा डालकर अपनी मुक्ति क्यों बिगाड़ती? प्रातःकाल स्त्री और पुरुष गया करने चले। वहाँ से लौटे, तो यज्ञ और ब्रह्मभोज की ठहरी। सारी बिरादरी निमन्त्रित हुई, ग्यारह गाँवों में सुपारी बटी। इस धूम-धाम से कार्य हुआ कि चारों ओर वाह-वाह मच गई। सब यही कहते कि भगवान् धन दे तो दिल भी ऐसा ही दे। घमड तो छू नहीं गया, अपने हाथ से पत्तल उठाता फिरता था, कुल का नाम जगा दिया। बेटा हो, तो ऐसा हो। बाप मरा, तो घर में भूनी भाँग भी नहीं। अब लक्ष्मी घुटने तोड़कर आ बैठी हैं।

एक द्वेषी ने कहा—कहीं गड़ा हुआ धन पा गया है। इस पर चारों ओर से उस पर बौछारें पड़ने लगीं—हाँ, तुम्हारे बाप-दादा जो खज़ाना छोड़ गये थे, वही उसके हाथ लग गया है। अरे भैया, यह धर्म की कमाई है। तुम भी तो छाती फाड़कर काम करते हो, क्यों ऐसी ऊख नहीं लगती, क्यों ऐसी फसल नहीं होती? भगवान् आदमी का दिल देखते हैं, जो खर्च करना जानता है, उसी को देते हैं।

(२)

सुजान महतो सुजान भगत हो गये। भगतों के आचार-विचार कुछ और ही होते हैं। वह बिना स्नान किये कुछ नहीं खाता। गगाजी अगर घर से दूर हों और वह रोज़ स्नान करके दोपहर तक घर न लौट सकता हो, तो पर्वों के दिन तो उसे अवश्य ही नहाना चाहिए। भजन-भाव उसके घर अवश्य होना चाहिए। पूजा-अर्चा उसके

लिए अनिवार्य है। खान-पान मे भी उसे वहुत विचार रखना पड़ता है। सबसे बड़ी बात यह है कि झूठ का त्याग करना पड़ता है। भगत झूठ नहीं बोल सकता। साधारण मनुष्य को अगर झूठ का दंड एक मिले, तो भगत को एक लाख से कम नहीं मिल सकता। अज्ञान की अवस्था में कितने ही अपराध क्षम्य हो जाते हैं। ज्ञानी के लिए क्षमा नहीं है, प्रायश्चित्त नहीं है, या तो बहुत ही कठिन। सुजान को भी अब भगतों की मर्यादा को निभाना पड़ा। अब तक उसका जीवन मजूर का जीवन था उसका कोई आदर्श, कोई मर्यादा उसके सामने न थी। अब उसके जीवन में विचार का उदय हुआ, जहाँ का मार्ग काँटों से भरा हुआ है। स्वार्थ-सेवा ही पहले उसके जीवन का लक्ष्य था, इसी काँटे से वह परिस्थितियों को तौलता था। वह अब उन्हें औचित्य के काँटो पर तौलने लगा। यों कहो कि जड़-जगत् से निकलकर उसने चेतन-जगत् में प्रवेश किया। उसने कुछ लेन-देन करना शुरू किया था, पर अब उसे ब्याज लेते हुए आत्मग्लानि-सी होती थी। यहाँ तक कि गउओं को दुहाते समय उसे बछड़ों का ध्यान बना रहता था - कहीं बछड़ा भूखा न रह जाय, नहीं उसका रोयाँ दुखी होगा। वह गाँव का मुखिया था, कितने ही मुक़दमों मे उसने झूठी शहादतें बनवाई थीं, कितनों से डाँड़ लेकर मामले को रफा-दफा करा दिया था। अब इन व्यापारों से उसे घृणा होती थी। झूठ और प्रपच से कोसों भागता था। पहले उसकी यह चेष्टा होती थी कि मजूरों से जितना काम लिया जा सके, लो और मजूरी जितनी कम दी जा सके, दो, पर अब उसे मजूरी के काम की कम मजूरी की अधिक चिन्ता रहती थी—कहीं बेचारे मजूर का रोयाँ न दुखी हो जाय। यह उसका सखुतन किया सा हो गया—किसी का रोयाँ न दुखी हो जाय। उसके दोनों जवान बेटे बात-बात में उस पर फब्तियाँ कसते, यहाँ तक कि बुलाकी भी अब उसे कोरा भगत समझने लगी, जिसे घर के भले-बुरे से कोई प्रयोजन न था। चेतन-जगत् में आकर सुजान भगत कोरे भगत रह गये।

सुजान के हाथों से धीरे-धीरे अधिकार छीने जाने लगे। किस खेत में क्या बोना है, किसको क्या देना है, किससे क्या लेना है, किस भाव क्या चीज़ बिकी, ऐसी-ऐसी महत्त्व-पूर्ण बातों में भी भगतजी की सलाह न ली जाती। भगत के पास कोई जाने ही न पाता। दोनों लड़के या स्वय बुलाकी दूर ही से मामला कर लिया करती। गाँव भर में सुजान का मान-सम्मान बढता था, अपने घर में घटता था। लड़के उसका सत्कार अब बहुत करते। हाथ से चारपाई उठाते देख लपकर खुद उठा लाते, उसे

चिलम न भरने देते, यहाँ तक कि उसकी धोती छाँटने के लिए भी आग्रह करते थे। मगर अधिकार उसके हाथ में न था। वह अब घर का स्वामी नहीं, मन्दिर का देवता था।

(३)

एक दिन बुलाकी ओखली में दाल छाँट रही थी। एक भिखमगा द्वार पर आकर चिल्लाने लगा। बुलाकी ने सोचा, दाल छाँट लूँ, तो उसे कुछ दे दूँ। इतने में बड़ा लड़का भोला आकर बोला—अम्माँ, एक महात्मा द्वार पर खड़े गला फाड़ रहे हैं। कुछ दे दो। नहीं, उनका रोयाँ दुखी हो जायगा।

बुलाकी ने उपेक्षा-भाव से कहा—भगत के पाँव में क्या मेंहदी लगी है, क्यों कुछ ले जाकर नहीं दे देते? क्या मेरे चार हाथ हैं? किस-किसका रोयाँ सुखी करूँ, दिन-भर तो ताँता लगा रहता है।

भोला—चौपट करने पर लगे हुए हैं, और क्या। अभी महँगू बेंग देने आया था। हिसाब से ७ मन हुए। तौला तो पौने सात मन ही निकले। मैंने कहा—दस सेर और ला, तो आप बैठे-बैठे कहते हैं, अब इतनी दूर कहाँ लेने जायगा। भरपाई लिख दो, नहीं उसका रोयाँ दुखी होगा। मैंने भरपाई नहीं लिखी। दस सेर बाक़ी लिख दी।

बुलाकी—बहुत अच्छा किया तुमने, बकने दिया करो, दस-पाँच दफे मुँह की खायँगे, तो आप ही बोलना छोड़ देंगे।

भोला—दिन-भर एक-न-एक खुचड़ निकालते रहते हैं। सौ दफे कह दिया कि तुम घर-गृहस्थी के मामले मे न बोला करो, पर इनसे बिना बोले रहा ही नहीं जाता।

बुलाकी—मैं जानती कि इनका यह हाल होगा, तो गुरुमन्त्र न लेने देती।

भोला—भगत क्या हुए कि दीन-दुनिया दोनों से गये। सारा दिन पूजा-पाठ मे ही उड़ जाता है। अभी ऐसे बूढ़े नहीं हो गये कि कोई काम ही न कर सकें।

बुलाकी ने आपत्ति की—भोला, यह तो तुम्हारा कुन्याय है। फावड़ा-कुदाल अब उनसे नहीं हो सकता, लेकिन कुछ-न-कुछ तो करते ही रहते हैं। बैलों को सानी-पानी देते हैं, गाय दुहाते हैं और भी जो कुछ हो सकता है, करते हैं।

भिक्षुक अभी तक खड़ा चिल्ला रहा था। सुजान ने जब घर मे से किसी को कुछ लाते न देखा, तो उठकर अन्दर गया और कठोर स्वर से बोला—तुम लोगों को कुछ

सुनाई नहीं देता कि द्वार पर कौन घंटे-भर से खड़ा भीख माँग रहा है। अपना काम तो दिन-भर करना ही है, एक छन भगवान् का काम भी तो किया करो।

बुलाकी—तुम तो भगवान् का काम करने को बैठे ही हो, क्या घर-भर भगवान् ही का काम करेगा?

सुजान—कहाँ आटा रखा है, लाओ, मैं ही निकालकर दे आऊँ। तुम रानी बनकर बैठो।

बुलाकी—आटा मैंने मर-मरकर पीसा है, अनाज दे दो। ऐसे मुड़चिरों के लिए पहर रात से उठकर चक्की नहीं चलाती हूँ।

सुजान भंडार-घर में गये और एक छोटी-सी छबड़ी को जौ से भरे हुए निकले। जौ सेर-भर से कम न था। सुजान ने जान-बूझकर, केवल बुलाकी और भोला को चिढ़ाने के लिए, भिक्षा-परंपरा का उल्लंघन किया था। तिस पर भी यह दिखाने के लिए कि छबड़ी में बहुत ज्यादा जौ नहीं हैं, वह उसे चुटकी से पकड़े हुए थे। चुटकी इतना बोझ न सँभाल सकती थी। हाथ काँप रहा था। एक क्षण का विलंब होने से छबड़ी के हाथ से छूटकर गिर पड़ने की संभावना थी। इसलिए वह जल्दी से बाहर निकल जाना चाहते थे। सहसा भोला ने छबड़ी उनके हाथ से छीन ली और त्योरियाँ बदलकर बोला—सेंत का माल नहीं है, जो लुटाने चले हो। छाती फाड़-फाड़कर काम करते हैं, तब दाना घर में आता है।

सुजान ने खिसियाकर कहा—मैं भी तो बैठा नहीं रहता।

भोला—भीख भीख की तरह दी जाती है, लुटाई नहीं जाती। हम तो एक बेला खाकर दिन काटते हैं कि पति-पानी बना रहे और तुम्हें लुटाने को सूझी है। तुम्हें क्या मालूम कि घर में क्या हो रहा है।

सुजान ने इसका कोई जवाब न दिया। बाहर आकर भिखारी से कह दिया—बाबा, इस समय जाओ, किसी का हाथ खाली नहीं है और पेड़ के नीचे बैठकर विचारों में मग्न हो गया। अपने ही घर में उसका यह अनादर! अभी वह अपाहिज नहीं है, हाथ-पाँव थके नहीं हैं, घर का कुछ-न-कुछ काम करता ही रहता है। उस पर यह अनादर! उसी ने यह घर बनाया, यह सारी विभूति उसी के श्रम का फल है, पर अब इस घर पर उसका कोई अधिकार नहीं रहा। अब वह द्वार का कुत्ता है, पड़ा रहे और

घरवाले जो रूखा सूखा दे दें, वह खाकर पेट भर लिया करे ! ऐसे जीवन को धिक्कार है। सुजान ऐसे घर मे नहीं रह सकता।

सन्ध्या हो गई थी। भोला का छोटा भाई शकर नारियल भरकर लाया। सुजान ने नारियल दीवार से टिकाकर रख दिया। धरे-धरे तबाकू जल गया। ज़रा देर मे भोला ने द्वार पर चारपाई डाल दी। सुजान पेड़ के नीचे से न उठा।

कुछ देर और गुज़री। भोजन तैयार हुआ। भोला बुलाने आया। सुजान ने कहा—भूख नहीं है। बहुत मनावन करने पर भी न उठा। तब बुलाकी ने आकर कहा—खाना खाने क्यों नहीं चलते ? जी तो अच्छा है ?

सुजान को सबसे अधिक क्रोध बुलाकी ही पर था। यह भी लड़कों के साथ है ! यह बैठी देखती रही और भोला ने मेरे हाथ से अनाज छीन लिया। इसके मुँह से इतना भी न निकला कि ले जाते हैं, ले जाने दो। लड़कों को न मालूम हो कि मैंने कितने श्रम से यह गृहस्थी जोड़ी है, पर यह तो जानती है। दिन को दिन और रात को रात नहीं समझा। भादों की अँधेरी रातों में मड़ैया लगाये जुआर की रखवाली करता था. जेठ बैसाख की दोपहरी में भी दम न लेता था और अब मेरा घर पर इतना अधिकार भी नहीं है कि भीख तक दे सकूँ। माना कि भीख इतनी नहीं दी जाती, लेकिन इनको तो चुप रहना चाहिए था चाहे मैं घर में आग ही क्यो न लगा देता। कानून से भी तो मेरा कुछ होता है। मैं अपना हिस्सा नहीं खाता, दूसरों को खिला देता हूँ, इसमे किसी के बाप का क्या साझा। अब इस वक्त मनाने आई है ! इसे मैंने फूल की छड़ी से भी नहीं छुआ, नहीं तो गाँव में ऐसी कौन औरत है, जिसने खसम की लातें न खाई हों, कभी कड़ी निगाह से देखा तक नहीं। रुपये-पैसे, लेना-देना सब इसी के हाथ मे दे रखा था। अब रुपये जमा कर लिये हैं, तो मुझी से घमड करती है। अब इसे बेटे प्यारे हैं, मैं तो निखट्टू, लुटाऊ, घर-फूँकू, घोंघा हूँ। मेरी इसे क्या परवा। तब लड़के न थे, जब बीमार पड़ी थी और मैं गोद मे उठाकर बैद के घर ले गया था। आज इसके बेटे हैं और यह उनकी मा है। मै तो बाहर का आदमी हूँ, मुझसे घर से मतलब ही क्या। बोला—मै अब खा-पीकर क्या करूँगा, हल जोतने से रहा, फावड़ा चलाने से रहा। मुझे खिलाकर दाने को क्यों खराब करोगी। रख दो, बेटे दूसरी बार खायेंगे।

बुलाकी—तुम तो ज़रा ज़रा-सी बात पर तिनक जाते हो। सच कहा है, बुढ़ापे

में आदमी की बुद्धि मारी जाती है। भोला ने इतना ही तो कहा था कि इतनी भीख मत ले जाओ, या और कुछ ?

सुजान—हाँ, बेचारा इतना ही कहकर रह गया। तुम्हें तो मज़ा आता जब वह ऊपर से दो-चार डंडे लगा देता। क्यों ? अगर यही अभिलाषा है, तो पूरी कर लो। भोला खा चुका होगा, बुला लाओ। नहीं भोला को क्यों बुलाती हो, तुम्हीं न जमा दो दो-चार हाथ। इतनी कसर है, वह भी पूरी हो जाय।

बुलाकी—हाँ, और क्या, यही तो नारी का धरम ही है। अपने भाग सराहो कि मुझ-जैसी सीधी औरत पा ली। जिस बल चाहते हो, बिठाते हो। ऐसी मुँहज़ोर होती, तो तुम्हारे घर में एक दिन निबाह न होता।

सुजान—हाँ, भाई, वह तो मैं ही कह रहा हूँ कि तुम देवी थीं और हो। मैं तब भी राक्षस था और अब तो दैत्य हो गया हूँ। बेटे कमाऊ हैं, उनकी-सी न कहोगी, तो क्या मेरी-सी कहोगी, मुझसे अब क्या लेना-देना है।

बुलाकी—तुम झगड़ा करने पर तुले बैठे हो और मैं झगड़ा बचाती हूँ कि चार आदमी हँसेंगे। चलकर खाना खा लो सीधे से, नहीं तो मैं भी जाकर सो रहूँगी।

सुजान—तुम भूखी क्यों सो रहोगी, तुम्हारे बेटों की तो कमाई है, हाँ, मैं बाहरी आदमी हूँ।

बुलाकी—बेटे तुम्हारे भी तो हैं।

सुजान—नहीं, मैं ऐसे बेटों से बाज़ आया। किसी और के बेटे होंगे। मेरे बेटे होते, तो क्या मेरी यह दुर्गति होती !

बुलाकी—गालियाँ दोगे, तो मैं भी कुछ कह बैठूँगी। सुनती थी, मर्द बड़े समझदार होते हैं, पर तुम सबसे न्यारे हो। आदमी को चाहिए कि जैसा समय देखे, वैसा काम करे। अब हमारा और तुम्हारा निबाह इसी में है कि नाम के मालिक बने रहें, और वही करें, जो लड़कों को अच्छा लगे। मैं यह बात समझ गई, तुम क्यों नहीं समझ पाते। जो कमाता है, उसी का घर में राज होता है, यही दुनिया का दस्तूर है। मैं बिना लड़कों से पूछे कोई काम नहीं करती, तुम क्यों अपने मन की करते हो। इतने दिनों तो राज कर लिया, अब क्यों इस माया में पड़े हो। आधी रोटी खाओ, भगवान् का भजन करो और पड़े रहो। चलो, खाना खा लो।

सुजान—तो अब मैं द्वार का कुत्ता हूँ।

बुलाकी—बात जो थी, वह मैंने कह दी, अब अपने को जो चाहो, समझो।

सुजान न उठे। बुलाकी हारकर चली गई।

(४)

सुजान के सामने अब एक नई समस्या खड़ी हो गई थी। वह बहुत दिनों से घर का स्वामी था और अब भी ऐसा ही समझता था। परिस्थिति में कितना उलट-फेर हो गया था, इसकी उसे खबर न थी। लड़के उसका सेवा-सम्मान करते हैं, यह बात उसे भ्रम में डाले हुए थी। लड़के उनके सामने चिलम नहीं पीते, खाट पर नहीं बैठते, क्या यह सब उसके गृह-स्वामी होने का प्रमाण न था? पर आज उसे ज्ञात हुआ कि यह केवल श्रद्धा थी, उसके स्वामित्व का प्रमाण नहीं। क्या इस श्रद्धा के बदले वह अपना अधिकार छोड़ सकता था? कदापि नहीं। अब तक जिस घर में राज्य किया, उसी घर में पराधीन बनकर वह नहीं रह सकता। उसको श्रद्धा की चाह नहीं, सेवा की भूख नहीं। उसे अधिकार चाहिए। वह इस घर पर दूसरों का अधिकार नहीं देख सकता। मन्दिर का पुजारी बनकर वह नहीं रह सकता।

न-जाने कितनी रात बाकी थी। सुजान ने उठकर गँड़ासे से बैलों का चारा काटना शुरू किया। सारा गाँव सोता था, पर सुजान करवी काट रहे थे। इतना श्रम उन्होंने अपने जीवन में कभी न किया था। जबसे उन्होंने काम करना छोड़ा था, बराबर चारे के लिए हाय-हाय पड़ी रहती थी। शकर भी काटता था, भोला भी काटता था, पर चारा पूरा न पड़ता था। आज वह इन लौंडों को दिखा देंगे, चारा कैसे काटना चाहिए। उनके सामने कटिया का पहाड़ खड़ा हो गया। और टुकड़े कितने महीन और सुडौल थे, मानो सांचे में ढाले गये हों।

मुँह-अँधेरे बुलाकी उठी, तो कटिया का ढेर देखकर दंग रह गई। बोली—क्या भोला आज रात-भर कटिया ही काटता रह गया? कितना कहा कि बेटा, जी से जहान है, पर मानता ही नहीं। रात को सोया ही नहीं।

सुजान भगत ने ताने से कहा—वह सोता ही कब है? जब देखता हूँ, काम ही करता रहता है। ऐसा कमाऊ संसार में और कौन होगा!

इतने में भोला आँखें मलता हुआ बाहर निकला। उसे भी यह ढेर देखकर आश्चर्य हुआ। माँ से बोला—क्या शकर आज बडी रात को उठा था, अम्माँ?

बुलाकी—वह तो पड़ा सो रहा है। मैंने तो समझा, तुमने काटी होगी।

भोला—मैं तो सबेरे उठ ही नहीं पाता। दिन-भर चाहे जितना काम कर लूँ, पर रात को मुझसे नहीं उठा जाता।

बुलाकी—तो क्या तुम्हारे दादा ने काटी है?

भोला—हाँ, मालूम तो होता है। रात-भर सोये नहीं। मुझसे कल बड़ी भूल हुई। अरे! वह तो हल लेकर जा रहे हैं? जान देने पर उतारू हो गये हैं क्या?

बुलाकी—क्रोधी तो सदा के हैं। अब किसी की सुनेंगे थोड़े ही।

भोला—शंकर को जगा दो, मैं भी जल्दी से मुँह-हाथ धोकर हल ले जाऊँ।

जब और किसानों के साथ भोला हल लेकर खेत में पहुँचा, तो सुजान आधा खेत जोत चुके थे। भोला ने चुपके से काम करना शुरू किया। सुजान से कुछ बोलने की उसकी हिम्मत न पड़ी।

दोपहर हुआ। सभी किसानों ने हल छोड़ दिये। पर सुजान भगत अपने काम में मग्न हैं। भोला थक गया है। उसकी बार-बार इच्छा होती है कि बैलों को खोल दे। मगर डर के मारे कुछ कह नहीं सकता। उसको आश्चर्य हो रहा है कि दादा कैसे इतनी मेहनत कर रहे हैं।

आखिर डरते-डरते बोला—दादा, अब तो दोपहर हो गया। हल खोल दें न?

सुजान—हाँ, खोल दो। तुम बैलों को लेकर चलो, मैं डाँड़ फेंककर आता हूँ।

भोला—मैं सञ्झा को डाँड़ फेंक दूँगा।

सुजान—तुम क्या फेंक दोगे। देखते नहीं हो, खेत कटोरे की तरह गहरा हो गया है। तभी तो बीच में पानी जम जाता है। इस गोइँड़ के खेत में बीस मन का बीघा होता था। तुम लोगों ने इसका सत्यानास कर दिया।

बैल खोल दिये गये। भोला बैलों को लेकर घर चला, पर सुजान डाँड़ फेंकते रहे। आध घंटे के बाद डाँड़ फेंककर वह घर आये। मगर थकान का नाम न था। नहा-खाकर आराम करने के बदले उन्होंने बैलों को सुहलाना शुरू किया। उनकी पीठ पर हाथ फेरा, उनके पैर मले, पूँछ सुहलाई। बैलों की पूँछें खड़ी थीं। सुजान की गोद में सिर रखे उन्हें अकथनीय सुख मिल रहा था। बहुत दिनों के बाद आज उन्हें यह आनंद प्राप्त हुआ था। उनकी आँखों में कृतज्ञता भरी हुई थी। मानो वे कह रहे थे, हम तुम्हारे साथ रात-दिन काम करने को तैयार हैं।

अन्य कृषकों की भाँति भोला अभी कमर सीधी कर रहा था कि सुजान ने फिर हल उठाया और खेत की ओर चले। दोनों बैल उमंग से भरे दौड़े चले जाते थे, मानो उन्हें स्वयं खेत में पहुँचने की जल्दी थी।

भोला ने मड़ैया में लेटे-लेटे पिता को हल लिये जाते देखा, पर उठ न सका। उसकी हिम्मत छूट गई। उसने कभी इतना परिश्रम न किया था। उसे बनी-बनाई गिरस्ती मिल गई थी। उसे ज्यों-त्यों चला रहा था। इन दामों वह घर का स्वामी बनने का इच्छुक न था। जवान आदमी को बीस धंधे होते हैं। हँसने-बोलने के लिए, गाने-बजाने के लिए उसे कुछ समय चाहिए। पड़ोस के गाँव में दंगल हो रहा है। जवान आदमी कैसे अपने को वहाँ जाने से रोकेगा? किसी गाँव में बरात आई है, नाच-गाना हो रहा है। जवान आदमी क्यों उसके आनंद से वंचित रह सकता है? वृद्धजनों के लिए ये बाधाएँ नहीं। उन्हें न नाच-गाने से मतलब, न खेल-तमाशे से ग़रज़, केवल अपने काम से काम है।

बुलाकी ने कहा—भोला, तुम्हारे दादा हल लेकर गये।

भोला—जाने दो अम्माँ, मुझसे तो यह नहीं हो सकता।

(५)

सुजान भगत के इस नवीन उत्साह पर गाँव में टीकाएँ हुईं, निकल गई सारी भगती। बना हुआ था। माया में फँसा हुआ है। आदमी काहे को, भूत है।

मगर भगतजी के द्वार पर अब फिर साधु-संत आसन जमाये देखे जाते हैं। उनका आदर-सम्मान होता है। अबकी उसकी खेती ने सोना उगल दिया है। बखारी में अनाज रखने को जगह नहीं मिलती। जिस खेत में पाँच मन मुश्किल से होता था, उसी खेत में अबकी दस मन की उपज हुई है।

चैत का महीना था। खलिहानों में सतयुग का राज था। जगह-जगह अनाज के ढेर लगे हुए थे। यही समय है जब कृषकों को भी थोड़ी देर के लिए अपना जीवन सफल मालूम होता है, जब गर्व से उनका हृदय उछलने लगता है। सुजान भगत टोकरों में अनाज भर-भर देते थे और दोनों लड़के टोकरे लेकर घर में अनाज रख आते थे। कितने ही भाट और भिक्षुक भगतजी को घेरे हुए थे। उनमें वह भिक्षुक भी था, जो आज से आठ महीने पहले भगत के द्वार से निराश होकर लौट गया था।

भिक्षुक ने गठरी को आजमाया। भारी थी। जगह से हिली भी नहीं। बोला--भगतजी, यह मुझसे न उठेगी।

भगत--अच्छा बताओ, किस गाँव में रहते हो?

भिक्षुक--बड़ी दूर है भगतजी, अमोला का नाम तो सुना होगा।

भगत--अच्छा, आगे-आगे चलो, मैं पहुँचा दूँगा।

यह कहकर भगत ने ज़ोर लगाकर गठरी उठाई और सिर पर रखकर भिक्षुक के पीछे हो लिये। देखनेवाले भगत का यह पौरुष देखकर चकित हो गये। उन्हें क्या मालूम था कि भगत पर इस समय कौन-सा नशा था। आठ महीने के निरंतर अविरल परिश्रम का आज उन्हें फल मिला था। आज उन्होंने अपना खोया हुआ अधिकार फिर पाया था। वही तलवार जो केले को भी नहीं काट सकती, सान पर चढ़कर लोहे को काट देती है। मानव-जीवन में लाग बड़े महत्त्व की वस्तु है। जिसमें लाग है, वह बूढ़ा भी हो तो जवान है; जिसमे लाग नहीं, ग़ैरत नहीं, वह जवान भी हो तो मृतक है। सुजान भगत में लाग थी और उसी ने उन्हें अमानुषीय बल प्रदान कर दिया था। चलते समय उन्होंने भोला की ओर सगर्व नेत्रों से देखा और बोले--ये भाट और भिक्षुक खड़े हैं, कोई खाली हाथ न लौटने पाये।

भोला सिर झुकाये खड़ा था। उसे कुछ बोलने का हौसला न हुआ। वृद्ध पिता ने उसे परास्त कर दिया था।

पिसनहारी का कुआँ

(१)

गोमती ने मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए, चौधरी विनायकसिंह से कहा—चौधरी, मेरे जीवन की यही लालसा थी।

चौधरी ने गम्भीर होकर कहा—इसकी कुछ चिन्ता न करो काकी; तुम्हारी लालसा भगवान पूरी करेंगे। मैं आज ही से मजूरों को बुलाकर काम पर लगाये देता हूँ। दैव ने चाहा, तो तुम अपने कुएँ का पानी पियोगी। तुमने तो गिना होगा, कितने रुपये हैं?

गोमती ने एक क्षण आँखें बन्द करके, बिखरी हुई स्मृति को एकत्र करके कहा—भैया, मैं क्या जानूँ, कितने रुपये हैं। जो कुछ है, वह इसी हाँड़ी में है। इतना करना कि इतने ही में काम चल जाय। किसके सामने हाथ फैलाते फिरोगे।

चौधरी ने बन्द हाँड़ी को उठाकर हाथों से तौलते हुए कहा—ऐसा तो करेंगे ही काकी, कौन देनेवाला है। एक चुटकी भीख तो किसी के घर से निकलती नहीं, कुआँ बनवाने को कौन देता है। धन्य हो तुम कि अपनी उम्र भर की कमाई इस धर्म काज के लिए दे दी।"

गोमती ने गर्व से कहा—भैया, तुम तो तब बहुत छोटे थे। तुम्हारे काका मरे तो मेरे हाथ में एक कौड़ी भी न थी। दिन-दिन भर भूखी पड़ी रहती। जो कुछ उनके पास था, वह सब उनकी बीमारी में उठ गया। वह भगवान् के बड़े भक्त थे। इसीलिए भगवान् ने उन्हें जल्दी से बुला लिया। उस दिन से आज तक तुम देख रहे हो कि मैं किस तरह दिन काट रही हूँ। मैंने एक एक रात में मन मन भर अनाज पीसा है बेटा! देखनेवाले अचरज मानते थे। न जाने इतनी ताकत मुझमें कहाँ से आ जाती थी। बस, यही लालसा रही कि उनके नाम का एक छोटा सा कुआँ, गाँव में बन जाय। नाम तो चलना चाहिए। इसीलिए तो आदमी बेटे-बेटों को रोता है।"

इस तरह चौधरी विनायकसिंह को वसीयत करके, उसी रात को, बुढ़िया गोमती परलोक सिधारी। मरते समय अन्तिम शब्द जो उसके मुख से निकले, वह यही थे—"कुआँ बनवाने में देर न करना।" उसके पास धन है, यह तो लोगों का अनुमान था, लेकिन दो हज़ार हैं, इसका किसी को अनुमान न था। बुढ़िया अपने धन को ऐब की तरह छिपाती थी। चौधरी गाँव का मुखिया और नीयत का साफ आदमी था। इसीलिए बुढ़िया ने उससे यह अतिम आदेश किया था।

(२)

चौधरी ने गोमती के क्रिया-कर्म में बहुत रुपये न खर्च किये। ज्यों ही इन सस्कारों से छुट्टी मिली, वह अपने बेटे हरनाथसिंह को बुलाकर ईंट, चूना, पत्थर का तखमीना करने लगे। हरनाथ अनाज का व्यापार करता था। कुछ देर तक तो वह बैठा सुनता रहा, फिर बोला—अभी दो-चार महीने कुआँ न बने, तो कोई बड़ा हरज है?

चौधरी ने 'हुँह!' करके कहा--हरज तो कुछ नहीं, लेकिन देर करने का काम ही क्या है। रुपये उसने दे ही दिये हैं, हमें तो सेंत में यश मिलेगा। गोमती ने मरते-मरते जल्द कुआँ बनवाने को कहा था।

हरनाथ—'हाँ, कहा तो था, लेकिन आजकल बाजार अच्छा है। दो तीन हज़ार का अनाज भर लिया जाय, तो अगहन-पूस तक सवाया हो जायगा। मैं आपको कुछ सूद दे दूँगा। चौधरी का मन आशा और भय के दुबिधे में पड़ गया। दो हज़ार के कहीं ढाई हज़ार हो गये, तो क्या कहना, जगमोहन में कुछ बेल-बूटे बनवा दूँगा। लेकिन भय था कि कहीं घाटा हो गया तो? इस शका को वह छिपा न सके, बोले—जो कहीं घाटा हो गया तो?

हरनाथ ने तड़पकर कहा—घाटा क्या हो जायगा, कोई बात है?

"मान लो घाटा हो गया तो?"

हरनाथ ने उत्तेजित होकर कहा—यह कहो कि तुम रुपये नहीं देना चाहते। बड़े धर्मात्मा बने हो!

अन्य वृद्धजनों की भाँति चौधरी भी बेटे से बहुत दबते थे। कातर स्वर में बोले—मैं यह कब कहता हूँ कि रुपये न दूँगा। लेकिन पराया धन है, सोच समझ ही कर तो उसमें हाथ लगाना चाहिए। बनिज-व्यापार का हाल कौन जानता है।

कहीं भाव और गिर जाय तो ! अनाज मे घुन ही लग जाय, कोई मुद्दई घर में आग ही लगा दे । सब बातें सोच लो अच्छी तरह ।

हरनाथ ने व्यग्य से कहा—इस तरह सोचना है, तो यह क्यों नहीं सोचते कि कोई चोर ही उठा ले जाय, या बनी-बनाई दीवार बैठ जाय, ये बातें भी तो होती ही हैं ।

चौधरी के पास अब और कोई दलील न थी, कमज़ोर सिपाही ने ताल तो ठोकी, अखाड़े में उतर भी पड़ा, पर तलवार की चमक देखते ही हाथ-पाँव फूल गये। बगलें झाँककर चौधरी ने कहा—तो कितना लोगे ?

हरनाथ कुशल योद्धा की भाँति, शत्रु को पीछे हटता देखकर, बफरकर बोला—सब-का-सब दीजिए, सौ-पचास रुपये लेकर क्या खिलवाड़ करना है ?

चौधरी राज़ी हो गये । गोमती को उन्हें रुपये देते किसी ने न देखा था । लोक-निंदा की सभावना भी न थी । हरनाथ ने अनाज भरा । अनाजों के बोरों का ढेर लग गया । आराम की मीठी नींद सोनेवाले चौधरी अब सारी रात बोरों की रखवारी करते थे, मजाल न थी कि कोई चुहिया बोरों में घुस जाय । चौधरी इस तरह झपटते थे कि बिल्ली भी हार मान लेती । इस तरह छः महीने बीत गये । पौष में अनाज बिका, पूरे ५००) का लाभ हुआ ।

हरनाथ ने कहा—इसमे से ५०) आप ले लें ।

चौधरी ने झल्लाकर कहा—५०) क्या ख़ैरात ले लूँ ? किसी महाजन से इतने रुपये लिये होते, तो कम से-कम २००) सूद के होते, मुझे तुम दो-चार रुपये कम दे दो, और क्या करोगे ।”

हरनाथ ने ज्यादा बतबढाव न किया । १५०) चौधरी को दे दिया । चौधरी की आत्मा इतनी प्रसन्न कभी न हुई थी । रात को वह अपनी कोठरी में सोने गया, तो उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि बुढ़िया गोमती खड़ी मुसकिरा रही है । चौधरी का कलेजा धक्-धक् करने लगा । वह नींद मे न था । कोई नशा न खाया था । गोमती सामने खड़ी मुसकिरा रही थी । हाँ, उस मुरझाये हुए मुख पर एक विचित्र स्फूर्ति थी ।

(३)

कई साल बीत गये । चौधरी बराबर इसी फिक्र में रहते कि हरनाथ से रुपये निकाल लूँ, लेकिन हरनाथ हमेशा ही हीले-हवाले करता रहता था । वह साल में

थोड़ा-सा ब्याज दे देता, पर मूल के लिए हज़ार बातें बनाता था। कभी लेहने का रोना था, कभी चुकते का। हाँ, कारोबार बढ़ता जाता था, आखिर एक दिन चौधरी ने उनसे साफ-साफ़ कह दिया कि तुम्हारा काम चले या डूबे। मुझे परवा नहीं, इस महीने में तुम्हें अवश्य रुपये चुकाने पड़ेंगे। हरनाथ ने बहुत उड़नघाइयाँ बताई, पर चौधरी अपने इरादे पर जमे रहे।

हरनाथ ने झुँझलाकर कहा—कहता हूँ कि दो महीने और ठहरिए। माल बिकते ही मैं रुपये दे दूँगा।

चौधरी ने दृढ़ता से कहा—तुम्हारा माल कभी न बिकेगा, और न तुम्हारे दो महीने कभी पूरे होंगे। मैं आज रुपये लूँगा।

हरनाथ उसी वक्त क्रोध में भरा हुआ उठा, और दो हज़ार रुपये लाकर चौधरी के सामने जोर से पटक दिये।

चौधरी ने कुछ झेंपकर कहा—"रुपये तो तुम्हारे पास थे।"

"और क्या बातों से रोज़गार होता है?"

"तो मुझे इस समय ५००) दे दो, बाकी दो महीनें में दे देना। सब आज ही तो खर्च न हो जायँगे?"

हरनाथ ने ताव दिखाकर कहा—आप चाहे खर्च कीजिए, चाहे जमा कीजिए, मुझे रुपयों का काम नहीं। दुनिया में क्या महाजन मर गये हैं, जो आपकी धौंस सहूँ?

चौधरी ने रुपये उठाकर एक ताक पर रख दिये। कुएँ की दागबेल डालने का सारा उत्साह ठंढा पड़ गया।

हरनाथ ने रुपये लौटा तो दिये थे, पर मन में कुछ और मनसूबा बाँध रखा था। आधी रात को जब घर में सन्नाटा छा गया, तो हरनाथ चौधरी की कोठरी की चूल खिसकाकर अंदर घुसा। चौधरी बेखबर सोये थे। हरनाथ ने चाहा कि दोनों थैलियाँ उठाकर बाहर निकल जाऊँ, लेकिन ज्यों ही हाथ बढ़ाया, उसे अपने सामने गोमती खड़ी दिखाई दी। वह दोनों थैलियों को दोनों हाथों से पकड़े हुए थी। हरनाथ भयभीत होकर पीछे हट गया।

फिर यह सोचकर कि शायद मुझे धोखा हो रहा हो, उसने फिर हाथ बढ़ाया,

पर अबकी वह मूर्ति इतनी भयकर हो गई कि हरनाथ एक क्षण भी वहाँ खड़ा न रह सका। भागा, पर बरामदे ही में अचेत होकर गिर पड़ा।

(४)

हरनाथ ने चारों तरफ से अपने रुपये वसूल करके व्यापारियों को देने के लिए जमा कर रखे थे। चौधरी ने आँखें दिखाईं, तो वही रुपये लाकर पटक दिये। दिल में उसी वक्त सोच लिया था कि रात को रुपये उड़ा लाऊँगा। झूठ-मूठ चोर का गुल मचा दूँगा, तो मेरी ओर सदेह भी न होगा। पर जब यह पेशबदी ठीक न उतरी, तो उस पर व्यापारियों के तगादे होने लगे। वादों पर लोगों को कहाँ तक टालता, जितने बहाने हो सकते थे, सब किये। आखिर वह नौबत आ गई कि लोग नालिश करने की धमकियाँ देने लगे। एक ने तो ३००) की नालिश कर भी दी। बेचारे चौधरी बड़ी मुश्किल में फँसे। दूकान पर हरनाथ बैठता था, चौधरी को उससे कोई वास्ता न था, पर उसकी जो साख थी, वह चौधरी के कारण। लोग चौधरी को खरा, लेन-देन का साफ आदमी समझते थे। अब भी यद्यपि कोई उनसे तकाजा न करता था, पर वह सबसे मुँह छिपाते फिरते थे। लेकिन उन्होंने यह निश्चय कर लिया था कि कुएँ के रुपये न छुऊँगा, चाहे कुछ भी पड़े।

रात को एक व्यापारी के मुसलमान चपरासी ने चौधरी के द्वार पर आकर हज़ारों गालियाँ सुनाईं। चौधरी को बार-बार क्रोध आता था कि चलकर उसकी मूँछें उखाड़ लूँ, पर मन को समझाया "हमसे मतलब ही क्या है, बेटे का कर्ज चुकाना बाप का धर्म नहीं।"

जब भोजन करने गये, तो पत्नी ने कहा—यह सब क्या उपद्रव मचा रखा है?

चौधरी ने कठोर स्वर में कहा—मैंने मचा रखा है?

"और किसने मचा रखा है? बच्चा क़सम खाते हैं कि मेरे पास केवल थोड़ा-सा माल है, रुपये तो सब तुमने माँग लिये।"

चौधरी—माँग न लेता तो क्या करता, हलवाई की दूकान पर दादे का फातेहा पढ़ना मुझे पसंद नहीं।

स्त्री—यह नाक-कटाई अच्छी लगती है?

चौधरी—तो मेरा क्या वस है भाई, कभी कुआँ बनेगा कि नहीं ? पाँच साल तो हो गये।

स्त्री—इस वक्त उसने कुछ नही खाया। पहली जून भी मुँह जूठा करके उठ गया था।

चौधरी—तुमने समझाकर खिलाया नहीं, दाना-पानी छोड़ देने से तो रुपये न मिलेंगे।

स्त्री—तुम क्यों नहीं जाकर समझा देते ?

चौधरी—मुझे तो वह इस समय वैरी समझ रहा होगा।

स्त्री—मैं रुपये ले जाकर बच्चा को दिये आती हूँ, हाथ मे जब रुपये आ जायँ, तो कुआँ बनवा देना।

चौधरी—नहीं, नहीं, ऐसा ग़ज़ब न करना। मैं इतना बड़ा विश्वासघात न करूँगा, चाहे घर मिट्टी ही में मिल जाय।

लेकिन स्त्री ने इन बातों की ओर ध्यान न दिया। वह लपककर भीतर गई, और थैलियो पर हाथ डालना ही चाहती थी कि एक चीख मारकर हट गई। उसकी सारी देह सितार के तार की भाँति काँपने लगी।

चौधरी ने घबड़ाकर पूछा—क्या हुआ, क्या ? तुम्हे चक्कर तो नहीं आ गया ?

स्त्री ने ताक़ की ओर भयातुर नेत्रों से देखकर कहा—वह चुड़ैल वहाँ खड़ी है।

चौधरी ने ताक़ की ओर देखकर कहा—कौन चुड़ैल ? मुझे तो कोई नहीं दीखता।

स्त्री—मेरा तो कलेजा धक्-धक् कर रहा है, ऐसा मालूम हुआ, जैसे उस बुढ़िया ने मेरा हाथ पकड़ लिया।

चौधरी—यह सब भ्रम है। बुढ़िया को मरे पाँच साल हो गये, अब तक यहाँ बैठी है ?

स्त्री—मैंने साफ देखा, वही थी। बच्चा भी कहते थे कि उन्होने रात को उसे थैलियों पर हाथ रखे देखा था।

चौधरी—वह रात को मेरी कोठरी में कब आया ?

स्त्री—तुमसे कुछ रुपयो के विषय ही मे कहने आया था। उसे देखते ही भागा।

चौधरी—अच्छा, फिर तो अंदर जाओ, मैं देख रहा हूँ।

स्त्री ने कान पर हाथ रखकर कहा—ना बाबा, अब मैं उस कमरे में क़दम न रखूँगी।

चौधरी—अच्छा, मैं जाकर देखता हूँ।

चौधरी ने कोठरी में जाकर दोनों थैलियाँ ताक़ पर से उठा लीं। किसी प्रकार की शंका न हुई। गोमती की छाया का कहीं नाम भी न था। स्त्री द्वार पर खड़ी झाँक रही थी। चौधरी ने आकर गर्व से कहा—मुझे तो कहीं कुछ दिखाई न दिया। वहाँ होती, तो कहाँ चली जाती।

स्त्री—क्या जाने तुम्हे क्यों नहीं दिखाई दी, तुमसे उसे स्नेह था, इसी से हट गई होगी।

चौधरी—तुम्हें भ्रम था, और कुछ नहीं।

स्त्री—बच्चा को बुलाकर पुछाये देती हूँ।

चौधरी—खड़ा तो हूँ, आकर देख क्यों नहीं लेती?

स्त्री को कुछ आश्वासन हुआ। उसने ताक के पास जाकर डरते-डरते हाथ बढ़ाया—ज़ोर से चिल्लाकर भागी और आँगन मे आकर दम लिया।

चौधरी भी उसके साथ आँगन में आ गया और विस्मय से बोला—क्या था क्या? व्यर्थ में भागी चली आई। मुझे तो कुछ न दिखाई दिया।

स्त्री ने हाँफते हुए तिरस्कारपूर्ण स्वर मे कहा—चलो हटो, अब तक तो तुमने मेरी जान ही ले ली थी। न-जाने तुम्हारी आँखों को क्या हो गया है। खड़ी तो है वह डाइन!

इतने में हरनाथ भी वहाँ आ गया। माता को आँगन में पड़े देखकर बोला—क्या है अम्माँ, कैसा जी है?

स्त्री—वह चुड़ैल आज दो बार दिखाई दी बेटा! मैंने कहा, लाओ, तुम्हें रुपये दे दूँ। फिर जब हाथ मे आ जायँगे, तो कुआँ बनवा दिया जायगा। लेकिन ज्यों ही थैलियों पर हाथ रखा, उस चुड़ैल ने मेरा हाथ पकड़ लिया। प्राण-से निकल गये।

हरनाथ ने कहा—किसी अच्छे ओझा को बुलाना चाहिए, जो इसे मार भगाये।

चौधरी—क्या रात तुम्हें भी दिखाई दी थी?

हरनाथ—हाँ, मैं तुम्हारे पास एक मामले में सलाह करने आया था। ज्यों ही अंदर क़दम रखा, वह चुड़ैल ताक के पास खड़ी दिखाई दी, मैं बदहवास होकर भागा।

चौधरी—अच्छा, फिर तो जाओ।

स्त्री—कौन, अब तो मैं न जाने दूँ, चाहे कोई लाख रुपये दे।

हरनाथ—मैं आप न जाऊँगा।

चौधरी—मगर मुझे कुछ दिखाई नहीं देता। यह बात क्या है?

हरनाथ—क्या जाने, आपसे डरती होगी। आज किसी ओझा को बुलाना चाहिए।

चौधरी—कुछ समझ में नहीं आता, क्या माजरा है। क्या हुआ बैजू पाँड़े की डिग्री का?

हरनाथ इन दिनों चौधरी से इतना जलता था कि अपने दूकान के विषय की कोई बात उनसे न कहता था। आँगन की तरफ़ ताकता हुआ मानो हवा से बोला—जो होना होगा वह होगा, मेरी जान के सिवा और कोई क्या ले लेगा, जो खा गया हूँ, वह तो उगल नहीं सकता।

चौधरी—कहीं उसने डिग्री जारी कर दी तो?

हरनाथ—तो क्या? दूकान में चार-पाँच सौ का माल है, वह नीलाम हो जायगा।

चौधरी—कारोबार तो सब चौपट हो जायगा?

हरनाथ—अब कारबार के नाम को कहाँ तक रोऊँ। अगर पहले से मालूम होता कि कुआँ बनवाने की इतनी जल्दी है, तो यह काम छेड़ता ही क्यों। रोटी-दाल तो पहले भी मिल जाती थी। बहुत होगा, दो-चार महीने हवालात में रहना पड़ेगा। इसके सिवा और क्या हो सकता है?

माता ने कहा—जो तुम्हें हवालात में ले जाय, उसका मुँह झुलस दूँ। हमारे जीते-जी तुम हवालात में जाओगे!

हरनाथ ने दार्शनिक बनकर कहा—माँ-बाप जन्म के साथी होते हैं, किसी के कर्म के साथी नहीं होते।

चौधरी को पुत्र से प्रगाढ़ प्रेम था, उन्हें शंका हो गई थी कि हरनाथ रुपये

हज़म करने के लिए टाल-मटोल कर रहा है। इसलिए उन्होंने आग्रह करके रुपये वसूल कर लिये थे। अब उन्हें अनुभव हुआ कि हरनाथ के प्राण सचमुच संकट में हैं। सोचा—अगर लड़के को हवालात हो गई, या दूकान पर कुर्की आ गई, तो कुल-मर्यादा धूल में मिल जायगी। क्या हरज है, अगर गोमती के रुपये दे दूँ। आखिर दूकान चलती ही है, कभी-न-कभी तो रुपये हाथ में आयँगे ही।

एकाएक किसी ने बाहर से पुकारा—'हरनाथसिंह!' हरनाथ के मुख पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। चौधरी ने पूछा—कौन है?

"कुर्क अमीन।"

"क्या दूकान कुर्क करने आया है?"

"हाँ, मालूम होता है।"

"कितने रुपयों की डिग्री है?"

"१२००) की।"

"कुर्क अमीन कुछ लेने-देने से न टलेगा?"

"टल तो जाता, पर महाजन भी तो उसके साथ होगा। उसे जो कुछ लेना है, उधर से ले चुका होगा।"

"न हो १२००) गोमती के रुपयों में से दे दो।"

"उसके रुपये कौन छुयेगा। न-जाने घर पर क्या आफत आये।"

"उसके रुपये कोई हज़म थोड़ा ही किये लेता है, चलो मैं दे दूँ।"

चौधरी को इस समय भय हुआ, कहीं मुझे भी वह न दिखाई दे। लेकिन उनकी शंका निर्मूल थी। उन्होंने एक थैली से २००) निकाले और दूसरी थैली में रखकर हरनाथ को दे दिये। संध्या तक इन २०००) में एक रुपया भी न बचा।

(५)

बारह साल गुज़र गये। न चौधरी अब इस संसार में हैं, न हरनाथ। चौधरी जब तक जिये, उन्हें कुएँ की चिंता बनी रही; यहाँ तक कि मरते दम भी उनकी जबान पर कुएँ की रट लगी हुई थी। लेकिन दूकान में सदैव रुपयों का तोड़ा रहा। चौधरी के मरते ही सारा कारोबार चौपट हो गया। हरनाथ ने आने रुपये लाभ से संतुष्ट न होकर दूने-तिगुने लाभ पर हाथ मारा—जुआ खेलना शुरू किया। साल भी न गुज़रने पाया था कि दूकान बंद हो गई, गहने-पाते, बरतन-भाँड़े सब मिट्टी में मिल

गये। चौधरी की मृत्यु के ठीक साल-भर बाद हरनाथ ने भी इस हानि-लाभ के संसार से पयान किया। माता के जीवन का अब कोई सहारा न रहा। बीमार पड़ी, पर दवा-दर्पन न हो सकी। तीन-चार महीने तक नाना प्रकार के कष्ट झेलकर वह भी चल बसी। अब केवल उसकी बहू थी, और वह भी गर्भिणी। उस बेचारी के लिए अब कोई आधार न था। इस दशा में मजदूरी भी न कर सकती थी। पड़ोसिनों के कपड़े सी-सीकर उसने किसी भाँति पाँच-छ महीने काटे। पड़ोसिनें कहती थीं, तेरे लड़का होगा। सारे लक्षण बालक के थे। यही एक जीवन का आधार था। लेकिन जब कन्या हुई, तो यह आधार भी जाता रहा। माता ने अपना हृदय इतना कठोर कर लिया कि नवजात शिशु को छाती से भी न लगाती थी। पड़ोसिनों के बहुत समझाने-बुझाने पर छाती से लगाया, पर उसकी छाती में दूध की एक बूँद न थी। उस समय अभागिनी माता के हृदय में करुणा और वात्सल्य और मोह का एक भूकंप-सा आ गया। अगर किसी उपाय से उसके स्तन की अंतिम बूँद दूध बन जाती, तो वह अपने को धन्य मानती।

बालिका की वह भोली, दीन, याचनामय, सतृष्ण छवि देखकर उसका मातृ-हृदय मानो सहस्र नेत्रों से रोदन करने लगा था। उसके हृदय की सारी शुभेच्छाएँ, सारा आशीर्वाद, सारी विभूति, सारा अनुराग मानो उसकी आँखों से निकलकर उस बालिका को उसी भाँति रंजित कर देता था, जैसे इंदु का शीतल प्रकाश पुष्प को रंजित कर देता है, पर उस बालिका के भाग्य में मातृ-प्रेम के सुख न बदे थे। माता ने कुछ अपना रक्त, कुछ ऊपर का दूध पिलाकर उसे जिलाया, पर उसकी दशा दिन-दिन जीर्ण होती जाती थी।

एक दिन लोगों ने जाकर देखा, तो वह भूमि पर पड़ी हुई थी और बालिका उसकी छाती से चिपटी उसके स्तनों को चूस रही थी। शोक और दारिद्र्य से आहत शरीर में रक्त कहाँ, जिससे दूध बनता!

वही बालिका पड़ोसियों की दया-भिक्षा से पलकर एक दिन घास खोदती हुई उस स्थान पर जा पहुँची, जहाँ बुढ़िया गोमती का घर था। छप्पर कब के पंचभूतों में मिल चुके थे। केवल जहाँ-तहाँ दीवारों के चिह्न बाकी थे। कहीं-कहीं आधी-आधी दीवारें खड़ी थीं। बालिका ने न-जाने क्या सोचकर खुरपी से गड्ढा खोदना शुरू किया। दोपहर से साँझ तक वह गड्ढा खोदती रही। न खाने की सुधि थी, न

पीने की। न कोई शंका थी, न भय। अन्धेरा हो गया; पर वह ज्यों-की-त्यों बैठी गड्ढा खोद रही थी। उस समय किसान लोग भूलकर भी उधर से न निकलते थे, पर बालिका निःशंक बैठी भूमि से मिट्टी निकाल रही थी। जब अन्धेरा हो गया, तो वह चली गई।

दूसरे दिन वह बड़े सबेरे उठी और इतनी घास खोदी, जितनी वह कभी दिन-भर में भी न खोदती थी। दोपहर के बाद वह अपनी खाँची और खुरपी लिये फिर उसी स्थान पर पहुँची; पर आज वह अकेली न थी, उसके साथ दो बालक और भी थे। तीनों वहाँ साँझ तक 'कुआँ-कुआँ' खेलते रहे। बालिका गड्ढे के अन्दर खोदती थी और दोनों बालक मिट्टी निकाल निकालकर फेंकते थे।

तीसरे दिन दो लड़के और भी उस खेल में मिल गये। शाम तक खेल होता रहा। आज गड्ढा दो हाथ गहरा हो गया था। गाँव के बालकों-बालिकाओं में इस विलक्षण खेल ने अभूतपूर्व उत्साह भर दिया था।

चौथे दिन और भी कई बालक आ मिले। सलाह हुई, कौन अन्दर जाय, कौन मिट्टी उठाये, कौन झौआ खींचे। गड्ढा अब चार हाथ गहरा हो गया था, पर अभी तक बालकों के सिवा और किसी को उसकी खबर न थी।

एक दिन रात को एक किसान अपनी खोई हुई भैंस ढूँढ़ता हुआ उस खँडहर में जा निकला। अन्दर मिट्टी का ऊँचा ढेर, एक बड़ा-सा गड्ढा और एक टिमटिमाता हुआ दीपक देखा, तो डरकर भागा। औरों ने भी आकर देखा, कई आदमी थे। कोई शंका न थी। समीप जाकर देखा, तो बालिका बैठी थी। एक आदमी ने पूछा—"अरे, क्या तूने यह गड्ढा खोदा है?"

बालिका ने कहा—"हाँ।"

"गड्ढा खोदकर क्या करेगी?"

"यहाँ कुआँ बनाऊँगी।"

"कुआँ कैसे बनायेगी?"

"जैसे इतना खोदा है, वैसे ही और खोद लूँगी। गाँव के सब लड़के खेलने आते हैं।"

"मालूम होता है, तू अपनी जान देगी और अपने साथ और लड़कों को भी मारेगी। खबरदार, जो कल से गड्ढा खोदा?"

दूसरे दिन और लड़के न आये, बालिका भी दिन-भर मजूरी करती रही। लेकिन संध्या समय वहाँ फिर दीपक जला और फिर वह खुरपी हाथ में लिये वहाँ बैठी दिखाई दी।

गाँववालों ने उसे मारा-पीटा, कोठरी में बंद किया, पर वह अवकाश पाते ही वहाँ जा पहुँचती।

गाँव के लोग प्राय श्रद्धालु होते ही हैं, बालिका के इस अलौकिक अनुराग ने आखिर उनमें भी अनुराग उत्पन्न किया। कुआँ खुदने लगा।

इधर कुआँ खुद रहा था, उधर बालिका मिट्टी से ईंटें बनाती थी। इस खेल में सारे गाँव के लड़के शरीक होते थे। उजाली रातों में जब सब लोग सो जाते, तब भी वह ईंटें थापती दिखाई देती। न-जाने इतनी लगन उसमें कहाँ से आ गई थी। सात वर्ष की उम्र कोई उम्र होती है? लेकिन सात वर्ष की वह लड़की बुद्धि और बातचीत में अपने तिगुनी उम्रवालों के कान काटती थी।

आखिर एक दिन वह भी आया कि कुआँ बँध गया और उसकी पक्की जगत तैयार हो गई। उस दिन बालिका उसी जगत पर सोई। आज उसके हर्ष की सीमा न थी। गाती थी, चहकती थी।

प्रात काल उस जगत पर केवल उसकी लाश मिली। उस दिन से लोगों ने कहना शुरू किया, यह वही बुढिया गोमती थी! इस कुएँ का नाम "पिसनहारी का कुआँ" पड़ा।

सोहाग का शव

(१)

मध्यप्रदेश के एक पहाड़ी गाँव में एक छोटे-से घर की छत पर एक युवक मानो संध्या की निस्तब्धता में लीन हुआ बैठा था। सामने चंद्रमा के मलिन प्रकाश में ऊदी पर्वतमालाएँ अनंत के स्वप्न की भाँति गंभीर, रहस्यमय, संगीतमय, मनोहर मालूम होती थीं। उन पहाड़ियों के नीचे जल-धारा की एक रौप्य रेखा ऐसी मालूम होती थी, मानो उन पर्वतों का समस्त संगीत, समस्त गांभीर्य, संपूर्ण रहस्य इसी उज्ज्वल प्रवाह में लीन हो गया हो। युवक की वेष-भूषा से प्रकट होता था कि उसकी दशा बहुत संपन्न नहीं है। हाँ, उसके मुख से तेज और मनस्विता झलक रही थी। उसकी आँखों पर ऐनक न थी, न मूँछें मुड़ी हुई थीं, न बाल सँवारे हुए थे, कलाई पर घड़ी न थी, यहाँ तक कि कोट के जेब में फाउंटेन पेन भी न था। या तो वह सिद्धांतों का प्रेमी था, या आडंबरों का शत्रु।

युवक विचारों में मौन उसी पर्वतमाला की ओर देख रहा था कि सहसा बादल की गरज से भी भयंकर ध्वनि सुनाई दी। नदी का मधुर गान उस भीषण नाद में डूब गया। ऐसा मालूम हुआ, मानो उस भयंकर नाद ने पर्वतों को भी हिला दिया है, मानो पर्वतों में कोई घोर संग्राम छिड़ गया है। यह रेलगाड़ी थी, जो नदी पर बने हुए पुल से चली आ रही थी।

एक युवती कमरे से निकलकर छत पर आई और बोली—आज अभी से गाड़ी आ गई! इसे भी आज ही वैर निभाना था।

युवक ने युवती का हाथ पकड़कर कहा—प्रिये, मेरा जी चाहता है, कहीं न जाऊँ, मैंने निश्चय कर लिया। मैंने तुम्हारी खातिर से हामी भर ली थी, पर अब जाने की इच्छा नहीं होती। तीन साल कैसे कटेंगे?

युवती ने कातर स्वर में कहा—तीन साल के वियोग के बाद फिर तो जीवन-

पर्यन्त कोई बाधा न खड़ी होगी। एक बार जो निश्चय कर लिया है, उसे पूरा ही कर डालो, अनत सुख की आशा में मैं सारे कष्ट झेल लूँगी।

यह कहते हुए युवती जल पान लाने के बहाने से फिर भीतर चली गई। आँसुओं का आवेग उसके क़ाबू से बाहर हो गया। इन दोनों प्राणियों के वैवाहिक जीवन की यह पहली ही वर्षगाँठ थी। युवक बवई-विश्वविद्यालय से एम० ए० की उपाधि लेकर नागपुर के एक कालेज में अध्यापक था। नवीन युग की नयी-नयी वैवाहिक और सामाजिक क्रांतियों ने उसे लेशमात्र भी विचलित न किया था। पुरानी प्रथाओं से ऐसी प्रगाढ ममता कदाचित् वृद्धजनों को भी कम होगी। प्रोफेसर हो जाने के बाद उसके माता-पिता ने इस बालिका से उसका विवाह कर दिया था। प्रथानुसार ही उस आँख-मिचौनी के खेल में उन्हें प्रेम का रत्न मिल गया। केशव छुट्टियों में यहाँ पहली गाड़ी से आता और आखिरी गाड़ी से जाता। ये दो-चार दिन मीठे स्वप्न के समान कट जाते थे। दोनों बालकों की भाँति रो-रोकर विदा होते। इसी कोठे पर खड़ी होकर वह उसको देखा करती, जब तक निर्दयी पहाड़ियाँ उसे आड़ में न कर लेतीं। पर अभी साल भी न गुज़रने पाया था कि वियोग ने अपना षड्यन्त्र रचना शुरू कर दिया। केशव को विदेश जाकर शिक्षा पूरी करने के लिए एक वृत्ति मिल गई। मित्रों ने बधाइयाँ दीं। किसके ऐसे भाग्य हैं, जिसे बिना माँगे स्वभाग्य-निर्माण का ऐसा अवसर प्राप्त हो। केशव बहुत प्रसन्न न था। वह इसी दुविधे में पड़ा हुआ घर आया। माता-पिता और अन्य सम्बधियों ने इस यात्रा का घोर विरोध किया। नगर में जितनी बधाइयाँ मिली थीं, यहाँ उससे कहीं अधिक बाधाएँ मिलीं। किंतु सुभद्रा की उच्चाकांक्षाओं की सीमा न थी। वह कदाचित् केशव को इन्द्रासन पर बैठा हुआ देखना चाहती थी। उसके सामने तब भी वही पति-सेवा का आदर्श होता था। वह तब भी उसके सिर में तेल डालेगी, उसकी धोती छाँटेगी, उसके पाँव दबायेगी और उसके पखा झलेगी। उपासक की महत्त्वाकाक्षा उपास्य ही के प्रति होती है। वह उसको सोने का मदिर बनवायेगा, उसके सिंहासन को रत्नों से सजायेगा, स्वर्ग से पुष्प लाकर उसकी भेंट करेगा ; पर वह स्वय वही उपासक रहेगा। जटा के स्थान पर मुकुट या कोपीन की जगह पीतांबर की लालसा उसे कभी नहीं सताती। सुभद्रा ने उस वक्त तक दम न लिया, जब तक केशव ने विलायत जाने का वादा न कर लिया, माता-पिता ने उसे कलंकिनी, और न-जाने क्या-क्या कहा, पर अंत में सहमत

हो गये। सब तैयारियाँ हो गई। स्टेशन समीप ही था। यहाँ गाड़ी देर तक खड़ी रहती थी। स्टेशनों के समीपस्थ गाँवों के निवासियों के लिए गाड़ी का आना शत्रु का धावा नहीं, मित्र का पदार्पण है। गाड़ी आ गई। सुभद्रा जलपान बनाकर पति को हाथ धुलाने आई थी। इस समय केशव की प्रेम कातर आपत्ति ने उसे एक क्षण के लिए विचलित कर दिया। हा! कौन जानता है, तीन साल में क्या हो जाय! मन में एक आवेश उठा—कह दूँ, प्यारे, मत जाओ। थोड़ा ही खायँगे, मोटा ही पहनेंगे, रो-रोकर दिन तो न कटेंगे। कभी केशव के आने में एकआध महीना लग जाता था, तो वह विकल हो जाया करती थी। यही जी चाहता था, उड़कर उनके पास पहुँच जायँ। फिर ये निर्दयी तीन वर्ष कैसे कटेंगे! लेकिन उसने बड़ी कठोरता से इन निराशाजनक भावों को ठुकरा दिया और कांपते कंठ से बोली—जी तो मेरा भी यही चाहता है। जब तीन साल का अनुमान करती हूँ, तो एक कल्प-सा मालूम होता है। लेकिन जब विलायत में तुम्हारे सम्मान और आदर का ध्यान करती हूँ, तो यह तीन साल तीन दिन से मालूम होते हैं। तुम तो जहाज पर पहुँचते ही मुझे भूल जाओगे। नये-नये दृश्य तुम्हारे मनोरंजन के लिए आ खड़े होंगे। योरप पहुँचकर विद्वानों के सत्संग में तुम्हें घर की याद भी न आयेगी। मुझे तो रोने के सिवा और कोई धंधा नहीं है। यही स्मृतियाँ ही मेरे जीवन का आधार होंगी। लेकिन क्या करूँ, जीवन की भोग-लालसा तो नहीं मानती। फिर जिस वियोग का अन्त जीवन की सारी विभूतियाँ अपने साथ लायेगा, वह वास्तव में तपस्या है। तपस्या के बिना तो वरदान नहीं मिलता।

केशव को भी अब ज्ञात हुआ कि क्षणिक मोह के आवेश में स्वभाग्य-निर्माण का ऐसा अच्छा अवसर त्याग देना मूर्खता है। खड़े होकर बोले—रोना-धोना मत, नहीं मेरा जी न लगेगा।

सुभद्रा ने उनका हाथ पकड़कर हृदय से लगाते हुए उनके मुँह की ओर सजल नेत्रों से देखा और बोली— पत्र बराबर भेजते रहना।

"अवश्य भेजूँगा। प्रति सप्ताह लिखूँगा।"

सुभद्रा ने आँखों में आँसू भरे मुसकिराकर कहा—देखना, विलायती मिसों के जाल में न फँस जाना।

केशव फिर चारपाई पर बैठ गया और बोला—अगर तुम्हे यह संदेह है, तो लो मैं जाऊँगा ही नहीं।

सुभद्रा ने उसके गले मे बाँहें डालकर विश्वास-पूर्ण दृष्टि से देखा और बोली—मैं दिल्लगी कर रही थी।

"अगर इन्द्रलोक की अप्सरा भी आ जाय, तो आँख उठाकर न देखूँ। ब्रह्मा ने ऐसी दूसरी सृष्टि की ही नहीं।"

"बीच में कोई छुट्टी मिले, तो एक बार चले आना।"

"नहीं प्रिये, बीच मे शायद छुट्टी न मिलेगी। मगर जो मैंने सुना कि तुम रो-रोकर घुली जाती हो, दाना पानी छोड़ दिया है, तो मैं अवश्य चला आऊँगा। ये फूल ज़रा भी कुम्हलाने न पायें।"

दोनों गले मिलकर विदा हो गये। बाहर सबंधियों और मित्रों का एक समूह खड़ा था। केशव ने बड़ों के चरण छुए, छोटों को गले लगाया और स्टेशन की ओर चले। मित्रगण स्टेशन तक पहुँचाने गये। एक क्षण में गाड़ी यात्री को लेकर चल दी।

उधर केशव गाड़ी में बैठा हुआ पहाड़ियों की बहार देख रहा था, इधर सुभद्रा भूमि पर पड़ी सिसकियाँ भर रही थी।

(२)

दिन गुज़रने लगे। उसी तरह, जैसे बीमारी के दिन कटते हैं—दिन पहाड़, रात काली बला। रात-भर मनाते गुज़रती थीं कि किसी तरह भोर हो, भोर होता तो मनाने लगती जल्द शाम हो। मैके गई कि वहाँ जी बहलेगा। दस-पाँच दिन परिवर्तन का कुछ असर हुआ, फिर उससे भी बुरी दशा हुई, भागकर ससुराल चली आई। रोगी करवट बदलकर आराम का अनुभव करता है।

पहले पाँच-छ महीनों तक तो केशव के पत्र पन्द्रहवें दिन बराबर मिलते रहे। उनमें वियोग-दुःख कम, नये-नये दृश्यों का वर्णन अधिक होता था। पर सुभद्रा सन्तुष्ट थी। पत्र आते हैं, वह प्रसन्न हैं, कुशल से हैं, उसके लिए यही काफी था। इसके प्रतिकूल वह पत्र लिखती, तो विरह-व्यथा के सिवा उसे कुछ सूझता ही न था। कभी-कभी जब जी बेचैन हो जाता, तो पछताती कि व्यर्थ जाने दिया। कहीं एक दिन मर जाऊँ, तो उनके दर्शन भी न हों।

लेकिन छठे महीने से पत्रों मे भी विलम्ब होने लगा। कई महीने तक तो महीने मे एक पत्र आता रहा, फिर वह भी बन्द हो गया। सुभद्रा के चार-छ पत्र पहुँच

जाते, तो एक पत्र आ जाता ; वह भी बेदिली से लिखा हुआ—काम की अधिकता और समय के अभाव के रोने से भरा हुआ। एक वाक्य भी ऐसा नहीं, जिससे हृदय को शान्ति हो, जो टपकते हुए दिल पर मरहम रखे। हा ! आदि से अन्त तक 'प्रिये' शब्द का नाम नहीं ! सुभद्रा अधीर हो उठी। उसने योरप-यात्रा का निश्चय कर लिया। वह सारे कष्ट सह लेगी, सिर पर जो कुछ पड़ेगी, सह लेगी ; केशव को आँखों से देखती तो रहेगी। वह इस बात को उनसे गुप्त रखेगी, उनकी कठिनाइयों को और न बढ़ायेगी, उनसे बोलेगी भी नहीं ; केवल उन्हें कभी-कभी आँख भरकर देख लेगी। यही उसकी शान्ति के लिए काफी होगा। उसे क्या मालूम था कि उसका केशव अब उसका नहीं रहा। वह अब एक दूसरी ही कामिनी के प्रेम का भिखारी है।

सुभद्रा कई दिनों तक इस प्रस्ताव को मन में रखे हुए सेती रही। उसे किसी प्रकार की शङ्का न होती थी। समाचार-पत्रों के पढ़ते रहने से उसे समुद्री यात्रा का हाल मालूम होता रहता था। एक दिन उसने अपने सास-ससुर के सामने अपना निश्चय प्रकट किया। उन लोगों ने बहुत समझाया, रोकने की बहुत चेष्टा की ; लेकिन सुभद्रा ने अपना हठ न छोड़ा। आखिर जब लोगों ने देखा कि यह किसी तरह नहीं मानती, तो राज़ी हो गये। मैकेवाले भी समझाकर हार गये। कुछ रुपये उसने स्वयं जमा कर रखे थे, कुछ ससुराल में मिले। माँ-बाप ने भी मदद की। रास्ते के खर्च की चिन्ता न रही। इँगलैंड पहुँचकर वह क्या करेगी, इसका अभी उसने कुछ निश्चय न किया। इतना जानती थी कि परिश्रम करनेवाले को रोटियों की कहीं कमी नहीं रहती।

विदा होते समय सास और ससुर दोनों स्टेशन तक आये। जब गाड़ी ने सीटी दी, तो सुभद्रा ने हाथ जोड़कर कहा—मेरे जाने का समाचार वहाँ न लिखिएगा। नहीं तो उन्हें चिन्ता होगी और पढ़ने में उनका जी न लगेगा।

ससुर ने आश्वासन दिया। गाड़ी चल दी।

(३)

लन्दन के उस हिस्से में, जहाँ इस समृद्धि के समय में भी दरिद्रता का राज्य है, ऊपर के एक छोटे-से कमरे में सुभद्रा एक कुर्सी पर बैठी है। उसे यहाँ आये आज एक महीना हो गया है। यात्रा के पहले उसके मन में जितनी शङ्काएँ थीं, सभी शान्त होती जा रही हैं। बम्बई-बन्दर मे जहाज़ पर जगह पाने का प्रश्न बड़ी आसानी से हल हो गया। वह अकेली औरत न थी, जो योरप जा रही हो। पाँच-छ स्त्रियाँ और

भी उसी जहाज़ से जा रही थीं। सुभद्रा को न जगह मिलने में कोई कठिनाई हुई, न मार्ग में। यहाँ पहुँचकर और स्त्रियों से उसका सङ्ग छूट गया। कोई किसी विद्यालय में चली गई। दो-तीन अपने पतियों के पास चली गई, जो यहाँ पहले से आ गए थे। सुभद्रा ने इस महल्ले में एक कमरा ले लिया। जीविका का प्रश्न भी उसके लिए बहुत कठिन न रहा। जिन महिलाओं के साथ वह आई थी, उनमें से कई उच्च अधिकारियों की पत्नियाँ थीं। कई अच्छे-अच्छे अँगरेज़ घरानों से उनका परिचय था। सुभद्रा को, दो महिलाओं को, भारतीय सङ्गीत और हिन्दी-भाषा सिखाने का काम मिल गया। शेष समय में वह कई भारतीय महिलाओं के कपड़े सीने का काम कर लेती है। केशव का निवास-स्थान यहाँ से निकट है, इसीलिए सुभद्रा ने इस महल्ले को पसन्द किया है। कल केशव उसे दिखाई दिया था। ओह! उन्हें 'बस' से उतरते खदेकर उसका चित्त कितना आतुर हो उठा था। बस, यही मन में आता था कि दौड़कर उनके गले से लिपट जाय और पूछे—क्यों जी, तुम यहाँ आते ही बदल गये। याद है, तुमने चलते समय क्या-क्या वादे किये थे? उसने बड़ी मुश्किल से अपने को रोका था। तबसे इस वक्त तक उसे मानो नशा-सा छाया हुआ है। वह उनके इतने समीप है! चाहे तो रोज़ उन्हें देख सकती है, उनकी बातें सुन सकती है, हाँ, उन्हें स्पर्श तक कर सकती है। अब वह उससे भागकर कहाँ जायँगे? उनके पत्रों की अब उसे क्या चिन्ता है? कुछ दिनों के बाद सम्भव है, वह उनके होटल के नौकरों से जो चाहे, पूछ सकती है।

संध्या हो गई थी। धुएँ में बिजली की लालटेनें रोंधी आँखों की भाँति ज्योति-हीन-सी हो रही थीं। गली में स्त्री-पुरुष सैर करने चले जा रहे थे। सुभद्रा सोचने लगी—इन लोगों को आमोद से कितना प्रेम है, मानो किसी को चिता ही नहीं, मानो सभी सपन्न हैं। जभी यह लोग इतने एकाग्र होकर सब काम कर सकते हैं। जिस समय जो काम करते हैं, जी-जान से करते हैं। खेलने का उमग है। तो काम करने का भी उमग है और एक हम हैं कि न हँसते हैं, न रोते हैं, मौन बने बैठे रहते हैं। स्फूर्ति का कहीं नाम नहीं काम तो सारे दिन करते हैं, भोजन करने की फ़ुरसत भी नहीं मिलती, पर वास्तव में चौथाई समय भी काम में नहीं लगाते। केवल काम करने का बहाना करते हैं। मालूम होता है, जाति प्राण-शून्य हो गई है।

सहसा उसने केशव को जाते देखा। हाँ, केशव ही था। वह कुर्सी से उठकर

बरामदे में चली आई। प्रबल इच्छा हुई कि जाकर उनके गले से लिपट जाय। उसने अगर अपराध भी किया है, तो उन्हीं के कारण तो? यदि वह बराबर पत्र लिखते जाते, तो वह क्यों आती?

लेकिन केशव के साथ यह युवती कौन है? अरे! केशव उसका हाथ पकड़े हुए हैं। दोनों मुसकरा-मुसकराकर बातें करते चले जाते हैं। यह युवती कौन है?

सुभद्रा ने ध्यान से देखा। युवती का रंग साँवला था, वह भारतीय बालिका थी। उसका पहनावा भारतीय था। इससे ज्यादा सुभद्रा को और कुछ न दिखाई दिया। उसने तुरंत जूते पहने, द्वार बंद किया और एक क्षण मे, गली में आ पहुँची। केशव अब दिखाई न देता था, पर वह जिधर गया था, उधर ही वह बड़ी तेज़ी से लपकी चली जाती थी। यह युवती कौन है? वह उन दोनों की बातें सुनना चाहती थी, उस युवती को देखना चाहती थी। उसके पाँव इतनी तेज़ी से उठ रहे थे, मानो दौड़ रही हो। पर इतनी जल्द दोनों कहाँ अदृश्य हो गये? अब तक उसे उन लोगों के समीप पहुँच जाना चाहिए था। शायद दोनों किसी 'बस' पर जा बैठे!

अब वह गली समाप्त करके एक चौड़ी सड़क पर आ पहुँची थी। दोनों तरफ बड़ी-बड़ी जगमगाती हुई दूकानें थीं, जिनमे संसार की विभूतियाँ गर्व से फूली बैठी थीं। क़दम-कदम पर होटल और रेस्ट्राँ थे। सुभद्रा दोनों ओर सचेष्ट नेत्रों से ताकती, पग-पग पर भ्रांति के कारण मचलती कितनी दूर निकल गई, कुछ खबर नहीं।

फिर उसने सोचा—यों कहाँ तक चली जाऊँगी, कौन जाने, किधर गये। चलकर फिर अपने बरामदे से देखूँ। आखिर इधर से गये हैं, तो इधर ही से लौटेंगे भी। यह खयाल आते ही वह घूम पड़ी, और उसी तरह दौड़ती हुई अपने स्थान को ओर चली। जब वहाँ पहुँची, तो बारह बज गये थे। और इतनी देर उसे चलते ही गुज़रा! एक क्षण भी उसने कहीं विश्राम नहीं किया!

वह ऊपर पहुँची तो गृह-स्वामिनी ने कहा—तुम्हारे लिए बड़ी देर से भोजन रखा हुआ है।

सुभद्रा ने भोजन अपने कमरे में मँगा लिया, पर खाने की सुधि किसे थी! वह उसी बरामदे मे, उसी तरफ, टकटकी लगाये खड़ी थी, जिधर से केशव गया था।

एक बज गया, दो बजा, फिर भी केशव नहीं लौटा। उसने मन में कहा—वह

किसी दूसरे मार्ग से चले गये। मेरा यहाँ खड़ा रहना व्यर्थ है। चलूँ, सो रहूँ। लेकिन फिर खयाल आ गया, कहीं आ न रहे हों।

मालूम नहीं, उसे कब नींद आ गई।

(४)

दूसरे दिन प्रात काल सुभद्रा अपने काम पर जाने को तैयार हो रही थी कि एक युवती रेशमी साड़ी पहने आकर खड़ी हो गई, और मुसकराकर बोली—क्षमा कीजिएगा, मैंने बहुत सवेरे आपको कष्ट दिया। आप तो कहीं जाने को तैयार मालूम होती हैं।

सुभद्रा ने एक कुर्सी बढ़ाते हुए कहा—हाँ, एक काम से बाहर जा रही थी मैं आपकी क्या सेवा कर सकती हूँ?

यह कहते हुए सुभद्रा ने युवती को सिर से पाँव तक उसी आलोचनात्मक दृष्टि से देखा, जिससे स्त्रियाँ ही देख सकती हैं। सौंदर्य की किसी परिभाषा से भी उसे सुन्दरी न कहा जा सकता था। उसका रग साँवला, मुँह कुछ चौड़ा, नाक कुछ चिपटी, क़द भी छोटा और शरीर भी कुछ स्थूल था। आँखों पर ऐनक लगी हुई थी। लेकिन इन सब कारणों के होते हुए भी उसमें कुछ ऐसी बात थी, जो आँखों को अपनी ओर खींच लेती थी। उसकी वाणी इतनी मधुर, इतनी सयमित, इतनी विनम्र थी कि जान पड़ता था किसी देवी के वरदान हों। एक-एक अङ्ग से प्रतिभा विकीर्ण हो रही थी। सुभद्रा उसके सामने हलकी, तुच्छ मालूम होती थी। युवती ने कुर्सी पर बैठते हुए कहा—

"अगर मैं भूलती हूँ, तो मुझे क्षमा कीजिएगा। मैंने सुना है कि आप कुछ कपड़े भी सीती हैं, जिसका प्रमाण यह है कि यहाँ सीविंग मशीन मौजूद है।"

सुभद्रा—मैं दो लेडियों को भाषा पढाने जाया करती हूँ। शेष समय मे कुछ सिलाई भी कर लेती हूँ। आप कपड़े लाई हैं?

युवती—"नहीं, अभी कपड़े नहीं लाई।" यह कहते हुए उसने लज्जा से सिर झुकाकर मुसकिराते हुए कहा—बात यह है कि मेरी शादी होने जा रही है। मैं वस्त्राभूषण सब हिंदुस्तानी रखना चाहती हूँ। विवाह भी वैदिक रीति से ही होगा ऐसे कपड़े यहाँ आप ही तैयार कर सकती हैं।

सुभद्रा ने हँसकर कहा—मैं ऐसे अवसर पर आपके जोड़े तैयार करके अपने को धन्य समझूँगी। वह शुभ तिथि कब है ?

युवती ने सकुचाते हुए कहा—वह तो कहते हैं, इसी सप्ताह में हो जाय, पर मैं उन्हें टालती आती हूँ। मैंने तो चाहा था कि भारत लौटने पर विवाह होता, पर वह इतने उतावले हो रहे हैं कि कुछ कहते नहीं बनता। अभी तो मैंने यही कहकर टाला कि मेरे कपड़े सिल रहे हैं।

सुभद्रा—तो मैं आपके जोड़े बहुत जल्द दे दूँगी।

युवती ने हँसकर कहा—मैं तो चाहती थी कि आप महीनों लगा देतीं।

सुभद्रा—वाह, मैं इस शुभ कार्य में क्यों विघ्न डालने लगी। मैं इसी सप्ताह में आपके कपड़े दे दूँगी, और उनसे इसका पुरस्कार लूँगी।

युवती खिलखिलाकर हँसी। कमरे में प्रकाश की लहरें-सी उठ गईं। बोली—इसके लिए तो पुरस्कार वह देंगे। बड़ी खुशी से देंगे और तुम्हारे कृतज्ञ होंगे। मैंने तो प्रतिज्ञा की थी कि विवाह के बन्धन में पड़ूँगी ही नहीं; पर उन्होंने मेरी प्रतिज्ञा तोड़ दी। अब मुझे मालूम हो रहा है कि प्रेम की बेड़ियाँ कितनी आनन्दमयी होती हैं! तुम तो अभी हाल ही में आई हो। तुम्हारे पति भी साथ होंगे ?

सुभद्रा ने बहाना किया। बोली—वह इस समय जर्मनी में हैं। संगीत से उन्हें बहुत प्रेम है। संगीत ही का अध्ययन करने के लिए वहाँ गये हैं।

तुम भी संगीत जानती हो ?

"बहुत थोड़ा।"

"केशव को संगीत से बड़ा प्रेम है।"

केशव का नाम सुनकर सुभद्रा को ऐसा मालूम हुआ, जैसे बिच्छू ने काट लिया हो। वह चौंक पड़ी।

युवती ने पूछा—आप चौंक कैसे गईं ? क्या केशव को जानती हो ?

सुभद्रा ने बात बनाकर कहा—नहीं, मैंने यह नाम कभी नहीं सुना। वह यहाँ क्या करते हैं ?

सुभद्रा को खयाल आया, क्या केशव किसी दूसरे आदमी का नाम नहीं हो सकता। इसलिए उसने यह प्रश्न किया था। उसी जवाब पर उसकी ज़िन्दगी का फैसला था।

युवती ने कहा—वह यहाँ विद्यालय में पढते हैं। भारत-सरकार ने उन्हें भेजा है। अभी साल-भर भी तो आये नहीं हुए। तुम देखकर प्रसन्न होगी। तेज और बुद्धि की मूर्ति समझ लो! यहाँ के अच्छे-अच्छे प्रोफेसर उनका आदर करते हैं। ऐसा सुन्दर भाषण तो मैंने और किसी के मुँह से सुना ही नहीं। उनका जीवन आदर्श है। मुझसे उन्हें क्यों प्रेम हो गया, मुझे इसका आश्चर्य है। मुझमें न रूप है, न लावण्य! यह मेरा सौभाग्य है। तो मैं शाम को कपड़े लेकर आऊँगी।

सुभद्रा ने मन में उठते आवेश के वेग को सँभालकर कहा—अच्छी बात है।

जब युवती चली गई, तो सुभद्रा फूट फूटकर रोने लगी। ऐसा जान पड़ता था, मानो देह में रक्त ही नहीं, मानो प्राण निकल गये हैं। वह कितनी निःसहाय, कितनी दुर्बल है, इसका आज अनुभव हुआ। ऐसा मालूम हुआ, मानो संसार में उसका कोई नहीं है। अब उसका जीवन व्यर्थ है। उसके लिए अब जीवन में रोने के सिवा और क्या है? उसकी सारी ज्ञानेन्द्रियाँ शिथिल सी हो गई थीं, मानो वह किसी ऊँचे वृक्ष से गिर पड़ी हो। हा! यह उसके प्रेम और भक्ति का पुरस्कार है। उसने कितना आग्रह करके केशव को यहाँ भेजा था? इसीलिए कि यहाँ आते ही वह उसका सर्वनाश कर दें?

पुरानी बातें याद आने लगीं। केशव की वह प्रेमातुर आँखें सामने आ गई। वह सरल, सहासमूर्ति आँखों के सामने नाचने लगी। उसका ज़रा सिर धमकता था, तो केशव कितना व्याकुल हो जाता था। एक बार जब उसे फसली बुखार आ गया था तो केशव कितना घबराकर, पन्द्रह दिन की छुट्टी लेकर, घर आ गया था और उसके सिरहाने बैठा रात-भर पंखा झलता रहा था। वही केशव अब इतनी जल्द उससे ऊब उठा! उसके लिए सुभद्रा ने कौन-सी बात उठा रखी। वह तो उसी को अपना प्राणाधार, अपना जीवनधन, अपना सर्वस्व समझती थी। नहीं-नहीं, केशव का दोष नहीं, सारा दोष इसीका है, इसीने अपनी मधुर बातों से उन्हें वशीभूत कर लिया है। इसकी विद्या, बुद्धि और वाक्पटुता ही ने उनके हृदय पर विजय पाई है। हाय! उसने कितनी बार केशव से कहा था, मुझे भी पढाया करो, लेकिन उन्होंने हमेशा यही जवाब दिया, तुम जैसी हो, मुझे वैसी ही पसन्द हो। मैं तुम्हारी स्वाभाविक सरलता को पढ़ा-पढ़ाकर मिटाना नहीं चाहता। केशव ने उसके साथ कितना बड़ा अन्याय किया है! लेकिन यह उनका दोष नहीं, यह इसी यौवन-मतवाली छोकरी की माया है।

सुभद्रा को इस ईर्ष्या और दुःख के आवेश में अपने काम पर जाने की सुध न रही। वह कमरे में इस तरह टहलने लगी, जैसे किसी ने ज़बरदस्ती उसे बन्द कर दिया हो। कभी दोनों मुट्ठियाँ बँध जातीं, कभी दाँत पीसने लगती, कभी ओंठ काटती। उन्माद की-सी दशा हो गई। आँखों में भी एक तीव्र ज्वाला चमक उठी। ज्यों-ज्यों केशव के इस निष्ठुर आघात को सोचती, उन कष्टों को याद करती, जो उसने उसके लिए झेले थे, उसका चित्त प्रतीकार के लिए विकल होता जाता था। अगर कोई बात हुई होती, आपस में कुछ मनोमालिन्य का लेश भी होता, तो उसे इतना दुःख न होता। यह तो उसे ऐसा मालूम होता था कि मानो कोई हँसते-हँसते अचानक गले पर चढ बैठे। अगर वह उनके योग्य नहीं थी, तो उन्होंने उससे विवाह ही क्यों किया था? विवाह करने के बाद भी उसे क्यों न ठुकरा दिया था? क्यों प्रेम का बीज बोया था? और आज जब वह बीज पल्लवों से लहराने लगा, उसकी जड़ें उसके अतस्तल के एक-एक अणु में प्रविष्ट हो गईं, उसका सारा रक्त, उसका सारा उत्सर्ग वृक्ष को सींचने और पालने में प्रवृत्त हो गया, तो वह आज उसे उखाड़कर फेंक देना चाहते हैं। क्या उसके हृदय के टुकड़े-टुकड़े हुए बिना वृक्ष उखड़ जायगा?

सहसा उसे एक बात याद आ गई। हिंसात्मक सतोष से उसका उत्तेजित मुख मडल और भी कठोर हो गया। केशव ने अपने पहले विवाह की बात इस युवती से गुप्त रखी होगी। सुभद्रा इसका भडाफोड़ करके केशव के सारे मसूबों को धूल में मिला देगी। उसे अपने ऊपर क्रोध आया कि युवती का पता क्यों न पूछ लिया। उसे एक पत्र लिखकर केशव की नीचता, स्वार्थपरता और कायरता की कलई खोल देती—उसके पाण्डित्य, प्रतिभा और प्रतिष्ठा को धूल में मिला देती। खैर, सध्या समय तो वह कपड़े लेकर आयेगी ही। उस समय उससे सारा कच्चा चिट्ठा बयान कर दूँगी।

(५)

सुभद्रा दिन-भर युवती का इन्तज़ार करती रही। कभी बरामदे में आकर इधर-उधर निगाह दौड़ाती, कभी सड़क पर देखती, पर उसका कहीं पता न था। मन में झुँझलाती थी कि उसने क्यों उसी वक्त, सारा वृत्तात न कह सुनाया।

केशव का पता उसे मालूम था। उस मकान और गली का नंबर तक याद था, जहाँ से वह उसे पत्र लिखा करता था। ज्यों-ज्यों दिन ढलने लगा और युवती के

आने में विलव होने लगा, उसके मन में एक तरग-सी उठने लगी कि जाकर केशव को फटकारे, उसका सारा नशा उतार दे, कहे—तुम इतने भयकर हिसक हो, इतने महान् धूर्त हो, यह मुझे मालूम न था। तुम यही विद्या सीखने यहाँ आये थे! तुम्हारे सारे पाण्डित्य का यही फल है! तुम एक अबला को, जिसने तुम्हारे ऊपर अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया, यों छल सकते हो! तुममें क्या मनुष्यता नाम को भी नहीं रह गई? आखिर तुमने मेरे लिए क्या सोचा है? मैं सारी जिदगी तुम्हारे नाम को रोती रहूँ! लेकिन अभिमान हर बार उसके पैरों को रोक लेता। नहीं, जिसने उसके साथ ऐसा कपट किया है, उसका इतना अपमान किया है, उसके पास वह न जायगी। वह उसे देखकर अपने आँसुओं को रोक सकेगी या नहीं, इसमें उसे सदेह था, और केशव के सामने वह रोना नहीं चाहती थी। अगर केशव उससे घृणा करता है, तो वह भी केशव से घृणा करेगी। सध्या भी हो गई, पर युवती न आई। बत्तियाँ भी जलीं, पर उसका पता नहीं।

एकाएक उसे अपने कमरे के द्वार पर किसी के आने की आहट मालूम हुई। वह कूदकर बाहर निकल आई। युवती कपड़ों का एक पुलिंदा लिये सामने खड़ी थी। सुभद्रा को देखते ही बोली—क्षमा करना, मुझे आने में देर हो गई। बात यह है कि केशव को किसी बड़े ज़रूरी काम से जर्मनी जाना है। वहाँ उन्हें एक महीने से ज़्यादा लग जायगा। वह चाहते हैं कि मैं भी उनके साथ चलूँ। मुझसे उन्हें अपना थीसिस लिखने में बड़ी सहायता मिलेगी। बर्लिन के पुस्तकालयों को छानना पड़ेगा। मैंने भी इसे स्वीकार कर लिया है। केशव की इच्छा है कि जर्मनी जाने के पहले हमारा विवाह हो जाय। कल सध्या समय सस्कार हो जायगा। अब ये कपड़े मुझे आप जर्मनी से लौटने पर दीजिएगा। विवाह के अवसर पर हम मामूली कपड़े पहन लेंगे। और करती क्या। इसके सिवा कोई उपाय न था। केशव का जर्मनी जाना अनिवार्य है।'

सुभद्रा ने कपड़ों को मेज़ पर रखकर कहा – आपको धोखा दिया गया है।

युवती ने घबड़ाकर पूछा—धोखा! कैसा धोखा! मैं बिलकुल नहीं समझी। तुम्हारा मतलब क्या है?"

सुभद्रा ने सकोच के आवरण को हटाने की चेष्टा करते हुए कहा—

केशव तुम्हें धोखा देकर तुमसे विवाह करना चाहता है।

"केशव ऐसा आदमी नहीं है, जो किसी को धोखा दे। क्या तुम केशव को जानती हो?"

"केशव ने तुमसे अपने विषय में सब कुछ कह दिया है?"

"सब कुछ।"

"कोई बात नहीं छिपाई?"

"मेरा तो यही विचार है कि उन्होंने एक बात भी नहीं छिपाई।"

"तुम्हें मालूम है कि उसका विवाह हो चुका है?"

युवती की मुख-ज्योति कुछ मलिन पड़ गई, उसकी गरदन लज्जा से झुक गई। अटक-अटककर बोली—हाँ, उन्होंने मुझसे ··यह बात कही थी।

सुभद्रा परास्त हो गई। घृणा-सूचक नेत्रों से देखती हुई बोली—यह जानते हुए भी तुम केशव से विवाह करने पर तैयार हो?

युवती ने अभिमान से देखकर कहा—तुमने केशव को देखा है?

"नहीं, मैंने उन्हें कभी नहीं देखा।"

"फिर तुम उन्हें कैसे जानती हो?"

"मेरे एक मित्र ने मुझसे यह बात कही है, वह केशव को जानता है।"

"अगर तुम एक बार केशव को देख लेतीं, एक बार उनसे बातें कर लेतीं, तो मुझसे यह प्रश्न न करतीं। एक नहीं, अगर उन्होंने एक सौ विवाह किये होते, तो भी मैं इनकार न करती। उन्हे देखकर मैं अपने को बिलकुल भूल जाती हूँ। अगर उनसे विवाह न करूँ, तो फिर मुझे जीवन-भर अविवाहित ही रहना पड़ेगा। जिस समय वह मुझसे बातें करने लगते हैं, मुझे ऐसा अनुभव होता है कि मेरी आत्मा पुष्प की भाँति खिली जा रही है। मैं उसमें प्रकाश और विकास का प्रत्यक्ष अनुभव करती हूँ। दुनिया चाहे जितना हँसे, चाहे जितनी निंदा करे, मैं केशव को अब नहीं छोड़ सकती। उनका विवाह हो चुका है, यह सत्य है, पर उस स्त्री से उनका मन कभी नहीं मिला। यथार्थ में उनका विवाह अभी नहीं हुआ। वह कोई साधारण, अर्द्धशिक्षिता बालिका है। तुम्हीं सोचो, केशव-जैसा विद्वान्, उदारचेता, मनस्वी पुरुष ऐसी बालिका के साथ कैसे प्रसन्न रह सकता है? तुम्हें कल मेरे विवाह में चलना पड़ेगा।"

सुभद्रा का चेहरा तमतमाया जा रहा था। केशव ने उसे इतने काले रंगों में

रँगा है, यह सोचकर उसका रक्त खौल रहा था। जी मे आता था, इसी क्षण इसको दुत्कार दूँ, लेकिन उसके मन में कुछ और ही मसूबे पैदा होने लगे थे। उसने गंभीर, पर उदासीन भाव से पूछा—केशव ने कुछ उस स्त्री के विषय में नहीं कहा? वह अब क्या करेगी, कैसे रहेगी?

युवती ने तत्परता से कहा—घर पहुँचने पर वह उससे केवल यही कह देंगे कि हम और तुम अब स्त्री और पुरुष नहीं रह सकते। उसके भरण-पोषण का वह उसके इच्छानुसार प्रबंध कर देंगे, इसके सिवा वह और क्या कर सकते हैं। हिन्दू-नीति मे पति-पत्नी में विच्छेद नहीं हो सकता। पर केवल स्त्री को पूर्ण रीति से स्वाधीन कर देने के विचार से वह ईसाई या मुसलमान होने पर भी तैयार हैं। वह तो अभी उसे इसी आशय का एक पत्र लिखने जा रहे थे, पर मैंने ही रोक लिया। मुझे उस अभागिनी पर बड़ी दया आती है, मैं तो यहाँ तक तैयार हूँ कि अगर उसकी इच्छा हो तो वह भी हमारे साथ रहे। मैं उसे अपनी बड़ी बहन समझूँगी। किंतु केशव इससे सहमत नहीं होते।

सुभद्रा ने व्यंग्य से कहा—रोटी-कपड़ा देने को तो तैयार ही हैं, स्त्री को इसके सिवा और क्या चाहिए?

युवती ने व्यंग्य की कुछ परवा न करके कहा—तो मुझे लौटने पर कपड़े तैयार मिलेंगे न?

सुभद्रा—हाँ, मिल जायँगे।

युवती—कल तुम संध्या समय आओगी?

सुभद्रा—नहीं, खेद है, मुझे अवकाश नहीं है।

युवती ने कुछ न कहा। चली गई।

(६)

सुभद्रा कितना ही चाहती थी कि इस समस्या पर शांतचित्त होकर विचार करे, पर हृदय में मानो ज्वाला-सी दहक रही थी। केशव के लिए वह अपने प्राणों का कोई मूल्य नहीं समझती थी। वही केशव उसे पैरों से ठुकरा रहा है। यह आघात इतना आकस्मिक, इतना कठोर था कि उसकी चेतना की सारी कोमलता मूर्च्छित हो गई। उसका एक-एक अणु प्रतीकार के लिए तड़पने लगा। अगर यही समस्या इसके विपरीत होती, तो क्या सुभद्रा की गरदन पर छुरी न फिर गई होती? केशव उसके

ख़ून का प्यासा न हो जाता ? क्या पुरुष हो जाने से ही सभी बातें क्षम्य और स्त्री हो जाने से सभी बातें अक्षम्य हो जाती हैं ? नहीं, इस निर्णय को सुभद्रा की विद्रोही आत्मा इस समय स्वीकार नहीं कर सकती। उसे नारियों के ऊँचे आदर्शों की परवा नहीं है। उन स्त्रियों में आत्माभिमान न होगा। वे पुरुष के पैरों की जूतियाँ बनकर रहने ही मे अपना सौभाग्य समझती होंगी। सुभद्रा इतनी आत्माभिमान-शून्य नहीं है। वह अपने जीते-जी यह नहीं देख सकती कि उसका पति उसके जीवन का सर्व-नाश करके चैन की वंशी बजाये। दुनिया उसे हत्यारिनी, पिशाचिनी कहेगी, कहे— उसको परवा नहीं। रह-रहकर उसके मन मे भयंकर प्रेरणा होती थी कि इसी समय उसके पास चली जाय, और इसके पहले कि वह उस युवती के प्रेम का आनंद उठाये, उसके जीवन का अन्त कर दे। वह केशव की निष्ठुरता को याद करके अपने मन को उत्तेजित करती थी। अपने को धिक्कार-धिक्कारकर नारी-सुलभ शंकाओं को दूर करती थी। क्या वह इतनी दुर्बल है ? क्या उसमें इतना साहस भी नहीं है ? इसी वक्त यदि कोई दुष्ट उसके कमरे मे घुस आये और उसके सत्य का अपहरण करना चाहे, तो क्या वह उसका प्रतीकार न करेगी ? आखिर आत्म-रक्षा ही के लिए तो उसने यह पिस्तौल ले रखी है। केशव ने उसके सत्य का अपहरण ही तो किया है। उसका प्रेम-दर्शन केवल प्रवंचना थी। वह केवल अपनी वासनाओं की तृप्ति के लिए सुभद्रा के साथ प्रेम-स्वाँग भरता था। फिर उसका वध करना क्या सुभद्रा का कर्त्तव्य नहीं ?

इस अंतिम कल्पना से सुभद्रा को वह उत्तेजना मिल गई, जो उसके भयंकर संकल्प को पूरा करने के लिए आवश्यक थी। यही वह अवस्था है, जब स्त्री पुरुष के ख़ून की प्यासी हो जाती है।

उसने खूँटी पर लटकती हुई पिस्तौल उतार ली और ध्यान से देखने लगी, मानो उसे कभी देखा न हो। कल संध्या समय जब आर्य-मंदिर मे केशव और उसकी प्रेमिका एक दूसरे के सम्मुख बैठे हुए होंगे, उसी समय वह इस गोली से केशव की प्रेम-लीलाओं का अंत कर देगी। दूसरी गोली अपनी छाती में मार लेगी। क्या वह रो-रोकर अपना अधम जीवन काटेगी ?

(७)

संध्या का समय था। आर्य-मन्दिर के आँगन में वर और वधू इष्ट-मित्रों के साथ बैठे हुए थे। विवाह का संस्कार हो रहा था। उसी समय सुभद्रा पहुँची और बरामदे

में आकर एक खभे की आड़ में इस भाँति खड़ी हो गई कि केशव का मुँह उसके सामने था। उसकी आँखों में वह दृश्य खिच गया, जब आज से तीन साल पहले उसने इसी भाँति केशव को मडप में बैठे हुए आड़ से देखा था। तब उसका हृदय कितना उच्छ्वसित हो रहा था? अतस्तल में गुदगुदी-सी हो रही थी, कितना अपार अनुराग था, कितनी असीम अभिलाषाएँ थीं, मानो जीवन-प्रभात का उदय हो रहा हो। जीवन मधुर सगीत की भाँति सुखद था, भविष्य उषा-स्वप्न की भाँति सुन्दर। क्या यह वही केशव है? सुभद्रा को ऐसा भ्रम हुआ, मानो यह केशव नहीं है। हाँ, यह वह केशव नहीं था। यह उसी रूप और उसी नाम का कोई दूसरा मनुष्य था। अब उसकी मुसकिराहट में, उसके नेत्रों मे, उसके शब्दों मे, उसके हृदय को आकर्षित करनेवाली कोई वस्तु न थी। उसे देखकर वह उसी भाँति नि स्पद, निश्चल खड़ी है, मानो कोई अपरिचित व्यक्ति हो। अब तक केशव का-सा रूपवान्, तेजस्वी, सौम्य, शीलवान् पुरुष ससार में न था, पर अब सुभद्रा को ऐसा जान पड़ा कि वहाँ बैठे हुए युवकों में और उसमें कोई अतर नहीं है। वह ईर्ष्याग्नि, जिसमें वह जली जा रही थी, वह हिंसा-कल्पना, जो उसे वहाँ तक लाई थी, मानो एकदम शान्त हो गई। विरक्ति हिंसा से भी अधिक हिंसात्मक होती है—सुभद्रा की हिंसा-कल्पना में एक प्रकार का ममत्व था—उसका केशव, उसका प्राणवल्लभ, उसका जीवन-सर्वस्व और किसी का नहीं हो सकता। पर अब वह ममत्व नहीं है। वह उसका नहीं है, उसे अब परवा नहीं, उस पर किसका अधिकार होता है।

विवाह-सस्कार समाप्त हो गया, मित्रों ने बधाइयाँ दीं, सहेलियों ने मगल-गान किया, फिर लोग मेज़ों पर जा बैठे, दावत होने लगी, रात के बारह बज गये, पर सुभद्रा वहीं पाषाण-मूर्ति की भाँति खड़ी रही, मानो कोई विचित्र स्वप्न देख रही हो। हाँ, अब उसे अपने हृदय मे एक प्रकार के शून्य का अनुभव हो रहा था, जैसे कोई बस्ती उजड़ गई हो, जैसे कोई सगीत बद हो गया हो, जैसे कोई दीपक बुझ गया हो।

जब लोग मदिर से निकले, तो वह भी निकल आई, पर उसे कोई मार्ग न सूझता था। परिचित सड़कें उसे भूली हुई-सी जान पड़ने लगीं। सारा ससार ही बदल गया था। वह सारी रात सड़कों पर भटकती फिरी, घर का कहीं पता नहीं। सारी दूकानें बन्द हो गईं, सड़कों पर सन्नाटा छा गया, फिर भी वह अपना घर

ढूँढती हुई चली जा रही थी। हाय! क्या इसी भाँति उसे जीवन-पथ में भी भटकना पड़ेगा?

सहसा एक पुलिसमैन ने पुकारा—मैडम, तुम कहाँ जा रही हो?

सुभद्रा ने ठिठककर कहा—कहीं नहीं।

"तुम्हारा स्थान कहाँ है?"

"मेरा स्थान?"

"हाँ, तुम्हारा स्थान कहाँ है? मैं तुम्हें बड़ी देर से इधर-उधर भटकते देख रहा हूँ। किस स्ट्रीट में रहती हो?"

सुभद्रा को उस स्ट्रीट का नाम तक न याद था।

"तुम्हें अपने स्ट्रीट का नाम तक याद नहीं?"

'भूल गई, याद नहीं आता।"

सहसा उसकी दृष्टि सामने के एक साइनबोर्ड की तरफ उठी। ओह! यही तो उसकी स्ट्रीट है। उसने सिर उठाकर इधर-उधर देखा। सामने ही उसका डेरा था। और इसी गली में, अपने ही घर के सामने न जाने कितनी देर से वह चक्कर लगा रही थी।

(८)

अभी प्रातःकाल ही था कि युवती सुभद्रा के कमरे में पहुँची। वह उसके कपड़े सी रही थी। उसका सारा तन-मन कपड़ों में लगा हुआ था। कोई युवती इतनी एकाग्रचित्त होकर अपना शृङ्गार भी न करती होगी। न-जाने उससे कौन-सा पुरस्कार लेना चाहती थी। उसे युवती के आने की खबर भी न हुई।

युवती ने पूछा—तुम कल मन्दिर में नहीं आईं?

सुभद्रा ने सिर उठाकर देखा, तो ऐसा जान पड़ा, मानो किसी कवि की कोमल कल्पना मूर्तिमती हो गई है। उसकी रूप-छवि अनिंद्य थी। प्रेम की विभूति रोम-रोम से प्रदर्शित हो रही थी। सुभद्रा दौड़कर उसके गले से लिपट गई, जैसे उसकी छोटी बहन आ गई हो, और बोली—हाँ, गई तो थी।

"मैंने तुम्हें नहीं देखा।"

"हाँ। मैं अलग थी।"

"केशव को देखा?"

"हाँ, देखा।"

"धीरे से क्यों बोलीं ? मैंने कुछ झूठ कहा था ?"

सुभद्रा ने सहृदयता से मुसकिराकर कहा—मैंने तुम्हारी आँखों से नहीं, अपनी आँखों से देखा। मुझे तो वह तुम्हारे योग्य नहीं जँचे। तुम्हें ठग लिया।

युवती खिलखिलाकर हँसी और बोली—वाह! मैं समझती हूँ, मैंने उन्हें ठगा है।

सुभद्रा ने गम्भीर होकर कहा—एक बार वस्त्राभूषणों से सजकर अपनी छवि आइने में देखो, तो मालूम हो।

"तब क्या मैं कुछ और हो जाऊँगी ?"

"अपने कमरे से फर्श, परदे, तसवीरें, हाँड़ियाँ, गमले आदि निकालकर देख लो, कमरे की शोभा वही रहती है ?"

युवती ने सिर हिलाकर कहा—"ठीक कहती हो। लेकिन आभूषण कहाँ से लाऊँ। न-जाने अभी कितने दिनों में बनने की नौबत आवे।"

"मैं तुम्हें अपने गहने पहना दूँगी।"

"तुम्हारे पास गहने हैं ?"

"बहुत। देखो, मैं अभी लाकर तुम्हें पहनाती हूँ।"

युवती ने मुँह से तो बहुत नहीं-नहीं किया, पर मन में प्रसन्न हो रही थी। सुभद्रा ने अपने सारे गहने उसे पहना दिये। अपने पास एक छल्ला भी न रखा। युवती को यह नया अनुभव था। उसे इस रूप में निकलते शर्म तो आती थी, पर उसका रूप चमक उठा था, इसमें सन्देह न था। उसने आइने में अपनी सूरत देखी, तो उसकी आँखें जगमगा उठीं, मानो किसी वियोगिनी को अपने प्रियतम का सवाद मिला हो। मन में गुदगुदी होने लगी। वह इतनी रूपवती है, उसे इसकी कल्पना भी न थी।

कहीं केशव इस रूप में उसे देख लेते, यह आकांक्षा उसके मन में उदय हुई, पर कहे कैसे ? कुछ देर के बाद लज्जा से सिर झुकाकर बोली—"केशव मुझे इस रूप में देखकर बहुत हँसेंगे।"

सुभद्रा—"हँसेंगे नहीं, बलैया लेंगे, आँखें खुल जायँगी। तुम आज इसी रूप में उनके पास जाना।"

युवती ने चकित होकर कहा—"सच ! आप इसकी अनुमति देती हैं ?"

सुभद्रा ने कहा—"बड़े हर्ष से ।"

"तुम्हें सन्देह न होगा ?"

"बिलकुल नहीं ।"

"और जो मैं दो-चार दिन पहने रहूँ ?"

"तुम दो-चार महीने पहने रहो । आखिर, यहाँ पड़े ही तो हैं ।"

"तुम भी मेरे साथ चलो ।"

"नहीं, मुझे अवकाश नहीं है ।"

"अच्छा, तो मेरे घर का पता नोट कर लो ।"

"हाँ, लिख दो, शायद कभी आऊँ ।"

एक क्षण में युवती यहाँ से चली गई । सुभद्रा अपनी खिड़की पर उसे इस भाँति प्रसन्न-मुख खड़ी देख रही थी, मानो उसकी छोटी बहन हो । ईर्ष्या या द्वेष का लेश भी उसके मन में न था ।

मुश्किल से एक घण्टा गुजरा होगा कि युवती लौटकर बोली—"सुभद्रा ! क्षमा करना, मैं तुम्हारा समय बहुत खराब कर रही हूँ । केशव बाहर खड़े हैं । बुला लूँ ?"

एक क्षण, केवल एक क्षण के लिए, सुभद्रा कुछ घबड़ा गई । उसने जल्दी से उठकर मेज़ पर पड़ी हुई चीज़ें इधर-उधर हटा दीं, कपड़े क़रीने से रख दिए, अपने उलझे हुए बाल सँभाल लिये, फिर उदासीन भाव से मुसकिराकर बोली—"उन्हें तुमने क्यों कष्ट दिया, जाओ, बुला लो ।"

एक मिनट में केशव ने कमरे में क़दम रक्खा और चौंककर पीछे हट गए, मानो पाँव जल गया हो । मुँह से एक चीख निकल गई । सुभद्रा गंभीर, शांत, निश्चल अपनी जगह पर खड़ी रही । फिर हाथ बढ़ाकर बोली, मानो किसी अपरिचित व्यक्ति से बोल रही हो—"आइए मिस्टर केशव, मैं आपको ऐसी सुशीला, ऐसी सुन्दरी, ऐसी विदुषी रमणी पाने पर बधाई देती हूँ ।"

केशव के मुँह पर हवाइयाँ उड़ रही थीं । वह पथ-भ्रष्ट-सा बना खड़ा था । लज्जा और ग्लानि से उसके चेहरे पर एक रंग आता था, एक रंग जाता था । यह बात एक दिन होनेवाली थी अवश्य, पर इस तरह अचानक उसकी सुभद्रा से भेंट होगी, इसका उसे स्वप्न में भी गुमान न था । सुभद्रा से वह यह बात कैसे कहेगा, इसको

उसने खूब सोच लिया था, उसके आक्षेपों का उत्तर सोच लिया था, पत्र के शब्द तक मन में अङ्कित कर लिये थे। यह सारी तैयारियाँ धरी रह गईं और सुभद्रा से साक्षात् हो गया। सुभद्रा उसे देखकर ज़रा भी नहीं चौंकी, उसके मुख पर आश्चर्य, घबराहट या दुःख का एक चिह्न भी न दिखाई दिया। उसने उसी भाँति उससे बात की, मानो वह कोई अजनबी हो। यह यहाँ कब आई, कैसे आई, क्यों आई, कैसे गुज़र करती है यह और इसी तरह के असख्य प्रश्न पूछने के लिए केशव का चित्त चचल हो उठा। उसने सोचा था, सुभद्रा उसे धिक्कारेगी, विष खाने की धमकी देगी—निष्ठुर, निर्दयी और न-जाने क्या-क्या कहेगी। इन सब आपदाओं के लिए वह तैयार था, पर इस आकस्मिक मिलन, इस गर्वयुक्त उपेक्षा के लिए वह तैयार न था। वह प्रेम-व्रतधारिणी सुभद्रा इतनी कठोर, इतनी हृदय-शून्य हो गई है! अवश्य ही इसे सारी बातें पहले ही मालूम हो चुकी हैं। सबसे तीव्र आघात यह था कि इसने अपने सारे आभूषण इतनी उदारता से दे डाले और, कौन जाने वापस भी न लेना चाहती हो। वह परास्त और अप्रतिभ होकर एक कुर्सी पर बैठ गया। उत्तर में एक शब्द भी उसके मुख से न निकला।

युवती ने कृतज्ञता का भाव प्रकट करके कहा—"इनके पति इस समय जर्मनी में हैं।"

केशव ने आँखें फाड़कर देखा, पर कुछ बोल न सका।

युवती ने फिर कहा—"बेचारी सगीत के पाठ पढ़ाकर और कुछ कपड़े सीकर अपना निर्वाह करती है। वह महाशय यहाँ आ जाते, तो उन्हें उनके सौभाग्य पर बधाई देती।"

केशव इस पर भी कुछ न बोल सका, पर सुभद्रा ने मुसकिराकर कहा—"वह मुझसे रूठे हुए हैं, बधाई पाकर और भी झल्लाते।" युवती ने आश्चर्य से कहा—"तुम उन्हीं के प्रेम से यहाँ आई, अपना घर-बार छोड़ा, यहाँ मिहनत-मज़दूरी करके निर्वाह कर रही हो, फिर भी वह तुमसे रूठे हुए हैं? आश्चर्य!"

सुभद्रा ने उसी भाँति प्रसन्न-मुख से कहा—"पुरुष-प्रकृति ही आश्चर्य का विषय है, चाहे मि० केशव इसे स्वीकार न करें!"

युवती ने फिर केशव की ओर प्रेरणा-पूर्ण दृष्टि से देखा, लेकिन केशव उसी भाँति अप्रतिभ बैठा रहा। उसके हृदय पर यह नया आघात था। युवती ने उसे चुप देख-

कर उसकी तरफ़ से सफाई दी—केशव स्त्री और पुरुष, दोनों ही को समान अधिकार देना चाहते हैं।

केशव डूब रहा था, तिनके का सहारा पाकर उसकी हिम्मत बँध गई। बोला -"विवाह एक प्रकार का समझौता है। दोनो पक्षो को अधिकार है, जब चाहें, उसे तोड़ दें।"

युवती ने हामी भरी—सभ्य-समाज में यह आंदोलन बड़े ज़ोरों पर है।

सुभद्रा ने शका की—किसी समझौते को तोड़ने के लिये कारण भी तो होना चाहिए?

केशव ने भावों की लाठी का सहारा लेकर कहा—"जब इसका अनुभव हो जाय कि हम इस बधन से मुक्त होकर अधिक सुखी हो सकते हैं, तो यही कारण काफी है। स्त्री को यदि मालूम हो जाय कि वह दूसरे पुरुष के साथ"

सुभद्रा ने बात काटकर कहा—क्षमा कीजिए मि० केशव, मुझमें इतनी बुद्धि नहीं कि इस विषय पर आपसे बहस कर सकूँ। आदर्श समझौता वही है, जो जीवन-पर्यन्त रहे। मैं भारत की नहीं कहती। वहाँ तो स्त्री पुरुष की लौंडी है। मैं इगलैंड की कहती हूँ। यहाँ भी कितनी ही औरतों से मेरी बातचीत हुई है। वे तलाकों की बढती हुई सख्या को देखकर खुश नहीं होतीं। विवाह का सबसे ऊँचा आदर्श उसकी पवित्रता और स्थिरता है। पुरुषों ने सदैव इस आदर्श को तोड़ा है, स्त्रियों ने निबाहा है। अब पुरुषों का अन्याय स्त्रियों को किस ओर ले जायगा, नहीं कह सकती।

इस गभीर और सयत कथन ने विवाद का अत कर दिया। सुभद्रा ने चाय मँगवाई। तीनों आदमियों ने पी। केशव पूछना चाहता था, अभी आप यहाँ कितने दिनों रहेंगी, लेकिन न पूछ सका। वह यहाँ पद्रह मिनट और रहा, लेकिन विचारों में डूबा हुआ। चलते समय उससे न रहा गया। पूछ ही बैठा—"अभी आप यहाँ कितने दिन और रहेंगी?'

सुभद्रा ने ज़मीन की ओर ताकते हुए कहा—"कह नहीं सकती।"

"कोई ज़रूरत हो, तो मुझे याद कीजिएगा।"

"इस आश्वासन के लिए आपको धन्यवाद।"

केशव सारे दिन बेचैन रहा। सुभद्रा उसकी आँखो में फिरती रही। सुभद्रा

की बातें उसके कानों में गूँजती रहीं। अब उसे इसमें कोई सन्देह न था कि उसी के प्रेम में सुभद्रा यहाँ आई थी। सारी परिस्थिति उसकी समझ में आ गई थी। उस भीषण त्याग का अनुमान करके उसके रोएँ खड़े हो गए। यहाँ सुभद्रा ने क्या-क्या कष्ट झेले होंगे, कैसी-कैसी यातनाएँ सही होंगी, सब उसीके कारण। वह उसपर भार न बनना चाहती थी, इसीलिए तो उसने अपने आने की सूचना तक उसे न दी। अगर उसे पहले से मालूम होता कि सुभद्रा यहाँ आ गई है, तो कदाचित् उसे उस युवती की ओर इतना आकर्षण ही न होता। चौकीदार के सामने चोर को घर में घुसने का साहस नहीं होता। सुभद्रा को देखकर उसकी कर्तव्य-चेतना जाग्रत हो गई। उसके पैरों पर गिरकर उससे क्षमा माँगने के लिए उसका मन अधीर हो उठा। वह उसके मुँह से सारा वृत्तान्त सुनेगा। यह मौन उपेक्षा उसके लिए असह्य थी। दिन तो केशव ने किसी तरह काटा, लेकिन ज्योंही रात को दस बजे, वह सुभद्रा से मिलने चला। युवती ने पूछा—"कहाँ जाते हो?"

केशव ने बूट का लेस बाँधते हुए कहा—'ज़रा एक प्रोफेसर से मिलना है, इस वक्त आने का वादा कर चुका हूँ।'

"जल्द आना।"

'बहुत जल्द आऊँगा।"

केशव घर से निकला, तो उसके मन में कितनी ही विचार-तरंगें उठने लगीं। कहीं सुभद्रा मिलने से इनकार कर दे, तो? नहीं ऐसा नहीं हो सकता। वह इतनी अनुदार नहीं है। हाँ, यह हो सकता है कि वह अपने विषय में कुछ न कहे। उसे शांत करने के लिए उसने एक व्यथा की कल्पना कर डाली। ऐसा बीमार था कि बचने की आशा न थी। उर्मिला ने ऐसा तन्मय होकर उसकी सेवा-शुश्रुषा की कि उसे उससे प्रेम हो गया। व्यथा का सुभद्रा पर जो असर पड़ेगा, इसके विषय में केशव को कोई संदेह न था। परिस्थिति का बोध होने पर वह उसे क्षमा कर देगी। लेकिन इसका फल क्या होगा? क्या वह दोनों के साथ एक-सा प्रेम कर सकता है? सुभद्रा को देख लेने के बाद उर्मिला को शायद उसके साथ रहने में आपत्ति न हो। आपत्ति हो ही कैसे सकती है। उससे यह बात छिपी नहीं है। हाँ, यह देखना है कि सुभद्रा भी इसे स्वीकार करती है या नहीं। उसने जिस उपेक्षा का परिचय दिया है, उसे देखते हुए तो उसके मानने में संदेह ही जान पड़ता है। मगर वह उसे मनावेगा,

उसकी विनती करेगा, उसके पैरों पड़ेगा और अंत में उसे मनाकर ही छोड़ेगा। सुभद्रा के प्रेम और अनुराग का नया प्रमाण पाकर वह मानो एक कठोर निद्रा से जाग उठा था। उसे अब अनुभव हो रहा था कि सुभद्रा के लिए उसके हृदय में जो स्थान था, वह खाली पड़ा हुआ है। उर्मिला उस स्थान पर अपना आधिपत्य नहीं जमा सकती। अब उसे ज्ञान हुआ कि उर्मिला के प्रति उसका प्रेम केवल वह तृष्णा थी, जो स्वादयुक्त पदार्थों को देखकर ही उत्पन्न होती है। वह सच्ची क्षुधा न थी। अब फिर उसे सरल सामान्य भोजन की इच्छा हो रही थी। विलासिनी उर्मिला कभी इतना त्याग कर सकती है, इसमें उसे सन्देह था।

सुभद्रा के घर के निकट पहुँचकर केशव का मन कुछ कातर होने लगा। लेकिन उसने जी कड़ा करके ज़ीने पर क़दम रक्खा और एक क्षण मे सुभद्रा के द्वार पर पहुँचा लेकिन कमरे का द्वार बद था। अन्दर भी प्रकाश न था। अवश्य ही वह कहीं गई है, आती ही होगी। तब तक उसने बरामदे में टहलने का निश्चय किया।

सहसा मालकिन आती हुई दिखाई दी। केशव ने बढकर पूछा—"आप बता सकती हैं कि यह महिला कहाँ गई हैं ?"

मालकिन ने उसे सिर से पाँव तक देखकर कहा—"वह तो आज यहाँ से चली गईं।"

केशव ने हकबकाकर पूछा—"चली गईं! कहाँ चली गईं ?"

"यह तो मुझसे कुछ नहीं बताया।"

"कब गईं ?"

"वह तो दोपहर को ही चली गई।"

"अपना असबाब लेकर गईं ?"

"असबाब किसके लिए छोड़ जातीं ? हाँ एक छोटा सा पैकेट अपनी एक सहेली के लिए छोड़ गई हैं। उस पर मिसेज़ केशव लिखा हुआ है। मुझसे कहा था कि यदि वह आ जायँ, तो उन्हें दे देना, नहीं डाक से भेज देना।"

केशव को अपना हृदय इस तरह बैठता हुआ मालूम हुआ जैसे सूर्य का अस्त होता है। एक गहरी साँस लेकर बोला—

"आप मुझे वह पैकेट दिखा सकती हैं ? केशव मेरा ही नाम है।"

मालकिन ने मुसकिराकर कहा—मिसेज़ केशव को कोई आपत्ति तो न होगी ?

'तो फिर मैं उन्हें बुला लाऊँ ?"

"हाँ, उचित तो यही है।"

"बहुत दूर जाना पड़ेगा।"

केशव कुछ ठिठकता हुआ ज़ीने की ओर चला, तो मालकिन ने फिर कहा—मैं समझती हूँ, आप इसे लिये ही जाइए, व्यर्थ आप को क्यों दौड़ाऊँ। मगर कल मेरे पास एक रसीद भेज दीजिएगा। शायद उसकी जरूरत पड़े।

यह कहते हुए उसने एक छोटा-सा पैकेट लाकर केशव को दे दिया। केशव पैकेट लेकर इस तरह भागा, मानो कोई चोर भागा जा रहा हो। इस पैकेट में क्या है, यह जानने के लिए उसका हृदय व्याकुल हो रहा था। उसे इतना विलम्ब असह्य था कि अपने स्थान पर जाकर उसे खोले। समीप ही एक पार्क था। वहाँ जाकर उसने बिजली के प्रकाश में उस पैकेट को खोल डाला। उस समय उसके हाथ काँप रहे थे और हृदय इतने वेग से धड़क रहा था, मानो किसी बंधु की बीमारी के समाचार के बाद तार मिला हो।

पैकेट का खुलना था कि केशव की आँखो से आँसुओं की झड़ी लग गई। उसमें एक पीले रंग की साड़ी थी, एक छोटी-सी सेंदुर की डिबिया और एक केशव का फोटो-चित्र। साथ ही एक लिफाफा भी था। केशव ने उसे खोलकर पढ़ा। उसमें लिखा था—

"बहन, मैं जाती हूँ। यह मेरे सोहाग का शव है। इसे टेम्स नदी में विसर्जित कर देना। तुम्हीं लोगों के हाथों यह संस्कार भी हो जाय, तो अच्छा।

तुम्हारी सुभद्रा"

केशव मर्माहत-सा, पत्र हाथ में लिये वहीं घास पर लेट गया और फूट-फूटकर रोने लगा।

———

आत्म-सगीत

(१)

आधीरात थी। नदी का किनारा था। आकाश के तारे स्थिर थे और नदी में उनका प्रतिबिम्ब लहरों के साथ चचल। एक स्वर्गीय सङ्गीत की मनोहर और जीवन-दायिनी, प्राणपोषिणी ध्वनियाँ इस निस्तब्ध और तमोमय दृश्य पर इस प्रकार छा रही थीं—जैसे हृदय पर आशाएँ छाई रहती हैं, या मुखमण्डल पर शोक।

रानी मनोरमा ने आज गुरु-दीक्षा ली थी। दिन-भर दान और व्रत में व्यस्त रहने के बाद मीठी नींद की गोद मे सो रही थी। अकस्मात् उसकी आँखें खुलीं और ये मनोहर ध्वनियाँ कानों मे पहुँचीं। वह व्याकुल हो गई—जैसे दीपक को देखकर पतङ्ग, वह अधीर हो उठी - जैसे खांड़ की गन्ध पाकर चींटी। वह उठी और द्वार-पालों, चौकीदारों की दृष्टियाँ बचाती हुई राजमहल से बाहर निकल आई—जैसे वेदना-पूर्ण क्रन्दन सुनकर आँखों से आँसू निकल आते हैं।

सरिता-तट पर कँटीली झाड़ियाँ थीं। ऊँचे कगारे थे। भयानक जन्तु थे और उनकी डरावनी आवाज़ें।, शव थे और उनसे भी अधिक भयङ्कर उनकी कल्पना। मनोरमा कोमलता और सुकुमारता की मूर्ति थी। परन्तु उस मधुर सङ्गीत का आकर्षण उसे तन्मयता की अवस्था में खींचे लिये जाता था। उसे आपदाओं का ध्यान न था।

वह घण्टों चलती रही, यहाँ तक कि मार्ग में नदी ने उसका गति रोध किया।

(२)

मनोरमा ने विवश होकर इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई। किनारे पर एक नौका दिखाई दी। निकट जाकर बोली—माँझी, मैं उस पार जाऊँगी, इस मनोहर राग ने मुझे व्याकुल कर दिया है।

माँझी—रात को नाव नहीं खोल सकता। हवा तेज़ है, लहरें डरावनी। जान-जोखिम है।

मनोरमा—मैं रानी मनोरमा हूँ। नाव खोल दे, मुँहमाँगी मज़दूरी दूँगी।

माँझी—तब तो नाव किसी तरह नहीं खोल सकता। रानियों का इस नदी में निबाह नहीं।

मनोरमा - चौधरी, तेरे पाँव पड़ती हूँ। शीघ्र नाव खोल दे। मेरे प्राण उस ओर खिंचे चले जाते हैं।

माँझी—क्या इनाम मिलेगा?

मनोरमा - जो तू माँगे।

माँझी—आप ही कह दें, मैं गँवार क्या जानूँ, रानियों से क्या चीज़ माँगनी चाहिए। कहीं कोई ऐसी चीज़ न माँग बैठूँ, जो आपकी प्रतिष्ठा के विरुद्ध हो।

मनोरमा—मेरा यह हार अत्यंत मूल्यवान् है। मैं इसे खेवे में देती हूँ। मनोरमा ने गले से हार निकाला; उसकी चमक से माँझी का मुख-मंडल प्रकाशित हो गया—वह कठोर और काला मुख, जिस पर झुर्रियाँ पड़ी हुई थीं।

अचानक मनोरमा को ऐसा प्रतीत हुआ मानो संगीत की ध्वनि और निकट हो गई। कदाचित् कोई पूर्ण ज्ञानी पुरुष आत्मानंद के आवेश में उस सरिता-तट पर बैठा हुआ उस निस्तब्धनिशा को संगीत-पूर्ण कर रहा है। रानी का हृदय उछलने लगा। आह! कितना मनोमुग्धकर राग था! उसने अधीर होकर कहा—माँझी, अब देर न कर, नाव खोल, मैं एक क्षण भी धीरज नहीं कर सकती।

माँझी इस हार को लेकर मैं क्या करूँगा?

मनोरमा—सच्चे मोती हैं।

माँझी—यह और भी विपत्ति है। माँझिन गले में पहनकर पड़ोसिनों को दिखायेगी, वह सब डाह से जलेंगी, उसे गालियाँ देंगी। कोई चोर देखेगा, तो उसकी छाती पर साँप लोटने लगेगा। मेरी सुनसान झोपड़ी पर दिन-दहाड़े डाका पड़ जायगा। लोग चोरी का अपराध लगायेंगे। नहीं, मुझे यह हार न चाहिए।

मनोरमा—तो जो कुछ तू माँग, वही दूँगी। लेकिन देर न कर। मुझे अब धैर्य नहीं है। प्रतीक्षा करने की तनिक भी शक्ति नहीं है। इस राग की एक-एक तान मेरी आत्मा को तड़पा देती है।

माँझी—इससे अच्छी कोई चीज़ दीजिए।

मनोरमा—अरे निर्दयी! तू मुझे बातों मे लगाये रखना चाहता है। मैं जो देती

हूँ, वह लेता नहीं, स्वयं कुछ मांगता नहीं। तुझे क्या मालूम, मेरे हृदय की इस समय क्या दशा हो रही है। मैं इस आत्मिक पदार्थ पर अपना सर्वस्व न्योछावर कर सकती हूँ।

मांझी—और क्या दीजिएगा?

मनोरमा—मेरे पास इससे बहुमूल्य और कोई वस्तु नहीं है, लेकिन तू अभी नाव खोल दे, तो प्रतिज्ञा करती हूं कि तुझे अपना महल दे दूँगी; जिसे देखने के लिए कदाचित् तू भी कभी गया हो। विशुद्ध श्वेत पत्थर से बना है, भारत में इसकी तुलना नहीं। अब एक क्षण की भी देर न कर।

मांझी—(हँसकर) उस महल मे रहकर मुझे क्या आनन्द मिलेगा। उलटे मेरे भाई-बन्धु शत्रु हो जायँगे। इस नौका पर अँधेरी रात में भी मुझे भय नहीं लगता। आंधी चलती रहती है, और मैं इस पर पड़ा रहता हूँ। किंतु वह महल तो दिन ही में फाड़ खायगा। मेरे घर के आदमी तो उसके एक कोने में समा जायँगे। और आदमी कहाँ से लाऊँगा, मेरे नौकर-चाकर कहाँ? इतना माल-असबाब कहाँ? उसकी सफाई और मरम्मत कहाँ से कराऊँगा? उसकी फुलवारियाँ सूख जायँगी, उसकी क्यारियों में गीदड़ बोलेंगे और अटारियों पर कबूतर और अबाबीलें घोंसले बनायेंगी।

मनोरमा अचानक एक तन्मय अवस्था में उछल पड़ी। उसे प्रतीत हुआ कि संगीत निकटतर आ गया है। उसकी सुन्दरता और आनन्द अधिक प्रखर हो गया था—जैसे बत्ती उकसा देने से दीपक अधिक प्रकाशमान हो जाता है। पहले चित्ताकर्षक था, तो अब आवेशजनक हो गया था। मनोरमा ने व्याकुल होकर कहा—आह! तू फिर अपने मुँह से क्यों कुछ नहीं मांगता? अहा! कितना विरागजनक राग है, कितना विह्वल करनेवाला! मैं अब तनिक भी धीरज नहीं धर सकती। पानी उतार में जाने के लिए जितना व्याकुल होता है, श्वास हवा के लिए जितनी विकल होती है, गंध उड़ जाने के लिए जितनी उतावली होती है, मैं उस स्वर्गीय संगीत के लिए उतनी व्याकुल हूँ। उस संगीत में कोयल की-सी मस्ती है, पपीहे की-सी वेदना है, श्यामा की-सी विह्वलता है, इसमें झरनों का-सा ज़ोर है, और आंधी का-सा बल। इसमें वह सब कुछ है, जिससे विवेकाग्नि प्रज्वलित, जिससे आत्मा समाहित होती है, और अंतःकरण पवित्र होता है। मांझी, अब एक क्षण का विलंब मेरे लिए मृत्यु की यंत्रणा है।

शीघ्र नौका खोल। जिस सुमन की यह सुगंधि है, जिस दीपक की यह दीप्ति है, उस तक मुझे पहुँचा दे। मैं देख नहीं सकती, इस सगीत का रचयिता कहीं निकट ही बैठा हुआ है, बहुत निकट।

मांझी— आपका महल मेरे काम का नहीं है, मेरी झोपड़ी उससे कहीं सुहावनी है।

मनोरमा — हाय ! तो अब तुझे क्या दूँ ? यह सगीत नहीं है, यह इस सुविशाल क्षेत्र की पवित्रता है, यह समस्त सुमन-समूह का सौरभ है, समस्त मधुरताओं की माधुरी है, समस्त अवस्थाओं का सार है। नौका खोल। मैं जब तक जीऊँगी, तेरी सेवा करूँगी, तेरे लिए पानी भरूँगी, तेरी झोपड़ी बहारूँगी, हाँ, मैं तेरे मार्ग के कंकड़ चुनूँगी, तेरे झोपड़े को फूलों से सजाऊँगी, तेरी मांझिन के पैर मलूँगी। प्यारे मांझी, यदि मेरे पास सौ जानें होतीं, तो मैं इस सगीत के लिए अर्पण करती। ईश्वर के लिए मुझे निराश न कर। मेरे धैर्य का अन्तिम बिंदु शुष्क हो गया। अब इस चाह में दाह है, अब यह सिर तेरे चरणों में है।

यह कहते-कहते मनोरमा एक विक्षिप्त की अवस्था में मांझी के निकट जाकर उसके पैरों पर गिर पड़ी। उसे ऐसा प्रतीत हुआ, मानो वह सगीत आत्मा पर किसी प्रज्वलित प्रदीप की तरह ज्योति बरसाता हुआ मेरी ओर आ रहा है। उसके रोमाच हो आया। वह मस्त होकर झूमने लगी। ऐसा ज्ञात हुआ कि मैं हवा मे उड़ी जाता हूँ। उसे अपने पार्श्व-देश में तारे झिलमिलाते हुए दिखाई देते थे। उस पर एक आत्मविस्मृति का भावावेश छा गया और तब वही मस्ताना सगीत, वही मनोहर राग उसके मुँह से निकलने लगा। वही अमृत की बूँदें, उसके अधरों से टपकने लगीं। वह स्वय इस सगीत का स्रोत थी। नदी-पार से आनेवाली ध्वनियाँ, प्राणपोषिणी ध्वनियाँ उसीके मुँह से निकल रही थीं।

मनोरमा का मुख-मडल चन्द्रमा की तरह प्रकाशमान हो गया था, और आँखों से प्रेम की किरणें निकल रही थीं।

ऐक्ट्रेस

(१)

रगमच का परदा गिर गया । तारादेवी ने शकुतला का पार्ट खेलकर दर्शकों को मुग्ध कर दिया था । जिस वक्त वह शकुतला के रूप में राजा दुष्यत के सम्मुख खड़ी ग्लानि वेदना और तिरस्कार से उत्तेजित भावों को आग्नेय शब्दों में प्रकट कर रही थी, दर्शक-वृन्द शिष्टता के नियमों की उपेक्षा करके मच की ओर उन्मत्तों की भाँति दौड़ पड़े थे, और तारादेवी का यशोगान करने लगे थे । कितने ही तो स्टेज पर चढ गये और तारादेवी के चरणों पर गिर पड़े। सारा स्टेज फूलों से पट गया, आभूषणों की वर्षा होने लगी । यदि उसी क्षण मेनका का विमान नीचे आकर उसे उड़ा न ले जाता तो कदाचित् उस धक्कमधक्के में दस-पाँच आदमियों की जान पर बन जाती । मैनेजर ने तुरत आकर दर्शकों की गुण-ग्राहकता का धन्यवाद दिया और वादा किया कि दूसरे दिन फिर यही तमाशा होगा । तव लोगों का मोहोन्माद शांत हुआ । मगर एक युवक उस वक्त भी मच पर खड़ा रहा । लॉबा कद था, तेजस्वी मुद्रा, कुदन का सा रग, देवताओ का-सा स्वरूप, गठी हुई देह, मुख से एक ज्योति-सी प्रस्फुटित हो रही थी । कोई राजकुमार मालूम होता था ।

जव सारे दर्शक वाहर निकल गये, तो उसने मैनेजर से पूछा – क्या मैं तारादेवी से एक क्षण के लिए मिल सकता हूँ ?

मैनेजर ने उपेक्षा के भाव से कहा— हमारे यहाँ ऐसा नियम नहीं है ।

युवक ने फिर पूछा—क्या आप मेरा कोई पत्र उसके पास भेज सकते हैं ?

मैनेजर ने उसी उपेक्षा भाव से कहा—जी नहीं । क्षमा कीजिएगा । यह भी हमारे नियमो के विरुद्ध है ।

युवक ने और कुछ न कहा, निराश होकर स्टेज के नीचे उतर पड़ा और वाहर जाना ही चाहता था कि मैनेजर ने पूछा – ज़रा ठहर जाइए, आपका कार्ड ?

युवक ने जेब से कागज़ का एक टुकड़ा निकालकर कुछ लिखा और दे दिया।

मैनेजर ने पुर्ज़े को उड़ती हुई निगाह से देखा - कुँवर निर्मलकांत चौधरी ओ० बी० ई०। मैनेजर की कठोर मुद्रा कोमल हो गई। कुँवर निर्मलकांत शहर के सबसे बड़े रईस और ताल्लुक़दार, साहित्य के उज्ज्वल रत्न, सगीत के सिद्धहस्त आचार्य, उच्च कोटि के विद्वान्, आठ-दस लाख सालाना के नफेदार, जिनके दान से देश की कितनी ही संस्थाएँ चलती थीं, इस समय एक क्षुद्र प्रार्थी के रूप में खड़े थे। मैनेजर अपने उपेक्षा-भाव पर लज्जित हो गया। विनम्र शब्दों में बोला—क्षमा कीजिएगा, मुझसे बड़ा अपराध हुआ। मैं अभी तारादेवी के पास हुज़ूर का कार्ड लिये जाता हूँ।

कुँवर साहब ने उसे रुकने का इशारा करके कहा—नहीं, अब रहने ही दीजिए, मैं कल पाँच बजे आऊँगा। इस वक्त तारादेवी को कष्ट होगा। यह उनके विश्राम का समय है।

मैनेजर—मुझे विश्वास है कि वह आपकी खातिर से इतना कष्ट सहर्ष सह लेंगी, मैं एक मिनट मे आता हूँ।

किंतु कुँवर साहब अपना परिचय देने के बाद अब अपनी आतुरता पर सयम का परदा डालने के लिए विवश थे। मैनेजर की सज्जनता का धन्यवाद दिया और कल आने का वादा करके चले गये।

(२)

तारा एक साफ़-सुथरे और सजे हुए कमरे मे मेज़ के सामने किसी विचार में मग्न बैठी थी। रात का वह दृश्य उसकी आँखों के सामने नाच रहा था। ऐसे दिन जीवन में क्या बार-बार आते हैं! कितने मनुष्य उसके दर्शनों के लिए विकल हो रहे थे! सब एक दूसरे पर फटे पड़ते थे। कितनों को उसने पैरों से ठुकरा दिया था—हाँ, ठुकरा दिया था। मगर उस समूह में केवल एक दिव्य मूर्ति अविचलित रूप से खड़ी थी। उसकी आँखों मे कितना गम्भीर अनुराग था, कितना दृढ़ संकल्प! ऐसा जान पड़ता था, मानो उसके दोनों नेत्र उसके हृदय में चुभे जा रहे हैं। आज फिर उस पुरुष के दर्शन होंगे या नहीं, कौन जानता है। लेकिन यदि आज उनके दर्शन हुए, तो तारा उनसे एक बार बातचीत किये बिना न जाने देगी।

यह सोचते हुए उसने आइने की ओर देखा, कमल का फूल-सा खिला था। कौन कह सकता था कि यह नव-विकसित पुष्प ३५ वसंतों की बहार देख चुका है। वह कांति,

वह कोमलता, वह चपलता, वह माधुर्य किसी नवयौवना को लज्जित कर सकता था। तारा एक बार फिर हृदय में प्रेम का दीपक जला बैठी। आज से बीस साल पहले एक बार उसको प्रेम का कटु अनुभव हुआ था। तबसे वह एक प्रकार का वैधव्य जीवन व्यतीत करती रही। कितने प्रेमियों ने अपना हृदय उसकी भेंट करना चाहा था, पर उसने किसी की ओर आँख उठाकर भी न देखा था। उसे उनके प्रेम में कपट की गंध आती थी। मगर आह! आज उसका संयम उसके हाथ से निकल गया। एक बार फिर आज उसे हृदय में उसी मधुर वेदना का अनुभव हुआ, जो बीस साल पहले हुआ था। एक पुरुष का सौम्य स्वरूप उसकी आँखों में बस गया, हृदय-पट पर खिंच गया। उसे वह किसी तरह भूल न सकती थी। उसी पुरुष को उसने मोटर पर जाते देखा होता, तो कदाचित् उधर ध्यान भी न करती। पर उसे अपने सम्मुख प्रेम का उपहार हाथ में लिये देखकर वह स्थिर न रह सकी।

सहसा दाई ने आकर कहा—बाईजी, रात की सब चीज़ें रखी हुई हैं, कहिए तो लाऊँ?

तारा ने कहा—नहीं, मेरे पास कोई चीज लाने की ज़रूरत नहीं; मगर ठहरो, क्या-क्या चीज़ें हैं?

"एक ढेर-का-ढेर तो लगा है बाईजी, कहाँ तक गिनाऊँ—अशर्फियाँ हैं, ब्रूचेज़, बाल के पिन, बटन, लाकेट, अँगूठियाँ सभी तो हैं। एक छोटे-से डिब्बे में एक सुन्दर हार है। मैंने आज तक वैसा हार नहीं देखा। सब सन्दूक में रख दिया है।"

"अच्छा, वह सन्दूक मेरे पास ला।" दाई ने सन्दूक लाकर मेज़ पर रख दिया। उधर एक लडके ने एक पत्र लाकर तारा को दिया। तारा ने पत्र को उत्सुक नेत्रों से देखा—कुँवर निर्मलकान्त ओ० बी० ई०। लड़के से पूछा—यह पत्र किसने दिया? वह तो नहीं, जो रेशमी साफा बाँधे हुए थे?

लड़के ने केवल इतना कहा—मैनेजर साहब ने दिया है। और लपका हुआ बाहर चला गया।

सन्दूक में सबसे पहले डिब्बा नज़र आया। तारा ने उसे खोला तो सच्चे मोतियों का सुन्दर हार था। डिब्बे में एक तरफ एक कार्ड भी था। तारा ने लपककर उसे निकाल लिया और पढ़ा—कुँवर निर्मलकान्त …। कार्ड उसके हाथ से छूटकर गिर पड़ा। वह झपटकर कुरसी से उठी और बड़े वेग से कई कमरों और बरामदों को पार

करती मैनेजर के सामने आकर खड़ी हो गई। मैनेजर ने खड़े होकर उसका स्वागत किया और बोला—मैं रात की सफलता पर आपको बधाई देता हूँ।

तारा ने खड़े-खड़े पूछा—कुँवर निर्मलकान्त क्या बाहर हैं? लड़का पत्र देकर भाग गया। मैं उससे कुछ पूछ न सकी।

"कुँवर साहब का रुक्का तो रात ही तुम्हारे चले आने के बाद मिला था।"

"तो आपने उसी वक्त मेरे पास क्यों न भेज दिया?"

मैनेजर ने दबी ज़बान से कहा—मैंने समझा, तुम आराम कर रही होगी, कष्ट देना उचित न समझा। और, भाई साफ बात यह है कि मैं डर रहा था, कहीं कुँवर साहब को तुमसे मिलाकर तुम्हें खो न बैठूँ। अगर मैं औरत होता, तो उसी वक्त उनके पीछे हो लेता। ऐसा देवरूप पुरुष मैंने आज तक नहीं देखा। वही जो रेशमी साफा बाँधे खड़े थे तुम्हारे सामने। तुमने भी तो देखा था।

तारा ने मानो अर्धनिद्रा की दशा में कहा—हाँ, देखा तो था—क्या वह फिर आयेंगे?

"हाँ, आज पाँच बजे शाम को। बड़े विद्वान् आदमी हैं, और इस शहर के सबसे बड़े रईस।"

"आज मैं रिहर्सल में न आऊँगी", यह कहती हुई तारा वहाँ से चली गई।

(३)

कुँवर साहब आ रहे होंगे। तारा आइने के सामने बैठी है और दाई उसका शृङ्गार कर रही है। शृङ्गार भी इस ज़माने में एक विद्या है। पहले परिपाटी के अनुसार ही शृङ्गार किया जाता था। कवियों, चित्रकारों और रसिकों ने शृङ्गार की मर्यादा-सी बाँध दी थी। आँखों के लिए काजल लाज़मी था, हाथों के लिए मेंहदी, पाँवों के लिए महावर। एक-एक अङ्ग एक एक आभूषण के लिए निर्दिष्ट था। आज वह परिपाटी नहीं रही। आज प्रत्येक रमणी अपनी सुरुचि, सुबुद्धि और तुलनात्मक भाव से शृङ्गार करती है। उसका सौंदर्य किस उपाय से आकर्षकता की सीमा पर पहुँच सकता है, यही उसका आदर्श होता है। तारा इस कला में निपुण थी। वह पन्द्रह साल से इस कम्पनी में थी और यह समस्त जीवन उसने पुरुषों के हृदय से खेलने ही में व्यतीत किया था। किस चितवन से, किस मुसकान से, किस अँगड़ाई से, किस तरह केशों को बिखेर देने से दिलों का क़त्लेआम हो जाता है, इस कला में कौन उससे

बढ़कर हो सकता था। आज उसने चुन-चुनकर आज़माये हुए तीर तरकस से निकाले, और जब अपने अस्त्रों से सजकर वह दीवानखाने में आई, तो जान पड़ा, मानो संसार का सारा माधुर्य उसकी बलाएँ ले रहा है। वह मेज़ के पास खड़ी कुँवर साहब का कार्ड देख रही थी, पर उसके कान मोटर की आवाज़ की ओर लगे हुए थे। वह चाहती थी कि कुँवर साहब इसी वक्त आ जायँ और उसे इसी अन्दाज़ से खड़े देखें। इसी अन्दाज से वह उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गों की पूर्ण छवि देख सकते थे। उसने अपनी शृङ्गार-कला से काल पर विजय पा ली थी। कौन कह सकता था कि यह चंचल नव-यौवना उस अवस्था को पहुँच चुकी है। जब हृदय को शान्ति की इच्छा होती है, वह किसी आश्रय के लिए आतुर हो उठता है, और उसका अभिमान नम्रता के आगे सिर झुका देता है।

तारादेवी को बहुत इन्तज़ार न करना पड़ा। कुँवर साहब शायद मिलने के लिए उससे भी अधिक उत्सुक थे। दस ही मिनट बाद उनकी मोटर की आवाज़ आई। तारा सँभल गई। एक क्षण में कुँवर साहब ने कमरे में प्रवेश किया। तारा शिष्टाचार के लिए हाथ मिलाना भी भूल गई। प्रौढ़ावस्था में भी प्रेम की उद्विग्नता और असावधानी कुछ कम नहीं होती। वह किसी सलज्जा युवती की भाँति सिर झुकाये खड़ी रही।

कुँवर साहब की निगाह आते ही उसकी गर्दन पर पड़ी। वह मोतियों का हार, जो उन्होंने रात भेंट की थी, वहाँ चमक रहा था। कुँवर साहब को इतना आनन्द और कभी न हुआ था। उन्हें एक क्षण के लिए ऐसा जान पड़ा, मानो उनके जीवन की सारी अभिलाषा पूरी हो गई। बोले—मैंने आपको आज इतने सबेरे कष्ट दिया, क्षमा कीजिएगा। यह तो आपके आराम का समय होगा? तारा ने सिर से खिसकती हुई साड़ी को सँभालकर कहा—इससे ज़्यादा आराम और क्या हो सकता था कि आपके दर्शन हुए। मैं इस उपहार के लिए आपको मनो धन्यवाद देती हूँ। अब तो कभी-कभी मुलाक़ात होती रहेगी?

निर्मलकान्त ने मुसकिराकर कहा—कभी-कभी नहीं, रोज़। आप चाहे मुझसे मिलना पसन्द न करें; पर एक बार इस ड्योढ़ी पर सिर को झुका ही जाऊँगा। तारा ने भी मुसकिराकर उत्तर दिया—उसी वक्त तक कि मनोरञ्जन की कोई नयी वस्तु नज़र न आ जाय! क्यों?

मेरे लिए यह मनोरञ्जन का विषय नहीं, ज़िन्दगी और मौत का सवाल है। हाँ, तुम इसे विनोद समझ सकती हो, मगर कोई परवा नहीं। तुम्हारे मनोरञ्जन के लिए यदि मेरे प्राण भी निकल जायँ, तो मैं अपना जीवन सफल समझूँगा।

दोनों तरफ से इस प्रीति को निभाने के वादे हुए, फिर दोनों ने नाश्ता किया और कल भोज का न्योता देकर कुँवर साहब बिदा हुए।

(४)

एक महीना गुज़र गया, कुँवर साहब दिन में कई-कई बार आते। उन्हें एक क्षण का वियोग भी असह्य था। कभी दोनों बजरे पर दरिया की सैर करते, कभी हरी-हरी घास पर पार्कों में बैठे बातें करते, कभी गाना-बजाना होता, नित्य नये प्रोग्राम बनते थे। सारे शहर में मशहूर था कि ताराबाई ने कुँवर साहब को फाँस लिया और दोनों हाथों से सम्पत्ति लूट रही है। पर तारा के लिए कुँवर साहब का प्रेम ही एक ऐसी सम्पत्ति थी, जिसके सामने दुनिया-भर की दौलत हेच थी। उन्हें अपने सामने देख-कर उसे किसी वस्तु की इच्छा न होती थी।

मगर एक महीने तक इस प्रेम के बाज़ार में घूमने पर भी तारा को वह वस्तु न मिली, जिसके लिए उसकी आत्मा लोलुप हो रही थी। वह कुँवर साहब से प्रेम की, अपार और अतुल प्रेम की, सच्चे और निष्कपट प्रेम की बातें रोज़ सुनती थी; पर उसमें "विवाह" का शब्द न आने पाता था, मानो प्यासे को बाज़ार में पानी छोड़कर और सब कुछ मिलता हो। ऐसे प्यासे को पानी के सिवा और किस चीज़ से तृप्ति हो सकती है? प्यास बुझने के बाद सम्भव है और चीज़ों की तरफ़ उसकी रुचि हो, पर प्यासे के लिए तो पानी सबसे मूल्यवान् पदार्थ है। वह जानती थी कुँवर साहब उसके इशारे पर प्राण तक दे देंगे, लेकिन विवाह की बात क्यों उनकी ज़बान से नहीं निकलती? क्या इस विषय का कोई पत्र लिखकर अपना आशय कह देना असम्भव था। फिर क्या वह उसे केवल विनोद की वस्तु बनाकर रखना चाहते हैं! यह अपमान उससे न सहा जायगा। कुँवर के एक इशारे पर वह आग में कूद सकती थी, पर यह अपमान उसके लिए असह्य था। किसी शौक़ीन रईस के साथ वह इससे कुछ दिन पहले शायद एक-दो महीने रह जाती और उसे नोच-खसोटकर अपनी राह लेती किन्तु प्रेम का बदला प्रेम है, कुँवर साहब के साथ वह यह निर्लज्ज जीवन न व्यतीत कर सकती थी।

उधर कुँवर साहब के भाईबन्द भी ग़ाफ़िल न थे, वे किसी भाँति उन्हें ताराबाई के पंजे से छुड़ाना चाहते थे। कहीं कुँवर साहब का विवाह ठीक कर देना ही एक ऐसा उपाय था, जिससे सफल होने की आशा थी और यही उन लोगों ने किया। उन्हें यह भय तो न था कि कुँवर साहब इस ऐक्ट्रेस से विवाह करेंगे ; हाँ, यह भय अवश्य था कि कहीं रियासत का कोई हिस्सा उसके नाम कर दें या उसके आनेवाले बच्चों को रियासत का मालिक बना दें। कुँवर साहब पर चारों ओर से दबाव पड़ने लगे। यहाँ तक कि योरपियन अधिकारियों ने भी उन्हें विवाह कर लेने की सलाह दी। उसी दिन सन्ध्या समय कुँवर साहब ने ताराबाई के पास जाकर कहा—तारा, देखो, तुमसे एक बात कहता हूँ, इनकार न करना। तारा का हृदय उछलने लगा। बोली—कहिए, क्या बात है? ऐसी कौन वस्तु है, जिसे आपकी भेंट करके मैं अपने को धन्य न समझूँ।

बात मुँह से निकलने की देर थी। तारा ने स्वीकार कर लिया और हर्षोन्माद की दशा में रोती हुई कुँवर साहब के पैरों पर गिर पड़ी।

(५)

एक क्षण के बाद तारा ने कहा मैं तो निराश हो चली थी। आपने बड़ी लम्बी परीक्षा ली।

कुँवर साहब ने ज़बान दाँतों तले दबाई, मानो कोई अनुचित बात सुन ली हो।

"यह बात नहीं हैं तारा, अगर मुझे विश्वास होता कि तुम मेरी याचना स्वीकार कर लोगी, तो कदाचित् पहले ही दिन मैंने भिक्षा के लिए हाथ फैलाया होता, पर मैं अपने को तुम्हारे योग्य नहीं पाता था। तुम सद्गुणों की खानि हो, और मैं ....। मैं जो कुछ हूँ, वह तुम जानती ही हो। मैंने निश्चय कर लिया था कि उम्र-भर तुम्हारी उपासना करता रहूँगा। शायद कभी प्रसन्न होकर तुम मुझे बिना माँगे ही वर-दान दे दो। बस, यही मेरी अभिलाषा थी। मुझमें अगर कोई गुण है तो यही कि मैं तुमसे प्रेम करता हूँ, जब तुम साहित्य या संगीत या धर्म पर अपने विचार प्रकट करने लगती हो, तो मैं दंग रह जाता हूँ, और अपनी क्षुद्रता पर लज्जित हो जाता हूँ, तुम मेरे लिए सांसारिक नहीं, स्वर्गीय हो। मुझे आश्चर्य यही है कि इस समय मैं मारे खुशी के पागल क्यों नहीं हो जाता।"

कुँवर साहब देर तक अपने दिल की बातें कहते रहे। उनकी वाणी कभी इतनी प्रगल्भ न हुई थी।

तारा सिर झुकाये सुनती थी, पर आनंद की जगह उसके मुख पर एक प्रकार का क्षोभ, लज्जा से मिला हुआ, अंकित हो रहा था। यह पुरुष इतना सरल-हृदय, इतना निष्कपट है! इतना विनीत, इतना उदार!

सहसा कुँवर साहब ने पूछा—तो मेरे भाग्य किस दिन उदय होंगे, तारा? दया करके बहुत दिनों के लिए न टालना।

तारा ने कुँवर साहब की सरलता से परास्त होकर चिंतित स्वर में कहा—क़ानून को क्या कीजिएगा? कुँवर ने तत्परता से उत्तर दिया इस विषय में तुम निश्चिंत रहो तारा, मैंने वकीलों से पूछ लिया है। एक क़ानून ऐसा है, जिसके अनुसार हम और तुम एक प्रेम-सूत्र में बँध सकते हैं। उसे सिविल मैरिज कहते हैं। बस, आज ही के दिन वह शुभ मुहूर्त आयेगा, क्यों?

तारा सिर झुकाये रही। कुछ बोल न सकी।

"मैं प्रातःकाल आ जाऊँगा। तैयार रहना।"

तारा सिर झुकाये ही रही। मुँह से एक शब्द भी न निकला।

कुँवर साहब चले गये, पर तारा वहीं, मूर्ति की भाँति, बैठी रही। पुरुषों के हृदय से क्रीड़ा करनेवाली चतुर नारी क्यों इतनी विमूढ़ हो गई है!

(५)

विवाह का एक दिन और बाक़ी है। तारा को चारों ओर से बधाइयाँ मिल रही हैं। थिएटर के सभी स्त्री-पुरुषों ने अपने सामर्थ्य के अनुसार उसे अच्छे-अच्छे उपहार दिये हैं, कुँवर साहब ने भी आभूषणों से सजा हुआ एक सिंगारदान भेंट किया है, उनके दो-चार अंतरंग मित्रों ने भाँति-भाँति के सौगात भेजे हैं, पर तारा के सुन्दर मुख पर हर्ष की रेखा भी नहीं नज़र आती। वह क्षुब्ध और उदास है। उसके मन में चार दिनों से निरंतर यही प्रश्न उठ रहा है—क्या कुँवर के साथ वह विश्वासघात करे? जिस प्रेम के देवता ने उसके लिए अपने कुल-मर्यादा को तिलांजलि दे दी, अपने बंधुजनों से नाता तोड़ा, जिसका हृदय हिमकण के समान निष्कलंक है, पर्वत के समान विशाल, उसीसे वह कपट करे! नहीं, वह इतनी नीचता नहीं कर सकती, अपने जीवन में उसने कितने ही युवकों से प्रेम का अभिनय किया था, कितने ही

प्रेम के मतवालों को वह सब्ज बाग दिखा चुकी थी, पर कभी उसके मन में ऐसी दुविधा न हुई थी, कभी उसके हृदय ने उसका तिरस्कार न किया था। क्या इसका कारण इसके सिवा कुछ और था कि ऐसा अनुराग उसे और कहीं न मिला था।

क्या वह कुँवर साहब का जीवन सुखी बना सकती है? हाँ अवश्य। इस विषय में उसे लेशमात्र भी सदेह नहीं था। भक्ति के लिए ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो असाध्य हो; पर क्या वह प्रकृति को धोखा दे सकती है? ढलते हुए सूर्य में मध्याह्न का-सा प्रकाश हो सकता है? असंभव। वह स्फूर्ति, वह चपलता, वह विनोद, वह सरल छवि, वह तल्लीनता, वह त्याग, वह आत्मविश्वास वह कहाँ से लायेगी, जिसके सम्मिश्रण को यौवन कहते हैं? नहीं, वह कितना ही चाहे, पर कुँवर साहब के जीवन को सुखी नहीं बना सकती। बूढ़ा बैल कभी जवान बछड़े के साथ नहीं चल सकता!

आह! उसने यह नौबत ही क्यों आने दी! उसने क्यों कृत्रिम साधनों से, बनावटी सिंगार से कुँवर को धोखे में डाला? अब इतना सब कुछ हो जाने पर वह किस मुँह से कहेगी कि मैं रँगी हुई गुड़िया हूँ, जवानी मुझसे कबकी बिदा हो चुकी, अब केवल उसका पद-चिह्न रह गया है।

रात के बारह बज गये थे। तारा मेज़ के सामने इन्हीं चिंताओं में मग्न बैठी हुई थी। मेज़ पर उपहारों के ढेर लगे हुए थे, पर वह किसी चीज़ की ओर आँख उठाकर भी न देखती थी। अभी चार दिन पहले वह इन्हीं चीज़ों पर प्राण देती थी, उसे हमेशा ऐसी चीज़ों की तलाश रहती थी, जो काल के चिह्नों को मिटा सकें, जो उसके झिलमिलाते हुए यौवन-दीपक को प्रज्वलित कर सकें, पर अब उन्हीं चीज़ों से उसे घृणा हो रही है। प्रेम सत्य है—और सत्य और मिथ्या, दोनों एक साथ नहीं रह सकते।

तारा ने सोचा—क्यों न यहाँ से कहीं भाग जाय? किसी ऐसी जगह चली जाय, जहाँ कोई उसे जानता भी न हो। कुछ दिनों के बाद जब कुँवर का विवाह हो जाय, तो वह फिर आकर उनसे मिले और यह सारा वृत्तात उनसे कह सुनाये। इस समय कुँवर पर वज्राघात-सा होगा—हाय! न-जाने उनकी क्या दशा होगी; पर उसके लिए इसके सिवा और कोई मार्ग नहीं है। अब उसके दिन रो-रोकर कटेंगे, लेकिन उसे कितना ही दु.ख क्यों न हो, वह अपने प्रियतम के साथ छल नहीं कर

सकती। उसके लिए इस स्वर्गीय प्रेम की स्मृति, इसकी वेदना ही बहुत है। इससे अधिक उसका अधिकार नहीं।

दाई ने आकर कहा—बाईजी, चलिए, कुछ थोड़ा-सा भोजन कर लीजिए, अब तो बारह बज गये।

तारा ने कहा—नहीं, ज़रा भी भूख नहीं है। तुम जाकर खा लो।

दाई—देखिए, मुझे भूल न जाइएगा। मैं भी आपके साथ चलूँगी।

तारा—अच्छे-अच्छे कपड़े बनवा रखे हैं न?

दाई अरे बाईजी, मुझे अच्छे कपड़े लेकर क्या करना है। आप अपना कोई उतारा दे दीजिएगा।

दाई चली गई। तारा ने घड़ी की ओर देखा। सचमुच बारह बज गये थे। केवल छ: घंटे और हैं। प्रातःकाल कुँवर साहब उसे विवाह-मंदिर में ले जाने के लिए आ जायँगे। हाय! भगवान्, जिस पदार्थ से तुमने इतने दिनों उसे वंचित रखा, वह आज क्यों सामने लाये? क्या यह भी तुम्हारी क्रीड़ा है!

तारा ने एक सफेद साड़ी पहन ली। सारे आभूषण उतारकर रख दिये। गर्म पानी मौजूद था। साबुन और पानी से मुँह धोया और आइने के सम्मुख जाकर खड़ी हो गई—कहाँ थी वह छवि, वह ज्योति, जो आँखों को लुभा लेती थी! रूप वही था, पर वह कांति कहाँ? क्या अब भी वह यौवन का स्वाँग भर सकती है?

तारा को अब वहाँ एक क्षण और रहना कठिन हो गया। मेज़ पर फैले हुए आभूषण और विलास की सामग्रियाँ मानो उसे काटने दौड़ने लगीं। यह कृत्रिम जीवन असह्य हो उठा, खस की टट्टियों और बिजली के पंखों से सजा हुआ शीतल भवन उसे भट्ठी के समान तपाने लगा।

उसने सोचा—कहाँ भाग कर जाऊँ। रेल से भागती हूँ, तो भागने न पाऊँगी, सबेरे ही कुँवर साहब के आदमी छूटेंगे और चारों तरफ मेरी तलाश होने लगेगी। वह ऐसे रास्ते से जायगी, जिधर किसी का खयाल भी न जाय।

तारा का हृदय इस समय गर्व से छलका पड़ता था। वह दुःखी न थी, निराश न थी, वह फिर कुँवर साहब से मिलेगी, किंतु वह निस्स्वार्थ संयोग होगा। वह प्रेम के बताये हुए कर्तव्य-मार्ग पर चल रही है, फिर दुःख क्यों हो और निराशा क्यों हो?

सहसा उसे खयाल आया—ऐसा न हो, कुँवर साहब उसे वहाँ न पाकर शोक-

विह्वलता की दशा में कोई अनर्थ कर बैठें। इस कल्पना से उसके रोंगटे खड़े हो गये। एक क्षण के लिए उसका मन कातर हो उठा। फिर वह मेज़ पर जा बैठी, और यह पत्र लिखने लगी—

"प्रियतम, मुझे क्षमा करना। मैं अपने को तुम्हारी दासी बनने के योग्य नहीं पाती। तुमने मुझे प्रेम का वह स्वरूप दिखा दिया, जिसकी इस जीवन में मैं आशा न कर सकती थी। मेरे लिए इतना ही बहुत है। मैं जब तक जीऊँगी, तुम्हारे प्रेम में मग्न रहूँगी। मुझे एसा जान पड़ रहा है कि प्रेम की स्मृति में, प्रेम के भोग से कहीं अधिक माधुर्य और आनद है। मैं फिर आऊँगी, फिर तुम्हारे दर्शन करूँगी, लेकिन उसी दशा में, जब तुम विवाह कर लोगे। यही मेरे लौटने की शर्त है। मेरे प्राणों के प्राण, मुझसे नाराज़ न होना, ये आभूषण, जो तुमने मेरे लिए भेजे थे, अपनी ओर से नववधू के लिए छोड़े जाती हूँ। केवल वह मोतियों का हार, जो तुम्हारे प्रेम का पहला उपहार है, अपने साथ लिये जाती हूँ। तुमसे हाथ जोड़कर कहती हूँ, मेरी तलाश न करना, मैं तुम्हारी हूँ, और सदा तुम्हारी रहूँगी . ...।

तुम्हारी—

तारा"

यह पत्र लिखकर तारा ने मेज़ पर रख दिया, मोतियों का हार गले मे डाला और बाहर निकल आई। थिएटर हाल से सगीत की ध्वनि आ रही थी। एक क्षण के लिए उसके पैर बँध गये। पद्रह वर्षों का पुराना सबध आज टूटा जा रहा था। सहसा उसने मैनेजर को आते देखा। उसका कलेजा धक् से हो गया। वह बड़ी तेज़ी से लपककर दीवार की आड़ में खडी हो गई। ज्यों ही मैनेजर निकल गया, वह हाते के बाहर आई, और कुछ दूर गलियों में चलने के बाद उसने गगा का रास्ता पकड़ा।

गगा-तट पर सन्नाटा छाया हुआ था। दस-पाँच साधु-वैरागी धूनियों के सामने लेटे थे। दस-पाँच यात्री कबल ज़मीन पर बिछाये सो रहे थे। गगा किसी विशाल सर्प की भाँति रेंगती चल जाती थी। एक छोटी-सी नौका किनारे पर लगी हुई थी। मल्लाह नौका में बैठा हुआ था।

तारा ने मल्लाह को पुकारा—ओ माँझी, उस पार नाव ले चलेगा?

माँझी ने जवाब दिया—इतनी रात गये नाव न जाई।

मगर दूनी मज़दूरी की बात सुनकर उसने डाँडा उठाया और नाव को खोलता हुआ बोला सरकार, उस पार कहाँ जैहैं ?

"उस पार एक गाँव में जाना है।"

"मुदा इतनी रात गये कौनो सवारी-सिकारी न मिली।"

"कोई हर्ज नहीं, तुम मुझे उस पर पहुँचा दो।"

माँझी ने नाव खोल दी। तारा उस पार जा बैठी, और नौका मंद गति से चलने लगी, मानो जीव स्वप्न साम्राज्य में विचर रहा हो।

इसी समय एकादशी का चाँद, पृथ्वी के उस पार, अपनी उज्ज्वल नौका खेता हुआ निकला और व्योम-सागर को पार करने लगा।

ईश्वरीय न्याय

(१)

कानपुर ज़िले में पण्डित भृगुदत्त नामक एक बड़े ज़मींदार थे। मुंशी सत्यनारायण उनके कारिन्दा थे। वह बड़े स्वामिभक्त और सच्चरित्र मनुष्य थे। लाखों रुपये की तहसील और हज़ारों मन अनाज का लेन-देन उनके हाथ में था; पर कभी उनकी नीयत डाँवाडोल न होती। उनके सुप्रबन्ध से रियासत दिनों-दिन उन्नति करती जाती थी। ऐसे कर्तव्यपरायण सेवक का जितना सम्मान होना चाहिए, उससे कुछ अधिक ही होता था। दुःख-सुख के प्रत्येक अवसर पर पण्डितजी उनके साथ बड़ी उदारता से पेश आते। धीरे-धीरे मुंशीजी का विश्वास इतना बढा कि पण्डितजी ने हिसाब-किताब का समझना भी छोड़ दिया। सम्भव है, उनसे आजीवन इसी तरह निभ जाती, पर भावी प्रबल है। प्रयाग में कुम्भ लगा, तो पण्डितजी भी स्नान करने गये। वहाँ से लौटकर फिर वे घर न आये। मालूम नहीं किसी गढे में फिसल पड़े या कोई जल जन्तु उन्हें खींच ले गया, उनका फिर कुछ पता ही न चला अब मुंशी सत्यनारायण के अधिकार और भी बढे। एक हतभागिनी विधवा और दो छोटे छोटे बालकों के सिवा पण्डितजी के घर में और कोई न था। अन्त्येष्टि-क्रिया से निवृत्त होकर एक दिन शोकातुर पण्डिताइन ने उन्हें बुलाया और रोकर कहा—लाला, पण्डितजी हमें मझधार में छोड़कर सुरपुर को सिधार गये, अब यह नैया तुम्हीं पार लगाओगे तो लग सकती है। यह सब खेती तुम्हारी ही लगाई हुई है, इससे तुम्हारे ही ऊपर छोड़ती हूँ। ये तुम्हारे बच्चे हैं, इन्हे अपनाओ। जब तक मालिक जिये, तुम्हें अपना भाई समझते रहे। मुझे विश्वास है कि तुम उसी तरह इस भार को सँभाले रहोगे।

सत्यनारायण ने रोते हुए जवाब दिया—भाभी, भैया क्या उठ गये, मेरे भाग्य फूट गये, नहीं तो मुझे आदमी बना देते। मैं उन्हीं का नमक खाकर जिया हूँ और उन्हीं की चाकरी में मरूँगा। आप धीरज रखें। किसी प्रकार की चिन्ता न करें।

मैं जीते-जी आपकी सेवा से मुँह न मोड़ूँगा। आप केवल इतना कीजिएगा कि मैं जिस किसी की शिकायत करूँ, उसे डाँट दीजिएगा, नहीं तो ये लोग सिर चढ़ जायँगे।

(२)

इस घटना के बाद कई वर्षों तक मुंशीजी ने रियासत को सँभाला। वह अपने काम में बड़े कुशल थे। कभी एक कौड़ी का बल नहीं पड़ा। सारे ज़िले में उनका सम्मान होने लगा। लोग पण्डितजी को भूल सा गये। दरबारों और कमेटियों में वे सम्मिलित होते, जिले के अधिकारी उन्हीं को ज़मींदार समझते। अन्य रईसों में भी उनका आदर था, पर मान-वृद्धि महँगी वस्तु है और भानुकुँवरि, अन्य स्त्रियों के सदृश पैसे को खूब पकड़ती थी। वह मनुष्य की मनोवृत्तियों से परिचित न थी। पण्डितजी हमेशा लालाजी को इनाम-इकराम देते रहते थे। वे जानते थे कि ज्ञान के बाद ईमान का दूसरा स्तम्भ अपनी सुदशा है। इसके सिवा वे खुद कभी कागज़ों की जाँच कर लिया करते थे। नाममात्र ही की सही, पर इस निगरानी का डर जरूर बना रहता था। क्योंकि ईमान का सबसे बड़ा शत्रु अवसर है। भानुकुँवरि इन बातों को जानती न थी। अतएव अवसर तथा धनाभाव-जैसे प्रबल शत्रुओं के पंजे में पड़कर मुंशीजी का ईमान कैसे बेदाग बचता।

कानपुर शहर से मिला हुआ, ठीक गंगा के किनारे, एक बहुत आबाद और उपजाऊ गाँव था। पण्डितजी इस गाँव को लेकर नदी के किनारे पक्का घाट, मन्दिर, बाग, मकान आदि बनवाना चाहते थे, पर उनकी यह कामना सफल न हो सकी। संयोग से अब यह गाँव बिकने लगा। उनके ज़मींदार एक ठाकुर साहब थे। किसी फौजदारी के मामले में फँसे हुए थे। मुकदमा लड़ने के लिए रुपये की चाह थी। मुंशीजी ने कचहरी में यह समाचार सुना। चटपट मोल-तोल हुआ। दोनों तरफ गरज थी। सौदा पटने में देर न लगी, बैनामा लिखा गया। रजिस्ट्री हुई। रुपये मौजूद न थे, पर शहर में साख थी। एक महाजन के यहाँ से तीस हजार रुपये मँगवाये और ठाकुर साहब को नज़र किये गये। हाँ, काम-काज की आसानी के ख्याल से यह सब लिखा-पढ़ी मुंशीजी ने अपने ही नाम की, क्योंकि मालिक के लड़के अभी नाबालिग थे। उनके नाम से लेने में बहुत झंझट होती और विलम्ब होने से शिकार हाथ से निकल जाता। मुंशीजी बैनामा लिये असीम आनन्द में मग्न भानुकुँवरि के पास आये। पर्दा कराया

शुभ समाचार सुनाया। भानुकुँवरि ने सजल नेत्रों से उनको धन्यवाद दिया। पण्डितजी के नाम पर मन्दिर और घाट बनवाने का इरादा पक्का हो गया।

मुंशीजी दूसरे ही दिन उस गाँव में आये। असामी नज़राने लेकर नये स्वामी के स्वागत को हाजिर हुए। शहर के रईसों की दावत हुई। लोगों ने नावों पर बैठकर गंगा की खूब सैर की। मन्दिर आदि बनवाने के लिए आबादी से हटकर एक रमणीय स्थान चुना गया।

(३)

यद्यपि इस गाँव को अपने नाम से लेते समय मुंशीजी के मन में कपट का भाव न था, तथापि दो-चार दिन में ही उसका अंकुर जम गया और धीरे-धीरे बढ़ने लगा। मुंशीजी इस गाँव के आय-व्यय का हिसाब अलग रखते और अपनी स्वामिनी को उसका ब्योरा समझाने की जरूरत न समझते। भानुकुँवरि इन बातों में दखल देना उचित न समझती थी; पर दूसरे कारिन्दों से सब बातें सुन-सुनकर उसे शंका होती थी कि कहीं मुंशीजी दगा तो न देंगे। अपने मन का भाव मुंशीजी से छिपाती थी, इस खयाल से कि कहीं कारिन्दों ने उन्हें हानि पहुँचाने के लिए यह षड्यन्त्र न रचा हो।

इस तरह कई साल गुज़र गये। अब उस कपट के अंकुर ने वृक्ष का रूप धारण किया। भानुकुँवरि को मुंशीजी के उस भाव के लक्षण दिखाई देने लगे। उधर मुंशीजी के मन ने क़ानून से नीति पर विजय पाई, उन्होंने अपने मन में फैसला किया कि गाँव मेरा है। हाँ, मैं भानुकुँवरि का तीस हजार का ऋणी अवश्य हूँ। वे बहुत करेंगी तो अपने रुपये ले लेंगी और क्या कर सकती हैं? मगर दोनों तरफ यह आग अन्दर-ही-अन्दर सुलगती रही। मुंशीजी शस्त्र-सज्जित होकर आक्रमण के इन्तजार में थे और भानुकुँवरि इसके लिए अच्छा अवसर ढूँढ रही थी। एक दिन उसने साहस करके मुंशीजी को अन्दर बुलाया और कहा—लालाजी, 'बरगदा' के मन्दिर का काम कबसे लगवाइएगा? उसे लिये आठ साल हो गये, अब काम लग जाय, तो अच्छा हो। जिन्दगी का कौन ठिकाना, जो काम करना है, उसे कर ही डालना चाहिए।

इस ढंग से इस विषय को उठाकर भानुकुँवरि ने अपनी चतुराई का अच्छा परिचय दिया। मुंशीजी भी दिल में इसके कायल हो गये। जरा सोचकर बोले—इरादा तो मेरा कई बार हुआ; पर मौके की ज़मीन नहीं मिलती। गंगा-तट की ज़मीन असामियों के जोत में है और वे किसी तरह छोड़ने पर राज़ी नहीं।

भानुकुँवरि—यह बात तो आज मुझे मालूम हुई। आठ साल हुए, इस गाँव के विषय में आपने कभी भूलकर भी तो चर्चा नहीं की। मालूम नहीं, कितनी तहसील है, क्या मुनाफा है, कैसा गाँव है, कुछ सीर होती है या नहीं। जो कुछ करते हैं, आप ही करते हैं और करेंगे। पर मुझे भी तो मालूम होना चाहिए?

मुंशीजी सँभल बैठे। उन्हें मालूम हो गया कि इस चतुर स्त्री से बाजी ले जाना मुश्किल है। गाँव लेना ही है तो अब क्या डर। खुलकर बोले—आपको इससे कोई सरोकार न था, इसलिए मैंने व्यर्थ कष्ट देना मुनासिब न समझा।

भानकुँवरि के हृदय में कुठार-सा लगा। पर्दे से निकल आई और मुंशीजी की तरफ तेज आँखों से देखकर बोली, आप यह क्या कहते हैं! आपने गाँव मेरे लिए लिया था, या अपने लिये? रुपये मैंने दिए, या आपने? उसपर जो खर्च पड़ा, वह मेरा था या आपका? मेरी समझ में नहीं आता कि आप कैसी बातें करते है।

मुंशीजी ने सावधानी से जवाब दिया—यह तो आप जानती ही हैं कि गाँव हमारे नाम से बय हुआ है। रुपया जरूर आपका लगा, पर उसका मैं देनदार हूँ। रहा तहसील-वसूल का खर्च; यह सब मैंने अपने पास से किया है। उसका हिसाब-किताब, आय-व्यय सब रखता गया हूँ।

भानुकुँवरि ने क्रोध से काँपते हुए कहा—इस कपट का फल आपको अवश्य मिलेगा। आप इस निर्दयता से मेरे बच्चों का गला नहीं काट सकते। मुझे नहीं मालूम था कि आपने हृदय में छुरी छिपा रखी है, नहीं तो यह नौबत ही क्यों आती। खैर, अबसे मेरी रोकड़ और बही-खाता आप कुछ न छुएँ। मेरा जो कुछ होगा, ले लूँगी। जाइए, एकान्त में बैठ कर सोचिए। पाप से किसी का भला नहीं होता। तुम समझते होगे कि ये बालक अनाथ हैं, इनकी सम्पत्ति हजम कर लूँगा। इस भूल में न रहना। मैं तुम्हारे घर की ईंट तक बिकवा लूँगी!

यह कहकर भानुकुँवरि फिर पर्दे की आड़ में आ बैठी और रोने लगी। स्त्रियाँ क्रोध के बाद किसी-न-किसी बहाने रोया करती हैं। लाला साहब को कोई जवाब न सूझा। वहाँ से उठ आये और दफ्तर जाकर कागज उलट-पलट करने लगे, पर भानु-कुँवरि भी उनके पीछे-पीछे दफ्तर में पहुँची और डाँटकर बोली—मेरा कोई कागज मत छूना। नहीं तो बुरा होगा। तुम विषैले साँप हो, मैं तुम्हारा मुँह नहीं देखना चाहता।

मुंशीजी कागजों में कुछ काट-छाँट करना चाहते थे, पर विवश हो गये।

खज़ाने की कुञ्जी निकालकर फेंक दी, वही-खाते पटक दिये, किवाड़ धड़ाके से बन्द किये और हवा की तरह सन्न से निकल गये। कपट में हाथ तो डाला; पर कपट मन्त्र न जाना।

दूसरे कारिन्दों ने यह कैफ़ियत सुनी, तो फूले न समाये। मुंशीजी के सामने उनकी दाल न गलने पाती थी। भानुकुँवरि के पास आकर वे आग पर तेल छिड़कने लगे। सब लोग इस विषय में सहमत थे कि मुंशी सत्यनारायण ने विश्वास-घात किया है। मालिक का नमक उनकी हड्डियों से फूट-फूटकर निकलेगा।

दोनों ओर से मुक़दमेबाजी की तैयारियाँ होने लगीं। एक तरफ न्याय का शरीर था, दूसरी ओर न्याय की आत्मा। प्रकृति का पुरुष से लड़ने का साहस हुआ।

भानुकुँवरि ने लाला छक्कनलाल से पूछा—हमारा वकील कौन है? छक्कनलाल ने इधर-उधर झाँककर कहा—वकील तो सेठजी हैं, पर सत्यनारायण ने उन्हें पहले ही गाँठ रखा होगा। इस मुकदमे के लिए बड़े होशियार वकील की ज़रूरत है। मेहरा बाबू की आजकल खूब चल रही है। हाकिम की क़लम पकड़ लेते हैं। बोलते हैं तो जैसे मोटरकार छूट जाती है। सरकार! और क्या कहें, कई आदमियों को फाँसी से उतार लिया है, उनके सामने कोई वकील जबान तो खोल नहीं सकता। सरकार कहे तो वही कर लिये जायँ।

छक्कनलाल की अत्युक्ति ने सन्देह पैदा कर दिया। भानुकुँवरि ने कहा—नहीं, पहले सेठजी से पूछ लिया जाय। उसके बाद देखा जायगा। आप जाइए, उन्हें बुला लाइए।

छक्कनलाल अपनी तक़दीर को ठोकते हुए सेठजी के पास गये। सेठजी पण्डित भृगुदत्त के जीवन-काल से ही उनका क़ानून-सम्बन्धी सब काम किया करते थे। मुक़दमे का हाल सुना तो सन्नाटे में आ गये। सत्यनारायण को वह बड़ा नेकनीयत आदमी समझते थे। उनके पतन पर बड़ा खेद हुआ। उसी वक्त आये। भानुकुँवरि ने रो-रोकर उनसे अपनी विपत्ति की कथा कही और अपने दोनों लड़कों को उनके सामने खड़ा करके बोली—आप इन अनाथों की रक्षा कीजिए! इन्हें मैं आपको सौंपती हूँ।

सेठजी ने समझौते की बात छेड़ी। बोले—आपस की लड़ाई अच्छी नहीं।

भानुकुँवरि—अन्यायी के साथ लड़ना ही अच्छा है।

सेठजी—पर हमारा पक्ष निर्बल है।

भानुकुँवरि फिर पर्दे से निकल आई और विस्मित होकर बोली—क्या हमारा पक्ष निर्बल है? दुनिया जानती है कि गाँव हमारा है। उसे हमसे कौन ले सकता है? नहीं, मैं सुलह कभी न करूँगी, आप कागजों को देखें। मेरे बच्चों की खातिर यह कष्ट उठायें। आपका परिश्रम निष्फल न जायगा। सत्यनारायण की नीयत पहले खराब न थी। देखिए, जिस मिती में गाँव लिया गया है, उस मिती में ३० हजार का क्या खर्च दिखाया गया है। अगर उसने अपने नाम उधार लिखा हो, तो देखिए, वार्षिक सूद चुकाया गया या नहीं। ऐसे नर-पिशाच से मैं कभी सुलह न करूँगी।

सेठजी ने समझ लिया कि इस समय समझाने-बुझाने से कुछ काम न चलेगा। कागज़ात देखे, अभियोग चलाने की तैयारियाँ होने लगीं।

(४)

मुंशी सत्यनारायणलाल खिसियाये हुए मकान पहुँचे। लड़के ने मिठाई माँगी। उसे पीटा। स्त्री पर इसलिए बरस पड़े कि उसने क्यों लड़के को उनके पास जाने दिया। अपनी वृद्धा माता को डाँटकर कहा—तुमसे इतना भी नहीं हो सकता कि जरा लड़के को बहलाओ। एक तो मैं दिन-भर का थका-माँदा घर आऊँ और फिर लड़के को खेलाऊँ? मुझे दुनिया में न और कोई काम है, न धन्धा। इस तरह घर में वावैला मचाकर बाहर आये, सोचने लगे—मुझसे बड़ी भूल हुई। मैं कैसा मूर्ख हूँ? और इतने दिन तक सारे कागज़-पत्र अपने हाथ में थे। जो चाहता, कर सकता था, पर हाथ-पर-हाथ धरे बैठा रहा। आज सिर पर आ पड़ी तो सूझी। मैं चाहता तो बही-खाते सब नये बना सकता था, जिसमें इस गाँव का और रुपये का ज़िक्र ही न होता; पर मेरी मूर्खता के कारण घर में आई हुई लक्ष्मी रूठी जाती है। मुझे क्या मालूम था कि वह चुड़ैल मुझसे इस तरह पेश आयेगी, कागजों में हाथ तक न लगाने देगी।

इसी उधेड़बुन में मुंशीजी एकाएक उछल पड़े। एक उपाय सूझ गया—क्यों न कार्यकर्ताओं को मिला लूँ? यद्यपि मेरी सख्ती के कारण वे सब मुझसे नाराज थे और इस समय सीधे बात भी न करेंगे, तथापि उनमे ऐसा कोई भी नहीं जो प्रलोभन से मुट्ठी में न आ जाय। हाँ, इसमें रुपया पानी की तरह बहाना पड़ेगा, पर इतना रुपया आयेगा कहाँ से? हाय दुर्भाग्य! दो-चार दिन पहले चेत गया होता, तो कोई कठिनाई न पड़ती। क्या जानता था कि वह डाइन इस तरह वज्र-प्रहार करेगी। बस, अब

एक ही उपाय है। किसी तरह कागज़ात गुम कर दूँ। बड़ी जोखिम का काम है। पर करना ही पड़ेगा।

दुष्कामनाओं के सामने एक वार सिर झुकाने पर, फिर सँभलना कठिन हो जाता है। पाप के अथाह दलदल में जहाँ एक वार पड़े कि फिर प्रतिक्षण नीचे ही चले जाते हैं। मुंशी सत्यनारायण सा विचारशील मनुष्य इस समय इस फिक्र में था कि कैसे सेंध लगा पाऊँ।

मुंशीजी ने सोचा—क्या सेंध लगाना आसान है? इसके वास्ते कितनी चतुरता, कितना साहस, कितनी बुद्धि, कितनी वीरता चाहिए। कौन कहता है कि चोरी करना आसान काम है? मैं जो कहीं पकड़ा गया तो मरने के सिवा और कोई मार्ग ही न रहेगा।

बहुत सोचने-विचारने पर भी मुंशीजी को अपने ऊपर ऐसा दुस्साहस कर सकने का विश्वास न हो सका। हाँ, इससे सुगम एक दूसरी तदबीर नज़र आई—क्यों न दफ्तर में आग लगा दूँ। एक बोतल मिट्टी का तेल और एक दियासलाई की जरूरत है। किसी बदमाश को मिला लूँ, मगर यह क्या मालूम कि वह वही कमरे मे रखी है या नहीं। चुड़ैल ने उसे ज़रूर अपने पास रख लिया होगा। नहीं, आग लगाना गुनाह बेलज्ज़त होगा।

बहुत देर तक मुंशीजी करवटें बदलते रहे। नये नये मनसूबे सोचते, पर फिर अपने ही तर्कों से काट देते। वर्षाकाल में बादलों की नयी-नयी सूरतें बनतीं और फिर हवा के वेग से बिगड़ जाती हैं; वही दशा इस समम उनके मनसूबों की हो रही थी।

पर इस मानसिक अशान्ति में भी एक विचार पूर्ण रूप से स्थिर था—किसी तरह इन कागज़ात को अपने हाथ मे लाना चाहिए। काम कठिन है—माना! पर हिम्मत न थी, तो रार क्यों मोल ली? क्या ३० हजार की जायदाद दाल-भात का कौर है!—चाहे जिस तरह हो, चोर बने बिना काम नहीं चल सकता। आखिर जो लोग चोरियाँ करते हैं, वे भी तो मनुष्य ही होते हैं। बस, एक छलाँग का काम है। अगर पार हो गये, तो राज करेंगे, गिर पड़े, तो जान से हाथ धोयेंगे।

(५)

रात के दस बज गये। मुंशी सत्यनारायण कुञ्जियों का एक गुच्छा कमर मे दबाये घर से बाहर निकले। द्वार पर थोड़ा-सा पुआल रखा हुआ था। उसे देखते ही वे चौंक

पड़े। मारे डर के छाती धड़कने लगी। जान पड़ा कि कोई छिपा बैठा है। कदम रुक गये। पुआल की तरफ ध्यान से देखा। उसमें बिलकुल हरकत न हुई। तब हिम्मत बाँधी, आगे बढ़े और मन को समझाने लगे—मैं कैसा बौखला हूँ!

अपने द्वार पर किसको डर और सड़क पर भी मुझे किसका डर है? मैं अपनी राह जाता हूँ। कोई मेरी तरफ तिरछी आँख से नहीं देख सकता। हाँ, जब मुझे सेंध लगाते देख ले—नहीं, पकड़ ले—तब अलबत्ते डरने की बात है। तिसपर भी बचाव की युक्ति निकल सकती है।

अकस्मात् उन्होंने भानुकुँवरि के एक चपरासी को आते हुए देखा। कलेजा धड़क उठा। लपककर एक अन्धेरी गली मे घुस गये। बड़ी देर तक वहाँ खड़े रहे। जब वह सिपाही आँखों से ओझल हो गया, तब फिर सड़क पर आये। वह सिपाही आज सुबह तक इनका गुलाम था, उसे इन्होंने कितनी ही बार गालियाँ दी थीं, लातें भी मारी थीं, पर आज उसे देखकर उनके प्राण सूख गये।

उन्होंने फिर तर्क की शरण ली। मैं मानो भंग खाकर आया हूँ। इस चपरासी से इतना डरा। माना कि वह मुझे देख लेता, पर मेरा कर क्या सकता था। हज़ारों आदमी रास्ता चल रहे हैं। उन्हीं में मैं भी एक हूँ। क्या वह अन्तर्यामी है? सबके हृदय का हाल जानता है? मुझे देखकर वह अदब से सलाम करता और वहाँ का कुछ हाल भी कहता, पर मैं उससे ऐसा डरा कि सूरत तक न दिखाई। इस तरह मन को समझा-कर वे आगे बढ़े। सच है, पाप के पञ्जों में फँसा हुआ मन पतझड़ का पत्ता है, जो हवा के जरा-से झोंके से गिर पड़ता है।

मुंशीजी बाजार पहुँचे। अधिकतर दूकानें बन्द हो चुकी थीं। उनमें साँड़ और गायें बैठी हुई जुगाली कर रही थीं। केवल हलवाइयों की दुकानें खुली थीं और कहीं-कहीं गजरेवाले हार की हाँक लगाते फिरते थे। सब हलवाई मुंशीजी को पहचानते थे, अतएव मुंशीजी ने सिर झुका लिया। कुछ चाल बदली और लपकते हुए चले। एकाएक उन्हें एक बग्घी आती दिखाई दी। यह सेठ वल्लभदास वकील की बग्घी थी। इसमें बैठकर हजारों बार सेठजी के साथ कचहरी गये थे, पर आज वह बग्घी काल-देव के समान भयंकर मालूम हुई। फौरन एक खाली दुकान पर चढ़ गये। वहाँ विश्राम करनेवाले साँड़ ने समझा ये मुझे पदच्युत करने आये हैं। माथा झुकाये, फुङ्कारता हुआ उठ बैठा, पर इसी बीच में बग्घी निकल गई और मुंशीजी की जान-में-जान

आई। अबकी उन्होंने तर्क का आश्रय न लिया। समझ गये कि इस समय इससे कोई लाभ नहीं, खैरियत यह हुई कि वकील ने देखा नहीं। वह एक घाघ है। मेरे चेहरे से ताड़ जाता।

कुछ विद्वानों का कथन है कि मनुष्य को स्वाभाविक प्रवृत्ति पाप की ओर होती है, पर यह कोरा अनुमान-ही-अनुमान है, अनुभव-सिद्ध बात नहीं। सच बात तो यह है कि मनुष्य स्वभावतः पापभीरु होता है और हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि पाप से उसे कैसी घृणा होती है।

एक फ़र्लाङ्ग आगे चलकर मुंशीजी को एक गली मिली। यह भानकुँवरि के घर का रास्ता था। धुँधली-सी लालटेन जल रही थी। जैसा मुंशीजी ने अनुमान किया था, पहरेदार का पता न था। अस्तबल में चमारों के यहाँ नाच हो रहा था। कई चमारिनें बनाव-सिंगार करके नाच रही थीं। चमार मृदग बजा-बजाकर गाते थे—

"नाहीं घरे स्याम, घेरि आये बदरा।
सोवत रहेउँ सपन एक देखेउँ रामा,
खुलि गई नींद ढरक गये कजरा।
नाहीं घरे श्याम, घेरि आये बदरा।"

दोनों पहरेदार वहीं तमाशा देख रहे थे। मुंशीजी दबे-पाँव लालटेन के पास गये, और जिस तरह बिल्ली चूहे पर झपटती हैं, उसी तरह उन्होंने झपटकर लालटेन को बुझा दिया। एक पड़ाव पूरा हो गया, पर वे उस कार्य को जितना दुष्कर समझते थे, उतना न जान पड़ा। हृदय कुछ मजबूत हुआ। दफ्तर के बरामदे में पहुँचे और खूब कान लगाकर आहट ली। चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। केवल चमारों का कोलाहल सुनाई देता था। इस समय मुंशीजी के दिल में धड़क न थी, पर सिर धमधम कर रहा था; हाथ-पाँव काँप रहे थे, साँस बड़े वेग से चल रही थी। शरीर का एक-एक रोम आँख और कान बना हुआ था। वे सजीवता की मूर्ति हो रहे थे। उनमें जितना पौरुष, जितनी चपलता, जितना साहस, जितनी चेतना, जितनी बुद्धि, जितना औसान था, वे सब इस वक्त सजग और सचेत होकर इच्छाशक्ति की सहायता कर रहे थे।

दफ़्तर के दरवाजे पर वही पुराना ताला लगा हुआ था। इसकी कुञ्जी आज बहुत तलाश करके बे-बाज़ार से लाये थे। ताला खुल गया, किवाड़ों ने बहुत दबी जबान से

प्रतिरोध किया। इसपर किसीने ध्यान न दिया। मुंशीजी दफ्तर में दाखिल हुए। भीतर चिराग जल रहा था। मुंशीजी को देखकर उसने एक दफे सिर हिलाया। मानो उन्हें भीतर आने से रोका।

मुंशीजी के पैर थर-थर कॉंप रहे थे। एड़ियाँ जमीन से उछली पड़ती थीं। पाप का बोझ उन्हें असह्य था।

पलभर में मुंशीजी ने बहियों को उलटा-पलटा। लिखावट उनकी आँखों में तैर रही थी। इतना अवकाश कहाँ था कि जरूरी कागजात छाँट लेते। उन्होंने सारी बहियों को समेटकर एक गट्ठर बनाया और सिर पर रखकर तीर के समान कमरे के बाहर निकल आये। उस पाप की गठरी को लादे हुए वह अँधेरी गली से गायब हो गये।

तंग, अँधेरी, दुर्गन्धिपूर्ण कीचड़ से भरी हुई गलियों में वे नंगे पाँव, स्वार्थ, लोभ और कपट का बोझ लिये चले जाते थे। मानो पापमय आत्मा नरक की नालियों में बही चली जाती थी।

बहुत दूर तक भटकने के बाद वे गंगा के किनारे पहुँचे। जिस तरह कलुषित हृदयों में कहीं-कहीं धर्म का धुँधला प्रकाश रहता है, उसी तरह नदी की काली सतह पर तारे झिलमिला रहे थे। तट पर कई साधु धूनी रमाये पड़े थे। ज्ञान की ज्वाला मन की जगह बाहर दहक रही थी। मुंशीजी ने अपना गट्ठर उतारा और चादर से खूब मजबूत बाँधकर बलपूर्वक नदी में फेंक दिया। सोती हुई लहरों में कुछ हलचल हुई और फिर सन्नाटा हो गया।

(६)

मुंशी सत्यनारायणलाल के घर में दो स्त्रियाँ थीं—माता और पत्नी, वे दोनों अशिक्षिता थीं। तिसपर भी मुंशीजी को गंगा में डूब मरने या कहीं भाग जाने की ज़रूरत न होती थी। न वे बॉडी पहनती थीं, न मोजे-जूते, न हारमोनियम पर गा सकती थीं। यहाँ तक कि उन्हें साबुन लगाना भी न आता था। हेयरपिन, ब्रूचेज, जाकेट आदि परमावश्यक चीजों का तो उन्होंने नाम ही नहीं सुना था। बहू में आत्म-सम्मान जरा भी नहीं था, न सास में आत्मगौरव का जोश। बहू अब तक सास की घुड़कियाँ भीगी बिल्ली की तरह सह लेती थी—हा मूर्खे! सास को बच्चे के नहलाने-धुलाने, यहाँ तक कि घर में झाड़ू देने से भी घृणा न थी, हा ज्ञानान्धे! बहू

स्त्री क्या थी, मिट्टी का लोंदा थी। एक पैसे की ज़रूरत होती तो सास से माँगती। सारांश यह कि दोनों स्त्रियाँ अपने अधिकारों से बेखबर, अन्धकार में पड़ी हुई पशुवत् जीवन व्यतीत करती थीं। ऐसी फूहड़ थीं कि रोटियाँ भी अपने हाथ से बना लेती थीं। कञ्जूसी के मारे दालमोट, समोसे कभी बाज़ार से न मँगातीं। आगरेवाले की दूकान की चीज़ें खाई होतीं, तो उनका मज़ा जानतीं। बुढ़िया खूसट दवा-दरपन भी जानती थी। बैठी-बैठी घास-पात कूटा करती।

मुंशीजी ने माँ के पास जाकर कहा — अम्माँ! अब क्या होगा? भानुकुँवरि ने मुझे जवाब दे दिया!

माता ने घबराकर पूछा—जवाब दे दिया?

मुंशी—हाँ, बिलकुल बेक़सूर!

माता—क्या बात हुई? भानुकुँवरि का मिज़ाज तो ऐसा न था।

मुंशी—बात कुछ न थी। मैंने अपने नाम से जो गाँव लिया था, उसे मैंने अपने अधिकार मे कर लिया। कल मुझसे और उनसे साफ-साफ बातें हुई। मैंने कह दिया कि वह गाँव मेरा है। मैंने अपने नाम से लिया है। उसमें तुम्हारा कोई इजारा नहीं। बस, बिगड़ गई, जो मुँह में आया, बकती रहीं। उसी वक्त मुझे निकाल दिया और धमकाकर कहा—मैं तुमसे लड़कर अपना गाँव ले लूँगी। अब आज ही उनकी तरफ से मेरे ऊपर मुकदमा दायर होगा; मगर इससे होता क्या है? गाँव मेरा है। उसपर मेरा कब्जा है। एक नहीं, हजार मुकदमे चलायें, डिगरी मेरी होगी।

माता ने बहू की तरफ़ मर्मान्तिक दृष्टि से देखा और बोली—क्यों भैया! वह गाँव लिया तो था तुमने उन्हींके रुपये से और उन्हींके वास्ते?

मुंशी—लिया था, तब लिया था। अब मुझसे ऐसा आबाद और मालदार गाँव नहीं छोड़ा जाता। वह मेरा कुछ नहीं कर सकतीं। मुझसे अपना रुपया भी नहीं ले सकतीं। डेढ़-सौ गाँव तो हैं। तब भी हवस नहीं मानती।

माता—बेटा, किसीके धन ज्यादा होता है, तो वह उसे फेंक थोड़े ही देता है। तुमने अपनी नीयत बिगाड़ी, यह अच्छा काम नहीं किया। दुनिया तुम्हें क्या कहेगी? और दुनिया चाहे कहे या न कहे, तुमको भला ऐसा चाहिए कि जिसकी गोद में इतने दिन पले, जिसका इतने दिनों तक नमक खाया, अब उसी से दग़ा करो? नारायण ने तुम्हें क्या नहीं दिया? मज़े से खाते हो, पहनते हो, घर में नारायण का दिया चार

पैसा है, बाल बच्चे है और क्या चाहिए ? मेरा कहना मानो, इस कलक का टीका अपने माथे न लगाओ। यह अपजस मत लो। बरकत अपनी कमाई मे होती है, हराम की कौड़ी कभी नहीं फलती।

मु शी—ऊँह! ऐसी बातें बहुत सुन चुका हूँ। दुनिया उनपर चलने लगे, तो सारे काम बन्द हो जायँ। मैंने इतने दिनों इनकी सेवा की, मेरी ही बदौलत ऐसे-ऐसे चार-पाँच गाँव बढ गये, जब तक पण्डितजी थे, मेरी नीयत का मान था। मुझे आँख में धूल डालने की जरूरत न थी, वे आप ही मेरी खातिर कर दिया करते थे। उन्हें मरे आठ साल हो गये, मगर मुसम्मात के एक बीड़े पान की क़सम खाता हूँ, मेरी जात से उनकी हजारों रुपये मासिक की बचत होती थी। क्या उनको इतनी भी समझ न थी कि यह बेचारा जो इतनी ईमानदारी से मेरा काम करता है, इस नफे में कुछ उसे भी मिलना चाहिए ? हक कहकर न दो, इनाम कहकर दो, किसी तरह दो तो, मगर वे तो समझती थीं कि मैंने इसे बीस रुपये महीने पर मोल ले लिया है। मैंने आठ साल तक सब्र किया, अब क्या इसी बीस रुपये मे गुलामी करता रहूँ और अपने बच्चो को दूसरो का मुँह ताकने के लिए छोड़ जाऊँ ? अब मुझे यह अवसर मिला है। इसे क्यों छोड़ूँ ? ज़मींदार की लालसा लिये हुए क्यों मरूँ ? जब तक जीऊँगा, खुद खाऊँगा। मेरे पीछे मेरे बच्चे चैन उड़ायेंगे।

माता की आँखों में आँसू भर आये। बोली—बेटा, मैंने तुम्हारे मुँह से ऐसी बातें कभी न सुनी थीं, तुम्हें क्या हो गया है ? तुम्हारे आगे बाल-बच्चे हैं। आग मे हाथ न डालो।

बहू ने सास की ओर देखकर कहा—हमको ऐसा धन न चाहिए, हम अपनी दाल-रोटी में मगन हैं।

मु शी—अच्छी बात है, तुम लोग रोटी-दाल खाना, गजी-गाढ़ा पहनना, मुझे अब हलुए-पूरी की इच्छा है।

माता—यह अधर्म मुझसे न देखा जायगा। मैं गगा में डूब मरूँगी।

पत्नी—तुम्हें यह सब काँटा बोना है, तो मुझे मायके पहुँचा दो। मैं अपने बच्चों को लेकर इस घर मे न रहूँगी!

मु शी ने झुँझलाकर कहा—तुम लोगों की बुद्धि तो भाँग खा गई है। लाखों सरकारी नौकर रात-दिन दूसरों का गला दबा दबाकर रिश्वतें लेते हैं और चैन करते

हैं। न उनके बाल-बच्चों ही को कुछ होता है, न उन्हींको हैजा पकड़ता है। अधर्म उनको क्यों नहीं खा जाता, जो मुझीको खा जायगा। मैंने तो सत्यवादियों को सदा दुःख झेलते ही देखा है। मैंने जो कुछ किया है, उसका सुख लूटूँगा। तुम्हारे मन मे जो आये, करो।

प्रातःकाल दफ्तर खुला तो कागज़ात सब गायब थे। मुंशी छक्कनलाल बौखलाये-से घर में गये और मालकिन से पूछा—

कागज़ात आपने उठवा लिये हैं? भानुकुँवरि ने कहा— मुझे क्या खबर, जहाँ आपने रखे होंगे, वहीं होंगे। फिर तो सारे घर में खलबली पड़ गई। पहरेदारों पर मार पड़ने लगी। भानुकुँवरि को तुरत मुंशी सत्यनारायण पर संदेह हुआ, मगर उनकी समझ में छक्कनलाल की सहायता के बिना यह काम होना असंभव था। पुलिस में रपट हुई। एक ओझा नाम निकालने के लिए बुलाया गया। मौलवी साहब ने कुर्रा फेंका। ओझा ने बताया, यह किसी पुराने वैरी का काम है। मौलवी साहब ने फर्माया, किसी घर के भेदिये ने यह हरकत की है। शाम तक यह दौड़ धूप रही। फिर यह सलाह होने लगी कि इन कागज़ात के बगैर मुकदमा कैसे चलेगा। पक्ष तो पहले ही निर्बल था। जो कुछ बल था, वह इसी बही-खाते का था। अब तो वे सबूत भी हाथ से गये। दावे में कुछ जान ही न रही, मगर भानुकुँवरि ने कहा—बला से हार जायँगे। हमारी चीज कोई छीन ले, तो हमारा धर्म है कि उससे यथाशक्ति लड़ें, हारकर बैठ रहना कायरों का काम है। सेठजी (वकील) को इस दुर्घटना का समाचार मिला तो उन्होंने भी यही कहा कि अब दावे मे ज़रा भी जान नहीं है। केवल अनुमान और तर्क का भरोसा है। अदालत ने माना तो माना, नहीं तो हार माननी पड़ेगी, पर भानुकुँवरि ने एक न मानी। लखनऊ और इलाहाबाद से दो होशियार बैरिस्टर बुलाये। मुकदमा शुरू हो गया।

सारे शहर मे इस मुकदमे की धूम थी। कितने ही रईसों को भानुकुँवरि ने साथी बनाया था। मुकदमा शुरू होने के समय हज़ारों आदमियों की भीड़ हो जाती थी। लोगों के इस खिंचाव का मुख्य कारण यह था कि भानुकुँवरि एक पर्दे की आड़ मे बैठी हुई अदालत की कार्रवाई देखा करती थीं, क्योंकि उसे अब अपने नौकरों पर ज़रा भी विश्वास न था।

वादी बैरिस्टर ने एक बड़ी मार्मिक वक्तृता दी। उसने सत्यनारायण की पूर्वावस्था

का खूब अच्छा चित्र खींचा। उसने दिखलाया कि वे कैसे स्वामिभक्त, कैसे कार्य-कुशल, कैसे कर्म-शील थे और स्वर्गवासी पण्डित भृगुदत्त का उनपर पूर्ण विश्वास हो जाना किस तरह स्वाभाविक था। इसके बाद उसने सिद्ध किया कि मुंशी सत्यनारायण की आर्थिक अवस्था कभी ऐसी न थी कि वे इतना धन संचय करते। अन्त में उसने मुंशीजी की स्वार्थपरता, कूटनीति, निर्दयता और विश्वासघातकता का ऐसा घृणोत्पादक चित्र खींचा कि लोग मुंशीजी को गालियाँ देने लगे। इसके साथ ही उसने पण्डितजी के अनाथ बालकों की दशा का बड़ा ही करुणोत्पादक वर्णन किया—कैसे शोक और लज्जा की बात है कि ऐसा चरित्रवान्, ऐसा नीतिकुशल मनुष्य इतना गिर जाय कि अपने स्वामी के अनाथ बालकों की गर्दन पर छुरी चलाने में संकोच न करे। मानव-पतन का ऐसा करुण, ऐसा हृदयविदारक उदाहरण मिलना कठिन है, इस कुटिल कार्य के परिणाम की दृष्टि से इस मनुष्य के पूर्व-परिचित सद्गुणों का गौरव लुप्त हो जाता है। क्योंकि वह असली मोती नहीं, नकली काँच के दाने थे, जो केवल विश्वास जमाने के निमित्त दर्शाये गये थे। वह केवल सुन्दर जाल था, जो एक सरल हृदय और छल छन्दों से दूर रहनेवाले रईस को फँसाने के लिए फैलाया गया था। इस नर-पशु का अन्तःकरण कितना अन्धकारमय, कितना कपटपूर्ण, कितना कठोर है और इसकी दुष्टता कितनी घोर और कितनी अपावन है! अपने शत्रु के साथ दया करना तो एक बार क्षम्य है, मगर इस मलिन हृदय मनुष्य ने उन बेकसों के साथ दगा किया है, जिनपर मानव-स्वभाव के अनुसार दया करना उचित है। यदि आज हमारे पास बही-खाते मौजूद होते, तो अदालत पर सत्यनारायण की सत्यता स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाती; पर मुंशीजी के बरखास्त होते ही दफ्तर से उनका लुप्त हो जाना भी अदालत के लिए एक बड़ा सबूत है।

शहर के कई रईसों ने गवाही दी, पर सुनी-सुनाई बातें जिरह में उखड़ गई।

दूसरे दिन फिर मुकदमा पेश हुआ।

प्रतिवादी के वकील ने अपनी वक्तृता शुरू की। उसमें गंभीर विचारों की अपेक्षा हास्य का आधिक्य था—"यह एक विलक्षण न्यायसिद्धान्त है कि किसी धनाढ्य मनुष्य का नौकर जो कुछ खरीदे, वह उसके स्वामी की चीज समझी जाय। इस सिद्धान्त के अनुसार हमारी गवर्नमेंट को अपने कर्मचारियों की सारी संपत्ति पर कब्जा कर लेना चाहिए। यह स्वीकार करने में हमको कोई आपत्ति नहीं कि हम इतने रुपयों का प्रबन्ध न कर सकते थे और यह धन हमने स्वामी ही से ऋण लिया, पर हमसे ऋण चुकाने का

कोई तकाजा न करके वह जायदाद ही माँगी जाती है। यदि हिसाब के कागजात दिखलाये जायँ, तो वे साफ बता देंगे कि मैं सारा ऋण दे चुका। हमारे मित्र ने कहा है कि ऐसी अवस्था में बहियों का गुम हो जाना अदालत के लिए एक सबूत होना चाहिए। मैं भी उनकी युक्ति का समर्थन करता हूँ। यदि मैं आपसे ऋण लेकर अपना विवाह करूँ, तो क्या आप मुझसे मेरी नव-विवाहिता वधू को छीन लेंगे?

"हमारे सुयोग्य मित्र ने हमारे ऊपर अनाथों के साथ दगा करने का दोष लगाया है। अगर मुंशी सत्यनारायण की नीयत खराब होती, तो उनके लिए सबसे अच्छा अवसर वह था जब पण्डित भृगुदत्त का स्वर्गवास हुआ। इतने विलंब की क्या जरूरत थी? यदि आप शेर को फँसाकर उसके बच्चे को उसी वक्त नहीं पकड़ लेते, उसे बढने और सबल होने का अवसर देते हैं, तो मैं आपको बुद्धिमान न कहूँगा। यथार्थ बात यह है कि मुंशी सत्यनारायण ने नमक का जो कुछ हक था, वह पूरा कर दिया। आठ वर्ष तक तन-मन से स्वामी-सन्तान की सेवा की। आज उन्हें अपनी साधुता का जो फल मिल रहा है, वह बहुत ही दुःखजनक और हृदय-विदारक है। इसमें भानुकुँवरि का दोष नहीं। वे एक गुण-सम्पन्न महिला हैं; मगर अपनी जाति के अवगुण उनमें भी विद्यमान हैं। ईमानदार मनुष्य स्वभावतः स्पष्टभाषी होता है, उसे अपनी बातों मे नमक-मिर्च लगाने की जरूरत नहीं होती। यही कारण है कि मुंशीजी के मृदुभाषी मातहतों को उनपर आक्षेप करने का मौका मिल गया। इस दावे की जड़ केवल इतनी ही है, और कुछ नहीं। भानुकुँवरि यहाँ उपस्थित हैं। क्या वे कह सकती हैं कि इस आठ वर्ष की मुद्दत में कभी इस गाँव का जिक्र उनके सामने आया? कभी उसके हानि-लाभ, आय-व्यय लेन-देन की चर्चा उनसे की गई? मान लीजिए कि मैं गवर्नमेंट का मुलाजिम हूँ। यदि मैं आज दफ्तर में आकर अपनी पत्नी के आय-व्यय और अपने टहलुओं के टैक्सों का पचड़ा गाने लगूँ तो शायद मुझे शीघ्र ही अपने पद से पृथक् होना पड़े, और सम्भव है, कुछ दिनों बरेली की विशाल अतिथिशाला में रखा जाऊँ। जिस गाँव से भानुकुँवरि का सरोकार न था, उसकी चर्चा उनसे क्यों की जाती?"

इसके बाद बहुत-से गवाह पेश हुए, जिनमें अधिकांश आस-पास के देहातों के ज़मींदार थे। उन्होंने बयान किया कि हमने मुंशी सत्यनारायण को असामियों को अपनी दस्तखती रसीदें देते और अपने नाम से खज़ाने में रुपया दाखिल करते देखा है।

इतने में सन्ध्या हो गई। अदालत ने एक सप्ताह में फैसला सुनाने का हुक्म दिया।

(७)

सत्यनारायण को अब अपनी जीत मे कोई सन्देह न था। वादी पक्ष के गवाह भी उखड़ गये थे और बहस भी सबूत से खाली थी। अब इनकी गिनती भी जमींदारों मे होगी और सम्भव है, वह कुछ दिनों मे रईस कहलाने लगें। पर किसी-न-किसी कारण से अब वह शहर के गण्य मान्य पुरुषों से आँखें मिलाते शरमाते थे। उन्हें देखते ही उनका सिर नीचा हो जाता था। वह मन में डरते थे कि वे लोग कहीं इस विषय पर कुछ पूछ-ताछ न कर बैठें। वह बाज़ार में निकलते तो दूकानदारों में कुछ कानाफूसी होने लगती और लोग उन्हें तिरछी दृष्टि से देखने लगते। अब तक लोग उन्हें विवेकशील और सच्चरित्र मनुष्य समझते थे, शहर के धनी-मानी उन्हें इज्जत की निगाह से देखते और उनका बड़ा आदर करते थे। यद्यपि मुंशीजी को अब तक किसी से टेढ़ी-तिरछी सुनने का सयोग न पड़ा था, तथापि उनका मन कहता था कि सच्ची बात किसी से छिपी नहीं है। चाहे अदालत से उनकी जीत हो जाय, पर उनकी साख अब जाती रही। अब उन्हे लोग स्वार्थी, कपटी और दगाबाज समझेंगे। दूसरों की बात तो अलग रही, स्वय उनके घरवाले उनकी उपेक्षा करते थे। बूढ़ी माता ने तीन दिन से मुँह में पानी नहीं डाला था। स्त्री बार-बार हाथ जोड़कर कहती थी कि अपने प्यारे बालकों पर दया करो। बुरे काम का फल कभी अच्छा नहीं होता! नहीं तो पहले मुझी को विष खिला दो।

जिस दिन फैसला सुनाया जानेवाला था, प्रातःकाल एक कुँजड़िन तरकारियाँ लेकर आई और मुंशियाइन से बोली—

बहूजी! हमने बाज़ार में एक बात सुनी है। बुरा न मानो तो कहूँ? जिसको देखो, उसके मुँह से यही बात निकलती है कि लाला बाबू ने जालसाजी से पण्डिताइन का कोई इलाका ले लिया। हमें तो इस पर यकीन नहीं आता। लाला बाबू ने न सँभाला होता, तो अब तक पण्डिताइन का कहीं पता न लगता! एक अंगुल जमीन न बचती। इन्हीं ऐसा सरदार था कि सबको सँभाल लिया। तो क्या अब उन्हींके साथ बदी करेंगे? अरे बहू! कोई कुछ साथ लाया है कि ले जायगा! यही नेकी-बदी रह जाती है। बुरे का फल बुरा होता है। आदमी न देखे, पर अल्लाह सब कुछ देखता है।

बहूजी पर घड़ों पानी पड़ गया। जी चाहता था कि धरती फट जाती, तो उसमें समा जाती। स्त्रियाँ स्वभावत लज्जावती होती हैं। उनमें आत्माभिमान की मात्रा अधिक

होती है। निन्दा-अपमान उनसे सहन नहीं हो सकता। सिर झुकाये हुए बोली बूआ! मैं इन बातों को क्या जानूँ? मैंने तो आज ही तुम्हारे मुँह से सुनी है। कौन-सी तरकारियाँ हैं?

मुंशी सत्यनारायण अपने कमरे में लेटे हुए कुँजड़िन की बातें सुन रहे थे उसके चले जाने के बाद आकर स्त्री से पूछने लगे—यह शैतान की खाला क्या कह रही थी?

स्त्री ने पति की ओर से मुँह फेर लिया और ज़मीन की ओर ताकते हुए बोली—क्या तुमने नहीं सुना? तुम्हारा गुन-गान कर रही थी। तुम्हारे पीछे देखो किस-किसके मुँह से ये बातें सुननी पड़ती हैं और किस किससे मुँह छिपाना पड़ता है।

मुंशीजी अपने कमरे में लौट आये, स्त्री को कुछ उत्तर नहीं दिया। उनकी आत्मा लज्जा से परास्त हो गई। जो मनुष्य सदैव सर्व-सम्मानित रहा हो, जो सदा आत्माभिमान से सिर उठाकर चलता रहा हो, जिसकी सुकृति की सारे शहर में चर्चा होती रही हो, वह कभी सर्वथा लज्जाशून्य नहीं हो सकता, लज्जा कुपथ की सबसे बड़ी शत्रु है, कुवासनाओं के भ्रम में पड़कर मुंशीजी ने समझा था, मैं इस काम को ऐसी गुप्त रीति से पूरा कर ले जाऊँगा कि किसीको कानों-कान खबर न होगी, पर उनका यह मनोरथ सिद्ध न हुआ। बाधाएँ आ खड़ी हुई। उनके हटाने में उन्हें बड़े दुस्साहस से काम लेना पड़ा, पर यह भी उन्होंने लज्जा से बचने के निमित्त किया। जिसमें यह कोई न कहे कि अपनी स्वामिनी को धोखा दिया। इतना यत्न करने पर भी वह निन्दा से न बच सके। बाज़ार की सौदा बेचनेवालियाँ भी अब उनका अपमान करती हैं। कुवासनाओं से दबी हुई लज्जा-शक्ति इस कड़ी चोट को सहन न कर सकी। मुंशीजी सोचने लगे, अब मुझे धन-सम्पत्ति मिल जायगी, ऐश्वर्यवान् हो जाऊँगा, परन्तु निन्दा से मेरा पीछा न छूटेगा। अदालत का फैसला मुझे लोक-निन्दा से न बचा सकेगा। ऐश्वर्य का फल क्या है? मान और मर्यादा। उससे हाथ धो बैठा, तो इस ऐश्वर्य को लेकर क्या करूँगा? चित्त की शक्ति खोकर, लोक-लज्जा सहकर, जन-समुदाय में नीच बनकर और अपने घर में कलह का बीज बोकर यह सम्पत्ति मेरे किस काम आयेगी? और यदि वास्तव में कोई न्याय-शक्ति हो और वह मुझे इस कुकृत्य का दण्ड दे, तो मेरे लिए सिवा मुँह में कालिख लगाकर निकल जाने के और कोई मार्ग न रहेगा। सत्यवादी मनुष्य पर कोई विपत्ति पड़ती है, तो लोग उसके साथ सहानुभूति करते हैं। दुष्टों की विपत्ति लोगों के लिए व्यंग्य की सामग्री बन जाती है, उस अवस्था में ईश्वर अन्यायी ठहराया जाता है; मगर दुष्टों की

विपत्ति ईश्वर के न्याय को सिद्ध करती है। परमात्मन्! इस दुर्दशा से किसी तरह मेरा उद्धार करो! क्यों न जाकर मैं भानुकुँवरि के पैरों पर गिर पड़ूँ और और विनय करूँ कि यह मुक़दमा उठा लो? शोक! पहले यह बात मुझे क्यों न सूझी? अगर कल तक मैं उनके पास चला गया होता, तो बात बन जाती, पर अब क्या हो सकता है? आज तो फैसला सुनाया जायगा।

मुंशीजी देर तक इसी विचार में पड़े रहे, पर कुछ निश्चय न कर सके कि क्या करें।

भानुकुँवरि को भी विश्वास हो गया कि अब गाँव हाथ से गया। बेचारी हाथ मलकर रह गई। रातभर उसे नींद न आई, रह-रहकर मुंशी सत्यनारायण पर क्रोध आता था। हाय पापी! ढोल बजाकर मेरा पचास हजार का माल लिये जाता है। और मैं कुछ नहीं कर सकती। आजकल के न्याय करनेवाले बिल्कुल आँख के अन्धे हैं। जिस बात को सारी दुनिया जानती है, उसमें भी उनकी दृष्टि नहीं पहुँचती। बस, दूसरों की आँखों से देखते हैं। कोरे काग़ज़ों के गुलाम हैं। न्याय वह है कि दूध का दूध, पानी का पानी कर दे, यह नहीं कि खुद ही काग़ज़ों के धोखे में आ जाय, खुद ही पाखण्डियों के जाल में फँस जाय। इसीसे तो ऐसे छली, कपटी, दग़ाबाज़, दुरात्माओं का साहस बढ गया है। खैर, गाँव जाता है तो जाय, लेकिन सत्यनारायण, तुम तो शहर में कहीं मुँह दिखाने के लायक नहीं रहे।

इस खयाल से भानुकुँवरि को कुछ शान्ति हुई। शत्रु की हानि मनुष्य को अपने लाभ से भी अधिक प्रिय होती है। मानव स्वभाव ही कुछ ऐसा है। तुम हमारा एक गाँव ले गये, नारायण चाहेंगे, तो तुम भी इससे सुख न पाओगे। तुम आप नरक की आग में जलोगे, तुम्हारे घर में कोई दिया जलानेवाला न रहेगा।

फैसले का दिन आ गया। आज इजलास में बड़ी भीड़ थी। ऐसे-ऐसे महानुभाव उपस्थित थे, जो बगुलों की तरह अफसरों की बधाई और विदाई के अवसरों ही में नजर आया करते हैं। वकीलों और मुख्तारों की काली पल्टन भी जमा थी। नियत समय पर जज साहब ने इजलास को सुशोभित किया। विस्तृत न्याय-भवन में सन्नाटा छा गया। अलहमद ने संदूक से तजवीज निकाली। लोग उत्सुक होकर एक-एक कदम और आगे खिसक गये।

जज ने फैसला सुनाया—मुद्दई का दावा खारिज। दोनों पक्ष अपना-अपना खर्च सह लें।

यद्यपि फैसला लोगों के अनुमान के अनुसार ही था, तथापि जज के मुँह से उसे सुनकर लोगों में हलचल-सी मच गई। उदासीन भाव से इस फैसले पर आलोचनाएँ करते हुए लोग धीरे-धीरे कमरे से निकलने लगे।

एकाएक भानुकुँवरि घूँघट निकाले इजलास पर आकर खड़ी हो गई। जानेवाले लौट पड़े। जो बाहर निकल गये थे, दौड़कर आ गये और कौतूहलपूर्वक भानुकुँवरि की तरफ ताकने लगे।

भानुकुँवरि ने कंपित स्वर में जज से कहा—सरकार यदि हुक्म दें, तो मैं मुंशीजी से कुछ पूछूँ!

यद्यपि यह बात नियम के विरुद्ध थी, तथापि जज ने दयापूर्वक आज्ञा दे दी।

तब भानुकुँवरि ने सत्यनारायण की तरफ देखकर कहा—लालाजी, सरकार ने तुम्हारी डिग्री तो कर ही दी। गाँव तुम्हें मुबारक रहे, मगर ईमान आदमी का सब कुछ है, ईमान से कह दो, गाँव किसका है?

हजारों आदमी यह प्रश्न सुनकर कौतूहल से सत्यनारायण की तरफ देखने लगे। मुंशीजी विचार-सागर में डूब गये। हृदय में संकल्प और विकल्प में घोर संग्राम-सागर होने लगा। हजारों मनुष्यों की आँखें उनकी तरफ जमी हुई थीं। यथार्थ बात अब किसीसे छिपी न थी। इतने आदमियों के सामने असत्य बात मुँह से निकल न सकी। लज्जा ने जबान बन्द कर ली—"मेरा" कहने में काम बनता था। कोई बात न थी, किन्तु घोरतम पाप का जो दंड समाज दे सकता है, उसके मिलने का पूरा भय था। "आपका" कहने से काम बिगड़ता था। जीती-जिताई बाजी हाथ से जाती थी, पर सर्वोत्कृष्ट काम के लिए समाज से जो इनाम मिल सकता है, उसके मिलने की पूरी आशा थी। आशा ने भय को जीत लिया। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ जैसे ईश्वर ने मुझे अपना मुख उज्ज्वल करने का यह अन्तिम अवसर दिया है। मैं अब भी मानव-सम्मान का पात्र बन सकता हूँ। अब भी अपनी आत्मा की रक्षा कर सकता हूँ। उन्होंने आगे बढ़कर भानुकुँवरि को प्रणाम किया और काँपते हुए स्वर में बोले—"आपका!"

हजारों मनुष्यों के मुँह से एक गगनस्पर्शी ध्वनि निकली—"सत्य की जय।"

जज ने खड़े होकर कहा—यह कानून का न्याय नहीं,

ममता

(१)

बाबू रामरक्षादास दिल्ली के एक ऐश्वर्यशाली खत्री थे, बहुत ही ठाट-बाट से रहने-वाले। बड़े बड़े अमीर उनके यहाँ नित्य आते-जाते थे। वे आये हुओं का आदर-सत्कार ऐसे अच्छे ढग से करते थे कि इस बात की धूम सारे महल्ले में थी। नित्य उनके दरवाजे पर किसी-न-किसी बहाने से इष्ट-मित्र एकत्र हो जाते, टेनिस खेलते, ताश उड़ता, हारमोनियम के मधुर स्वरों से जी बहलाते, चाय-पानी से हृदय प्रफुल्लित करते, अधिक और क्या चाहिए? जाति की ऐसी अमूल्य सेवा कोई छोटी बात नहीं है। नीची जातियों के सुधार के लिए दिल्ली में एक सोसायटी थी। बाबू साहब उसके सेक्रेटरी थे, और इस कार्य को असाधारण उत्साह से पूर्ण करते थे। जब उनका बूढ़ा कहार बीमार हुआ और क्रिश्चियन-मिशन के डाक्टरों ने उसकी शुश्रूषा की, जब उसकी विधवा स्त्री ने निर्वाह की कोई आशा न देखकर क्रिश्चियन-समाज का आश्रय लिया, तब इन दोनों अवसरों पर बाबू साहब ने शोक के रेज्यूलेशन पास किये। ससार जानता है कि सेक्रेटरी का काम सभाएँ करना और रेज्यूलेशन बनाना है। इससे अधिक वह कुछ नहीं कर सकता।

मिस्टर रामरक्षा का जातीय उत्साह यहीं तक सीमाबद्ध न था। वे सामाजिक कुप्रथाओं तथा अन्ध-विश्वास के प्रबल शत्रु थे। होली के दिनों में जब कि मुहल्ले में चमार और कहार शराब से मतवाले होकर फाग गाते और डफ बजाते हुए निकलते, तो उन्हें बड़ा शोक होता। जाति की इस मूर्खता पर उनकी आँखों में आँसू भर आते और वे प्रायः इस कुरीति का निवारण अपने हण्टर से किया करते। उनके हण्टर में जाति-हितैषिता की उमग उनकी वक्तृता से भी अधिक थी। यह उन्हीं के प्रशसनीय प्रयत्न थे, जिन्होंने मुख्य होली के दिन दिल्ली मे हलचल मचा दी, फाग गाने के अपराध मे हज़ारों आदमी पुलिस के पजे में आ गये। सैकड़ों घरों में मुख्य

होली के दिन मुहर्रम का-सा शोक फैल गया। इधर उनके दरवाजे पर हजारों पुरुष-स्त्रियाँ अपना दुखड़ा रो रही थीं। उधर बाबू साहब के हितैषी मित्रगण अपने उदार-शील मित्र के सद्व्यवहार की प्रशंसा करते। बाबू साहब दिन-भर में इतने रंग बदलते थे कि उस पर 'पेरिस' की परियों को भी ईर्ष्या हो सकती थी। कई बैंकों में उनके हिस्से थे। कई दूकानें थीं; किन्तु बाबू साहब को इतना अवकाश न था कि उनकी कुछ देख-भाल करते। अतिथि-सत्कार एक पवित्र धर्म है। वे सच्ची देश-हितैषिता की उमंग से कहा करते थे—अतिथि-सत्कार आदि काल से भारतवर्ष के निवासियों का एक प्रधान और सराहनीय गुण है। अभ्यागतों का आदर-सम्मान करने में हम अद्वितीय हैं। हम इसी से संसार में मनुष्य कहलाने योग्य हैं। हम सब कुछ खो बैठे हैं, किन्तु जिस दिन हममें यह गुण शेष न रहेगा, वह दिन हिन्दू-जाति के लिए लज्जा, अपमान और मृत्यु का दिन होगा।

मिस्टर रामरक्षा जातीय आवश्यकताओं से भी बेपरवाह न थे। वे सामाजिक और राजनीतिक कार्यों में पूर्णरूप से योग देते थे। यहाँ तक कि प्रतिवर्ष दो, बल्कि कभी-कभी तीन वक्तृताएँ अवश्य तैयार कर लेते। भाषणों की भाषा अत्यन्त उपयुक्त, ओजस्वी और सर्वाङ्ग-सुन्दर होती थी। उपस्थित जन और इष्टमित्र उनके एक-एक शब्द पर प्रशंसा-सूचक शब्दों की ध्वनि प्रकट करते, तालियाँ बजाते, यहाँ तक कि बाबू साहब को व्याख्यान का क्रम स्थिर रखना कठिन हो जाता। व्याख्यान समाप्त होने पर उनके मित्र उन्हें गोद में उठा लेते और आश्चर्य-चकित होकर कहते—तेरी भाषा में जादू है। सारांश यह कि बाबू साहब का यह जातीय प्रेम और उद्योग केवल बनावटी, सहृदयताशून्य तथा फैशनेबिल था। यदि उन्होंने किसी सदुपयोग में भाग लिया था, तो वह सम्मिलित कुटुम्ब का विरोध था। अपने पिता के देहान्त के पश्चात् वे अपनी विधवा माँ से अलग हो गये थे। इस जातीय सेवा में उनकी स्त्री विशेष सहायक थी। विधवा माँ अपने बेटे और बहू के साथ नहीं रह सकती। इससे बहू की स्वाधीनता में विघ्न पड़ता है और स्वाधीनता में विघ्न पड़ने से मन दुर्बल और मस्तिष्क शक्तिहीन हो जाता है। बहू को जलाना और कुढ़ाना सास की आदत है। इसलिए बाबू रामरक्षा अपनी माँ से अलग हो गए। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने मातृऋण का विचार करके दस हजार रुपये अपनी माँ के नाम जमा कर दिये कि उसके ब्याज से उसका निर्वाह होता रहे; किन्तु बेटे के इस उत्तम आचरण पर

माँ का दिल ऐसा टूटा कि वह दिल्ली छोड़कर अयोध्या जा रही। तबसे वहीं रहती है। बाबू साहब कभी-कभी मिसेज रामरक्षा से छिपकर उससे मिलने अयोध्या जाया करते थे, किन्तु वह दिल्ली आने का कभी नाम न लेती। हाँ, यदि कुशल-क्षेम की चिट्ठी पहुँचने में कुछ देर हो जाती, तो विवश होकर समाचार पूछ लेती थी।

(२)

उसी महल्ले मे एक सेठ गिरधारीलाल रहते थे। उनका लाखों का लेन-देन था। वे हीरे और रत्नों का व्यापार करते थे। बाबू रामरक्षा के दूर के नाते में साढ़ू होते थे। पुराने ढग के आदमी थे—प्रातःकाल यमुना स्नान करनेवाले तथा गाय को अपने हाथों से झाड़ने-पोंछनेवाले। उनसे मिस्टर रामरक्षा का स्वभाव न मिलता था, परन्तु जब कभी रुपयों की आवश्यकता होती, तो वे सेठ गिरधारीलाल के यहाँ से बेखटके मँगा लिया करते। आपस का मामला था, केवल चार अंगुल के पत्र पर रुपया मिल जाता था, न कोई दस्तावेज़, न स्टाम्प, न साक्षियों की आवश्यकता। मोटरकार के लिए दस हजार की आवश्यकता हुई, वह वहाँ से आया। घुड़दौड़ के लिए एक आस्ट्रेलियन घोड़ा डेढ हजार मे लिया। उसके लिए भी रुपया सेठजी के यहाँ से आया। धीरे-धीरे कोई बीस हजार का मामला हो गया। सेठजी सरल हृदय के आदमी थे। समझते थे कि उसके पास दूकानें हैं। बैंकों मे रुपया है। जब जी चाहेगा, रुपया वसूल कर लेंगे, किन्तु जब दो-तीन वर्ष व्यतीत हो गये और सेठजी के तकाजों की अपेक्षा मिस्टर रामरक्षा की माँग ही का आधिक्य रहा, तो गिरधारीलाल को सन्देह हुआ। वह एक दिन रामरक्षा के मकान पर आये और सभ्य-भाव से बोले—भाई साहब, मुझे एक हुण्डी का रुपया देना है, यदि आप मेरा हिसाब कर दें तो बहुत अच्छा हो। यह कहकर हिसाब के कागजात और उनके पत्र दिखलाये। मिस्टर रामरक्षा किसी गार्डनपार्टी में सम्मिलित होने के लिए तैयार थे। बोले—इस समय क्षमा कीजिए, फिर देख लूँगा, जल्दी क्या है?

गिरधारीलाल को बाबू साहब की रुखाई पर क्रोध आ गया, वे रुष्ट होकर बोले—आपको जल्दी नहीं है, मुझे तो है! दो सौ रुपये मासिक की मेरी हानि हो रही है। मिस्टर रामरक्षा ने असन्तोष प्रकट करते हुए घड़ी देखी। पार्टी का समय बहुत करीब

था। वे बहुत विनीत भाव से बोले—भाई साहब, मैं बड़ी जल्दी में हूँ। इस समय मेरे ऊपर कृपा कीजिए। मैं कल स्वय उपस्थित हूँगा।

सेठजी एक माननीय और धन-सम्पन्न आदमी थे। वे रामरक्षा के इस कुरुचिपूर्ण व्यवहार पर जल गये। मैं इनका महाजन, इनसे धन में, मान में, ऐश्वर्य में, बढा हुआ, चाहूँ तो ऐसों को नौकर रख लूँ, इनके दरवाजे पर आऊँ और आदर-सत्कार की जगह उल्टे ऐसा रूखा बर्ताव! वह हाथ बाँधे मेरे सामने न खड़ा रहे, किन्तु क्या मैं पान, इलायची इत्र आदि से भी सम्मान करने के योग्य नहीं? वे तनकर बोले—अच्छा, तो कल हिसाब साफ हो जाय।

रामरक्षा ने अकड़कर उत्तर दिया—हो जायगा।

रामरक्षा के गौरवशील हृदय पर सेठजी के इस बर्ताव का प्रभाव कुछ कम खेद-जनक न हुआ। इस काठ के कुन्दे ने आज मेरी प्रतिष्ठा धूल में मिला दी। वह मेरा अपमान कर गया। अच्छा, तुम भी इसी दिल्ली में रहते हो और हम भी यहीं हैं। निदान दोनों में गाँठ पड़ गई। बाबू साहब की तबीयत ऐसी गिरी और हृदय में ऐसी चिन्ता उत्पन्न हुई की पार्टी में जाने का ध्यान जाता रहा, वे देर तक इसी उलझन में पड़े रहे। फिर सूट उतार दिया और सेवक से बोले—जा, मुनीमजी को बुला ला! मुनीमजी आये, उनका हिसाब देखा गया, फिर बैंकों का एकाउण्ट देखा, किन्तु ज्यों-ज्यों इस घाटी में उतरते गये, त्यों-त्यों अँधेरा बढता गया। बहुत कुछ टटोला, कुछ हाथ न आया। अन्त मे निराश होकर वे आराम-कुर्सी पर पड़ गये और उन्होंने एक ठण्डी साँस ले ली। दूकानों का माल बिका, किन्तु रुपया बकाया में पड़ा हुआ था। कई ग्राहकों की दूकानें टूट गई और उनपर जो नक़द रुपया बकाया था, वह डूब गया। कलकत्ते के अढतियों से जो माल मँगाया था, रुपये चुकाने की तिथि सिर पर आ पहुँची और यहाँ रुपया वसूल न हुआ। दूकानों का यह हाल, बैंकों का इससे भी बुरा। रात-भर वे इन्हीं चिन्ताओं में करवटें बदलते रहे। अब क्या करना चाहिए? गिरधारीलाल सज्जन पुरुष है। यदि सारा कच्चा हाल उसे सुना दूँ तो अवश्य मान जायगा, किन्तु यह कष्टप्रद कार्य होगा कैसे? ज्यों-ज्यों प्रात काल समीप आता था, त्यों-त्यों उनका दिल बैठा जाता था। कच्चे विद्यार्थी की जो दशा परीक्षा के सन्निकट आने पर होती है, वही हाल इस समय रामरक्षा का था। वे पलग से न उठे। मुँह-हाथ भी न धोया, खाने की कौन कहे। इतना जानते थे कि दुःख पड़ने पर कोई किसीका साथी नहीं होता, इसलिए एक

आपत्ति से बचने के लिए कई आपत्तियों का बोझा न उठाना पड़े। मित्रों को इन मामलों की खबर तक न दी। जब दोपहर हो गया और उनकी दशा ज्यों-की-त्यों रही, तो उनका छोटा लड़का बुलाने आया। उसने बाप का हाथ पकड़कर कहा—

लालाजी, आज काने क्यों नहीं तलते!

रामरक्षा—भूख नहीं है।

'क्या काया है?'

'मन की मिठाई।'

'और क्या काया है!'

'मार।'

'किचने मारा?'

'गिरधारीलाल ने।'

लड़का रोता हुआ घर में गया और इस मार की चोट से देर तक रोता रहा। अन्त में तश्तरी में रखी हुई दूध की मलाई ने उसकी इस चोट पर मरहम का काम दिया।

(३)

रोगी को जब जीने की आशा नहीं रहती, तो औषधि छोड़ देता है। मिस्टर रामरक्षा जब इस गुत्थी को न सुलझा सके, तो चादर तान ली और मुँह लपेटकर सो रहे। शाम को एकाएक उठकर सेठजी के यहाँ पहुँचे और कुछ असावधानी से बोले—

महाशय! मैं आपका हिसाब नहीं कर सकता।

सेठजी घबराकर बोले—क्यों?

रामरक्षा—इसलिए कि मैं इस समय दरिद्र-निहग हूँ। मेरे पास एक कौड़ी भी नहीं है। आप अपना रुपया जैसे चाहें, वसूल कर लें।

सेठ—यह आप कैसी बातें कहते हैं?

रामरक्षा—बहुत सच्ची।

सेठ—दुकानें नहीं हैं?

रामरक्षा—दूकानें आप मुफ्त ले जाइए।

सेठ—बैंक के हिस्से?

रामरक्षा—वह कबके उड़ गये।

सेठ—जब यह हाल था, तो आपको उचित नहीं था कि मेरे गले पर छुरी फेरते?

रामरक्षा—(अभिमान से) मैं आपके यहाँ उपदेश सुनने के लिए नहीं आया हूँ।

यह कहकर मिस्टर रामरक्षा वहाँ से चल दिये। सेठजी ने तुरन्त नालिश कर दी। बीस हजार मूल, पाँच हजार ब्याज। डिगरी हो गई। मकान नीलाम पर चढ़ा। पन्द्रह हजार की जायदाद पाँच हजार में निकल गई। दस हज़ार की मोटर चार हजार मे बिकी। सारी सम्पत्ति उड़ जाने पर कुल मिलाकर सोलह हजार से अधिक रकम न खड़ी हो सकी। सारी गृहस्थी नष्ट हो गई, तब भी दस हजार के ऋणी रह गये। मान-बड़ाई, धन-दौलत सब मिट्टी में मिल गये। बहुत तेज दौड़नेवाला मनुष्य प्राय मुँह के बल गिर पड़ता है।

(४)

इस घटना के कुछ दिनों पश्चात् दिल्ली म्युनिसिपैलिटी के मेम्बरों का चुनाव आरम्भ हुआ। इस पद के अभिलाषी वोटरों को पूजाएँ करने लगे। दलालों के भाग्य उदय हुए। सम्मतियाँ मोतियों की तोल बिकने लगीं। उम्मेदवार मेम्बरों के सहायक अपने-अपने मुवक्किल के गुणगान करने लगे। चारों ओर चहल-पहल मच गई। एक वकील महाशय ने भरी सभा में मुवक्किल साहब के विषय में कहा—

मैं जिस बुजुर्ग का पैरोकार हूँ वह कोई मामूली आदमी नहीं है। यह वह शख्स है जिसने फ़रजन्द अकबर की शादी में पचीस हजार रुपया सिर्फ रक्स व सरूर में सर्फ कर दिया था।

उपस्थित जनों में प्रशसा की उच्च ध्वनि हुई।

एक दूसरे महाशय ने अपने मुहाल के वोटरों के सम्मुख मुवक्किल की प्रशसा यों की—

मैं यह नहीं कह सकता कि आप सेठ गिरधारीलाल को अपना मेम्बर बनाइए। आप अपना भला-बुरा स्वय समझते हैं, और यह भी नहीं कि सेठजी मेरे द्वारा अपनी प्रशसा के भूखे हों। मेरा निवेदन केवल यही है कि आप जिसे मेम्बर बनायें, पहले उसके गुण-दोषों का भली भाँति परिचय ले लें। दिल्ली में केवल एक मनुष्य है जो गत १० वर्षो से आपकी सेवा कर रहा है। केवल एक आदमी है कि जिसने पानी पहुँचाने और स्वच्छता-प्रबन्धो में हार्दिक धर्म-भाव से सहायता दी है। केवल एक पुरुष है,

जिसको श्रीमान् वायसराय के दरबार में कुर्सी पर बैठने का अधिकार प्राप्त है और आप सब महाशय उसे जानते हैं।

उपस्थित जनों ने तालियाँ बजाई।

सेठ गिरधारीलाल के महल्ले में उनके एक प्रतिवादी थे। नाम था मुंशी फ़ैज़ुल-रहमान खाँ। बड़े जमींदार और प्रसिद्ध वकील थे। बाबू रामरक्षा ने अपनी दृढ़ता, साहस, बुद्धिमत्ता और मृदु भाषण से मुंशीजी साहब की सेवा करनी आरम्भ की। सेठजी को परास्त करने का यह अपूर्व अवसर हाथ आया। वे रात और दिन इसी धुन में लगे रहते। उनकी मीठी और रोचक बातों का प्रभाव उपस्थित जनों पर बहुत ही अच्छा पड़ता। एक बार आपने असाधारण श्रद्धा-उमंग में आकर कहा—मैं डके की चोट कहता हूँ कि मुंशी फ़ैज़ुलरहमान से अधिक योग्य आदमी आपको दिल्ली में न मिल सकेगा। यह वह आदमी है, जिसकी ग़ज़लों पर कविजनों में वाह-वाह मच जाती है। ऐसे श्रेष्ठ आदमी की सहायता करना मैं अपना जातीय और सामाजिक धर्म समझता हूँ। अत्यन्त शोक का विषय है, कि बहुत से लोग इस जातीय और पवित्र काम को व्यक्तिगत लाभ का साधन बनाते हैं। धन और वस्तु है, श्रीमान् वायसराय के दरबार में प्रतिष्ठित होना और वस्तु, किन्तु सामाजिक सेवा, जातीय चाकरी और ही चीज़ है। वह मनुष्य जिसका जीवन ब्याज-प्राप्ति, बेईमानी, कठोरता तथा निर्दयता और सुख-विलास में व्यतीत होता हो, वह इस सेवा के योग्य कदापि नहीं है।

(५)

सेठ गिरधारीलाल इस अन्योक्ति-पूर्ण भाषण का हाल सुनकर क्रोध से आग हो गये। मैं बेईमान हूँ! ब्याज का धन खानेवाला हूँ! विषयी हूँ! कुशल हुई, जो तुमने मेरा नाम नहीं लिया; किन्तु अब भी तुम मेरे हाथ में हो, मैं अब भी तुम्हें जिस तरह चाहूँ, नचा सकता हूँ। खुशामदियों ने आग पर तेल डाला। इधर रामरक्षा अपने काम मे तत्पर रहे। यहाँ तक कि 'वोटिंग-डे' आ पहुँचा। मिस्टर रामरक्षा को उद्योग में बहुत कुछ सफलता प्राप्त हुई थी। आज वे बहुत प्रसन्न थे। आज गिरधारीलाल को नीचा दिखाऊँगा। आज उसको जान पड़ेगा कि धन संसार के सब पदार्थों को इकट्ठा नहीं कर सकता। जिस समय फैज़ुलरहमान के वोट अधिक निकलेंगे और मैं तालियाँ बजाऊँगा, उस समय गिरधारीलाल का चेहरा देखने योग्य होगा। मुँह का रङ्ग बदल जायगा, हवाइयाँ उड़ने लगेंगी, आँखें न मिला सकेगा। शायद फिर मुझे मुँह न दिखा सके। इन्हीं

विचारों में मग्न रामरक्षा शाम को टाउनहाल मे पहुँचे। उपस्थित सभ्यों ने बड़ी उमग के साथ उनका स्वागत किया। थोड़ी देर बाद 'वोटिङ्ग' आरम्भ हुआ। मेम्बरी मिलने की आशा रखनेवाले महानुभाव अपने-अपने भाग्य का अन्तिम फल सुनने के लिए आतुर हो रहे थे। छः बजे चेयरमैन ने फैसला सुनाया। सेठजी की हार हो गई। फैजुलरहमान ने मैदान मार लिया। रामरक्षा ने हर्ष के आवेग में टोपी हवा मे उछाल दी और वे स्वय भी कई बार उछल पड़े। महल्लेवालों को अचम्भा हुआ। चाँदनी-चौक से सेठजी को हटाना मेरु को स्थान से उखाड़ना था। सेठजी के चेहरे से रामरक्षा को जितनी आशाएँ थीं, वे सब पूरी हो गई। उनका रङ्ग फीका पड़ गया था। वे खेद और लज्जा की मूर्ति बने हुए थे। एक वकील साहब ने उनसे सहानुभूति प्रकट करते हुए कहा—"सेठजी, मुझे आपकी हार का बहुत बड़ा शोक है। मैं जानता कि खुशी के बदले रञ्ज होगा, तो कभी यहाँ न आता। मैं तो केवल आपके ख्याल से यहाँ आया था।" सेठजी ने बहुत रोकना चाहा, परन्तु आँखों में आँसू डब-डबा ही गये। वे निःस्पृह बनने का व्यर्थ प्रयत्न करके बोले—"वकील साहब, मुझे इसकी कुछ चिन्ता नहीं। कौन रियासत निकल गई? व्यर्थ उलझन, चिन्ता तथा झञ्झट रहती थी। चलो, अच्छा हुआ। गला छूटा। अपने काम में हरज होता था। सत्य कहता हूँ, मुझे तो हृदय से प्रसन्नता ही हुई। यह काम तो बेकामवालों के लिए है, घर न बैठे रहे, यही बेगार की। मेरी मूर्खता थी कि मैं इतने दिनों तक आँखें बन्द किये बैठा रहा।" परन्तु सेठजी की मुखाकृति ने इन विचारों का प्रमाण न दिया। मुखमण्डल हृदय का दर्पण है, इसका निश्चय अलबत्ता हो गया।

किन्तु बाबू रामरक्षा बहुत देर तक इस आनन्द का मज़ा न लूटने पाये और न सेठजी को बदला लेने के लिए बहुत देर तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। सभा विसर्जित होते ही जब बाबू रामरक्षा सफलता की उमग मे ऐंठते, मोंछ पर ताव देते और चारो ओर गर्व की दृष्टि डालते हुए बाहर आये, तो दीवानी के तीन सिपाहियों ने आगे बढकर उन्हे गिरफ्तारी का वारण्ट दिखा दिया। अबकी बाबू रामरक्षा के चेहरे का रग उतर जाने की, और सेठजी के इस मनोवाछित दृश्य से आनन्द उठ आने की बारी थी। गिरधारीलाल ने आनन्द की उमग में तालियाँ तो न बजाई, परन्तु मुस्कुराकर मुँह फेर लिया। रङ्ग में भङ्ग पड़ गया।

आज इस विजय के उपलक्ष्य में मुशी फैजुलरहमान ने पहले ही से एक बड़े

समारोह के साथ गार्डनपार्टी की तैयारियाँ की थीं। मिस्टर रामरक्षा इसके प्रबन्ध-कर्त्ता थे। आज की 'आफ्टर डिनर' स्पीच उन्होंने बड़े परिश्रम से तैयार की थी; किन्तु इस वारंट ने सारी कामनाओं का सत्यानाश कर दिया। यों तो बाबू साहब के मित्रों में ऐसा कोई भी न था जो दस हज़ार रुपये की ज़मानत दे देता, अदा कर देने का तो जिक्र ही क्या, किन्तु कदाचित् ऐसा होता भी तो सेठजी अपने को भाग्यहीन समझते। दस हजार रुपया और म्युनिसिपैल्टी की प्रतिष्ठित मेम्बरी खोकर उन्हें इस समय यह हर्ष प्राप्त हुआ था।

मिस्टर रामरक्षा के घर पर ज्योंही यह खबर पहुँची, कुहराम मच गया। उनकी स्त्री पछाड़ खाकर पृथ्वी पर गिर पड़ी। जब कुछ होश में आई तो रोने लगी, और रोने से छुट्टी मिली तो उसने गिरधारीलाल को कोसना आरम्भ किया। देवी-देवता मनाने लगी। उन्हें रिश्वतें देने पर तैयार हुई कि वे गिरधारीलाल को किसी प्रकार निगल जायँ। इस बड़े भारी काम में वह गंगा और यमुना से सहायता माँग रही थी, प्लेग और विसूचिका की खुशामदें कर रही थी कि ये दोनों मिलकर इस गिरधारीलाल को हड़प ले जायँ, किन्तु गिरधारी का कोई दोष नहीं। दोष तुम्हारा है। बहुत अच्छा हुआ। तुम इस पूजा के देवता थे। क्या अब दावतें न खिलाओगे? मैंने तुम्हें कितना समझाया, रोई, रूठी, बिगड़ी, किन्तु तुमने एक न सुनी। गिरधारीलाल ने बहुत अच्छा किया। तुम्हें शिक्षा तो मिल गई, किन्तु तुम्हारा भी दोष नहीं। यह सब आग मैंने लगाई है। मखमली स्लीपरों के बिना मेरे पाँव नहीं उठते थे। बिना जड़ाऊ कड़ों के मुझे नींद न आती थी। सेजगाड़ी मेरे ही लिए मँगवाई गई। अँगरेजी पढ़ने के लिए मेम साहबा को मैंने ही रखा। ये सब काँटे मैंने ही बोये हैं।

मिसेज़ रामरक्षा बहुत देर तक इन्हीं विचारों में डूबी रही। जब रात-भर करवटें बदलने के बाद वह सवेरे उठी, तो उसके विचार चारों ओर से ठोकरें खाकर केवल एक केन्द्र पर जम गये। गिरधारीलाल बड़ा बदमाश और घमंडी है। मेरा सब कुछ लेकर भी उसे सन्तोष नहीं हुआ। इतना भी इस निर्दयी कसाई से न देखा गया। भिन्न-भिन्न प्रकार के विचारों ने मिलकर एक रूप धारण किया और क्रोधाग्नि को दहकाकर प्रबल कर दिया। ज्वालामुखी शीशे में जब सूर्य की किरणें एक होती हैं, तब अग्नि प्रकट हो जाती है। इस स्त्री के हृदय में रह-रहकर क्रोध की एक असाधारण लहर उत्पन्न होती थी। बच्चे ने मिठाई के लिए हठ किया, इसपर बरस पड़ी।

महरी ने चौका-बरतन करके चूल्हे में आग जला दी, उसके पीछे पड़ गई—मैं तो अपने दु खों को रो रही हूँ, इस चुड़ैल को रोटियों की धुन सवार है। निदान ९ बजे उससे न रहा गया। उसने यह पत्र लिखकर अपने हृदय की ज्वाला ठढी की—

"सेठजी, तुम्हें अब अपने धन के घमड ने अन्धा कर दिया है, किन्तु किसी का घमण्ड इसी तरह सदा नहीं रह सकता। कभी-न-कभी सिर अवश्य नीचा होता है। अफसोस कि कल शाम को जब तुमने मेरे प्यारे पति को पकड़वाया है, मैं वहाँ मौजूद न थी, नहीं तो अपना और तुम्हारा रक्त एक कर देती। तुम धन के मद में भूले हुए हो। मैं उसी दम तुम्हारा नशा उतार देती। एक स्त्री के हाथों अपमानित होकर तुम फिर किसीको मुँह दिखाने लायक न रहते। अच्छा, इसका बदला तुम्हें किसी-न-किसी तरह ज़रूर मिल जायगा। मेरा कलेजा उस दिन ठण्डा होगा, जब तुम निर्वंश हो जाओगे और तुम्हारे कुल का नाम मिट जायगा।"

सेठजी पर यह फटकार पड़ी तो वे क्रोध से आग हो गये। यद्यपि क्षुद्र-हृदय के मनुष्य न थे, परतु क्रोध के आवेग में सौजन्य का चिह्न भी शेष नहीं रहता। यह ध्यान न रहा कि यह एक दु खिनी की क्रन्दन-ध्वनि है, एक सताई स्त्री की मानसिक दुर्बलता का विकार है। उसकी धन-हीनता और विवशता पर उन्हें तनिक भी दया न आई। वे मरे हुए को मारने का उपाय सोचने लगे।

(६)

इसके तीसरे दिन सेठ गिरधारीलाल पूजा के आसन पर बैठे हुए थे, महरा ने आकर कहा—सरकार, कोई स्त्री आपसे मिलने आई है। सेठजी ने पूछा—कौन स्त्री है? महरा ने कहा—सरकार, मुझे क्या मालूम, लेकिन है कोई भलेमानुस! रेशमी साड़ी पहने हुए है। हाथ में सोने के कड़े हैं। पैरों में टाट के स्लीपर हैं। बड़े घर की स्त्री जान पड़ती है।

यों साधारणत सेठजी पूजा के समय किसीसे नहीं मिलते थे। चाहे कैसा ही आवश्यक काम क्यों न हो, ईश्वरोपासना में सामाजिक बाधाओं को घुसने नहीं देते थे। किन्तु ऐसी दशा में जब कि बड़े घर की स्त्री मिलने के लिए आये, तो थोड़ी देर के लिए पूजा में विलम्ब करना निन्दनीय नहीं कहा जा सकता। ऐसा विचार करके वे नौकर से बोले—उन्हें बुला लाओ।

जब वह स्त्री आई तो सेठजी स्वागत के लिए उठकर खड़े हो गये। तत्पश्चात्

अत्यन्त कोमल वचनों से कारुणिक शब्दों में बोले—माता, कहाँ से आना हुआ? और जब यह उत्तर मिला कि वह अयोध्या से आई है, तो आपने उसे फिर से दण्डवत् किया और चीनी तथा मिश्री से भी अधिक मधुर और नवनीत से भी अधिक चिकने शब्दों में कहा—अच्छा, आप श्रीअयोध्याजी से आ रही हैं! उस नगरी का क्या कहना? देवताओं की पुरी है। बड़े भाग्य थे कि आपके दर्शन हुए। यहाँ आपका आगमन कैसे हुआ? स्त्री ने उत्तर दिया—घर तो मेरा यहीं है। सेठजी का मुख पुन. मधुरता का चित्र बना। वे बोले—अच्छा, तो मकान आपका इसी शहर में है! तो आपने माया-जजाल को त्याग दिया? यह तो मैं पहले ही समझ गया था। ऐसी पवित्र आत्माएँ ससार में बहुत थोड़ी हैं। ऐसी देवियों के दर्शन दुर्लभ होते हैं। आपने मुझे दर्शन दिया, बड़ी कृपा की। मैं इस योग्य नहीं, जो आप-जैसी विदुषियों की कुछ सेवा कर सकूँ; किन्तु जो काम मेरे योग्य हो—जो कुछ मेरे किये हो सकता हो—उसके करने के लिए मैं सब भाँति से तैयार हूँ। यहाँ सेठ साहूकारों ने मुझे बहुत बदनाम कर रखा है, मैं सबकी आँखों में खटकता हूँ। उसका कारण सिवा इसके और कुछ नहीं कि जहाँ वे लोग लाभ पर ध्यान रखते हैं, वहाँ मैं भलाई पर ध्यान रखता हूँ। यदि कोई बड़ी अवस्था का वृद्ध मनुष्य मुझसे कुछ कहने-सुनने के लिए आता है, तो विश्वास मानो, मुझसे उसका वचन टाला नहीं जाता। कुछ बुढापे का विचार; कुछ उसके दिल टूट जाने का डर, कुछ यह ख्याल कि कहीं यह विश्वासघातियों के फन्दे मे न फँस जाय मुझे उसकी इच्छाओं की पूर्ति के लिए विवश कर देता है। मेरा यह सिद्धान्त है कि अच्छी जायदाद और कम ब्याज। किन्तु इस प्रकार की बातें आपके सामने करना व्यर्थ है। आपसे तो घर का मामला है। मेरे योग्य जो कुछ काम हो, उसके लिए मैं सिर-आँखों से तैयार हूँ।

वृद्ध स्त्री—मेरा काम आप ही से हो सकता है।

सेठजी—(प्रसन्न होकर) बहुत अच्छा—आज्ञा दो।

स्त्री—मैं आपके सामने भिखारिनी बनकर आई हूँ। आपको छोड़कर कोई मेरा सवाल पूरा नहीं कर सकता।

सेठजी—कहिए, कहिए।

स्त्री—आप राम-रक्षा को छोड़ दीजिए।

सेठजी के मुख का रङ्ग उतर गया। सारे हवाई किले जो अभी-अभी तैयार हुए

थे, गिर पड़े। वे बोले—उसने मेरी बहुत हानि की है। उसका घमंड तोड़ डालूँगा, तब छोड़ूँगा।

स्त्री—तो क्या कुछ मेरे बुढ़ापे का, मेरे हाथ फैलाने का, कुछ अपनी बड़ाई का विचार न करोगे? बेटा, ममता बुरी होती है। संसार से नाता टूट जाय, धन जाय, धर्म जाय, किन्तु लड़के का स्नेह हृदय से नहीं जाता। संतोष सब कुछ कर सकता है। किन्तु बेटे का प्रेम माँ के हृदय से नहीं निकाल सकता। इसपर हाकिम का, राजा का, यहाँ तक कि ईश्वर का भी बस नहीं है। तुम मुझपर तरस खाओ। मेरे लड़के की जान छोड़ दो, तुम्हें बड़ा यश मिलेगा। मैं जब तक जीऊँगी, तुम्हें आशीर्वाद देती रहूँगी।

सेठजी का हृदय कुछ पसीजा। पत्थर की तह में पानी रहता है, किन्तु तत्काल ही उन्हें मिसेज़ रामरक्षा के पत्र का ध्यान आ गया। वे बोले—मुझे रामरक्षा से कोई उतनी शत्रुता नहीं थी। यदि उन्होंने मुझे न छेड़ा होता, तो मैं न बोलता। आपके कहने से मैं अब भी उनका अपराध क्षमा कर सकता हूँ। परन्तु उनकी बीबी साहबा ने जो पत्र मेरे पास भेजा है, उसे देखकर शरीर में आग लग जाती है। दिखाऊँ आपको? रामरक्षा की माँ ने पत्र लेकर पढ़ा तो उनकी आँखों में आँसू भर आये। वे बोलीं—बेटा, उस स्त्री ने मुझे बहुत दुःख दिया है। उसने मुझे देश से निकाल दिया। उसका मिजाज और जबान उसके वश में नहीं, किन्तु इस समय उसने जो गर्व दिखाया है, उसका तुम्हें ख्याल नहीं करना चाहिए। तुम इसे भुला दो। तुम्हारा देश-देश में नाम है। यह नेकी तुम्हारे नाम को और भी फैला देगी। मैं तुमसे प्रण करती हूँ कि सारा समाचार रामरक्षा से लिखवाकर किसी अच्छे समाचार-पत्र में छपवा दूँगी। रामरक्षा मेरा कहना नहीं टालेगा। तुम्हारे इस उपकार को वह कभी न भूलेगा। जिस समय ये समाचार संवादपत्रों में छपेंगे, उस समय हजारों मनुष्यों को तुम्हारे दर्शन की अभिलाषा होगी। सरकार में तुम्हारी बड़ाई होगी और मैं सच्चे हृदय से कहती हूँ कि शीघ्र ही तुम्हें कोई-न-कोई पदवी मिल जायगी। रामरक्षा की अँगरेज़ों से बहुत मित्रता है, वे उसकी बात कभी न टालेंगे।

सेठजी के हृदय में गुदगुदी पैदा हो गई। यदि इस व्यवहार से वह पवित्र और माननीय स्थान प्राप्त हो जाय—जिसके लिए हज़ारों खर्च किये, हजारों डालियाँ दीं, हज़ारों अनुनय-विनय कीं, हज़ारों खुशामदें कीं, खानसामों की झिड़कियाँ सहीं, बँगलों

के चक्कर लगाये—तो इस सफलता के लिए ऐसे कई हज़ार मैं खर्च कर सकता हूँ। निस्संदेह मुझे इस काम में रामरक्षा से बहुत कुछ सहायता मिल सकती है ; किन्तु इन विचारों को प्रकट करने से क्या लाभ ? उन्होंने कहा—माता, मुझे नाम-नमूद की बहुत चाह नहीं है। बड़ों ने कहा है—'नेकी कर और दरिया मे डाल। मुझे तो आपकी बात का ख्याल है। पदवी मिले तो लेने से इन्कार नहीं, न मिले तो उसकी तृष्णा नहीं, परन्तु यह तो बताइए कि मेरे रुपयों का क्या प्रबन्ध होगा ? आपको मालूम होगा कि मेरे दस हज़ार रुपये आते हैं।

रामरक्षा की माँ ने कहा—तुम्हारे रुपये की ज़मानत मैं करती हूँ। यह देखो, बगाल-बक की पास-बुक है। उसमें मेरा दस हज़ार रुपया जमा है। उस रुपये से तुम रामरक्षा को कोई व्यवसाय करा दो। तुम उस दूकान के मालिक रहोगे, रामरक्षा को उसका मैनेजर बना देना। जब तक वह तुम्हारे कहे पर चले, तब तक निभाना, नहीं तो दूकान तुम्हारी है। मुझे उसमें से कुछ नहीं चाहिए। मेरी खोज-खबर लेनेवाला ईश्वर है। रामरक्षा अच्छी तरह रहे, इससे अधिक मुझे और कुछ न चाहिए। यह कहकर पास-बुक सेठजी को दे दी। माँ के इस अथाह प्रेम ने सेठ जी को विह्वल कर दिया। पानी उबल पड़ा और पत्थर उसके नीचे ढक गया। ऐसे पवित्र दृश्य देखने के लिए जीवन में कम अवसर मिलते हैं। सेठजी के हृदय में परोपकार की एक लहर-सी उठी। उनकी आँखें डबडबा आई। जिस प्रकार पानी के बहाव से कभी-कभी बाँध टूट जाता है, उसी प्रकार परोपकार की इस उमग ने स्वार्थ और माया के बाँध को तोड़ दिया। वे पास-बुक वृद्धा स्त्री को वापस देकर बोले—माता, यह अपनी किताब लो। मुझे अब अधिक लज्जित न करो। यह देखो, रामरक्षा का नाम बही से उड़ा देता हूँ। मुझे कुछ नहीं चाहिए, मैंने अपना सब कुछ पा लिया। आज तुम्हारा रामरक्षा तुमको मिल जायगा।

इस घटना के दो वर्ष उपरान्त टाउनहाल में फिर एक बड़ा जलसा हुआ। बैंड बज रहा था। झंडियाँ और ध्वजाएँ वायु-मण्डल में लहरा रही थीं। नगर के सभी माननीय पुरुष उपस्थित थे। लैंडो, फिटन और मोटरों से हाता भरा हुआ था। एका-एक मुश्की घोड़ों की एक फिटन ने हाते में प्रवेश किया। सेठ गिरधारीलाल बहुमूल्य वस्त्रों से सजे हुए उसमें से उतरे। उनके साथ एक फैशनेबुल नवयुवक अँगरेजी सूट पहने मुसकराता हुआ उतरा। ये मिस्टर रामरक्षा थे। वे अब सेठजी की एक खास

दूकान के मैनेजर हैं। केवल मैनेजर ही नहीं, किन्तु उन्हें मैनेजिग प्रोप्राइटर समझना चाहिए। दिल्ली दरबार में सेठजी को भी रायबहादुर का पद मिला है। आज डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट नियमानुसार इसकी घोषणा करेंगे और नगर के माननीय पुरुषों की ओर से सेठजी को धन्यवाद देने के लिए यह बैठक हुई है। सेठजी की ओर से धन्यवाद का वक्तव्य मिस्टर रामरक्षा करेंगे। जिन लोगों ने उनकी वक्तृताएँ सुनी हैं, वे बहुत उत्सुकता से उस अवसर की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

बैठक समाप्त होने पर सेठजी रामरक्षा के साथ अपने भवन पर पहुँचे तो मलूमर हुआ कि आज वही वृद्धा स्त्री उनसे फिर मिलने आई है। सेठजी दौड़कर रामरक्षा की माँ के चरणों से लिपट गये। उनका हृदय इस समय नदी की भाँति उमड़ा हुआ था।

'रामरक्षा ऐण्ड फ्रेंड्स' नामक चोनी बनाने का कारखाना बहुत उन्नति पर है। रामरक्षा अब भी उसी ठाट-बाट से जीवन व्यतीत कर रहे हैं, किन्तु पार्टियाँ कम देते हैं और दिनभर मे तीन से अधिक सूट नहीं बदलते। वे अब उस पत्र को जो उनकी स्त्री ने सेठजी को लिखा था, ससार की एक बहुत अमूल्य वस्तु समझते हैं औ मिसेज़ रामरक्षा को भी अब सेठजी के नाम मिटाने की अधिक चाह नहीं है। क्योंकि अभी हाल में जब लड़का पैदा हुआ था, तो मिसेज़ रामरक्षा ने अपना सुवर्ण कंकण धाय को उपहार दिया और मनों मिठाई बाँटी थी।

यह सब हो गया, किन्तु वह बात जो अब होनी चाहिए थी, वह न हुई। रामरक्षा की माँ अब भी अयोध्या रहती हैं और अपनी पुत्रवधू की सूरत नहीं देखना चाहतो।

मन्त्र

(१)

सन्ध्या का समय था। डाक्टर चड्ढा गोल्फ खेलने को तैयार हो रहे थे। मोटर द्वार के सामने खड़ी थी कि दो कहार एक डोली लिये आते दिखाई दिये। डोली के पीछे एक बूढ़ा लाठी टेकता चला आता था। डोली औषधालय के सामने आकर रुक गई। बूढ़े ने धीरे-धीरे आकर द्वार पर पड़ी हुई चिक से झाँका। ऐसी साफ-सुथरी जमीन पर पैर रखते हुए भय हो रहा था कि कोई घुड़क न बैठे। डाक्टर साहब को मेज़ के सामने खड़े देखकर भी उसे कुछ कहने का साहस न हुआ।

डाक्टर साहब ने चिक के अन्दर से गरजकर कहा—कौन है? क्या चाहता है?

बूढ़े ने हाथ जोड़कर कहा—हजूर, बड़ा गरीब आदमी हूँ। मेरा लड़का कई दिन से

डाक्टर साहब ने सिगार जलाकर कहा—कल सबेरे आओ, कल सबेरे, हम इस वक्त मरीज़ों को नहीं देखते।

बूढ़े ने घुटने टेककर जमीन पर सिर रख दिया और बोला—दुहाई है सरकार की, लड़का मर जायगा। हजूर, चार दिन से आँखें नहीं

डाक्टर चड्ढा ने कलाई पर नज़र डाली। केवल १० मिनट समय और बाकी था। गोल्फ-स्टिक खूँटी से उतारते हुए बोले—कल सबेरे आओ, कल सबेरे, यह हमारे खेलने का समय है।

बूढ़े ने पगड़ी उतारकर चौखट पर रख दी और रोकर बोला—हजूर, एक निगाह देख लें। बस, एक निगाह! लड़का हाथ से चला जायगा हजूर, सात लड़कों में यही एक बच रहा है हजूर, हम दोनों आदमी रो-रोकर मर जायँगे सरकार! आपकी बढ़ती होय, दीनबन्धु।

ऐसे उजड्ड देहाती यहाँ प्राय रोज ही आया करते थे। डाक्टर साहब उनके स्वभाव से खूब परिचित थे। कोई कितना ही कुछ कहे; पर वे अपनी ही रट लगाते जायँगे। किसीकी सुनेंगे नहीं। धीरे से चिक उठाई और बाहर निकलकर मोटर की तरफ चले। बूढा यह कहता हुआ उनके पीछे दौड़ा—सरकार, बड़ा धरम होगा, हजूर, दया कीजिए, बड़ा दीन-दुःखी हूँ, ससार में कोई और नहीं है, बाबूजी!

मगर डाक्टर साहब ने उसकी ओर मुँह फेरकर देखा तक नहीं। मोटर पर बैठकर बोले—कल सवेरे आना।

मोटर चली गई। बूढ़ा कई मिनट तक मूर्ति की भाँति निश्चल खड़ा रहा। ससार में ऐसे मनुष्य भी होते हैं, जो अपने आमोद-प्रमोद के आगे किसीकी जान की भी परवा नहीं करते, शायद इसका उसे अब भी विश्वास न आता था। सभ्य-ससार इतना निर्मम, इतना कठोर है, इसका ऐसा मर्मभेदी अनुभव अब तक न हुआ था। वह उन पुराने जमाने के जीवों मे था, जो लगी हुई आग को बुझाने, मुर्दे को कन्धा देने, किसीके छप्पर को उठाने और किसी कलह को शान्त करने के लिए सदैव तैयार रहते थे। जब तक बूढे को मोटर दिखाई दी, वह खड़ा टकटकी लगाये उस ओर ताकता रहा। शायद उसे अब भी डाक्टर साहब के लौट आने की आशा थी। फिर उसने कहारों से डोली उठाने को कहा। डोली जिधर से आई थी, उधर ही चली गई। चारों ओर से निराश होकर वह डाक्टर चड्ढा के पास आया था। इनकी बड़ी तारीफ सुनी थी। यहाँ से निराश होकर फिर वह किसी दूसरे डाक्टर के पास न गया। किस्मत ठोक ली!

उसी रात को उसका हँसता-खेलता सात साल का बालक अपनी बाल-लीला समाप्त करके इस ससार से सिधार गया। बूढे माँ-बाप के जीवन का यही एक आधार था। इसीका मुँह देखकर जीते थे। इस दीपक के बुझते ही जीवन की अँधेरी रात भाँय-भाँय करने लगी। बुढापे की विशाल ममता टूटे हुए हृदय से निकलकर उस अन्धकार मे आर्त-स्वर से रोने लगी।

(२)

कई साल गुजर गये। डाक्टर चड्ढा ने खूब यश और धन कमाया, लेकिन इसके साथ ही अपने स्वास्थ्य की रक्षा भी की, जो एक असाधारण बात थी। यह उनके नियमित जीवन का आशीर्वाद था कि ५० वर्ष की अवस्था मे उनकी चुस्ती

और फुर्ती युवकों को भी लज्जित करती थी। उनके हरएक काम का समय नियत था, इस नियम से वह जौ-भर भी न टलते थे। बहुधा लोग स्वास्थ्य के नियमों का पालन उस समय करते हैं, जब रोगी हो जाते हैं। डाक्टर चड्ढा उपचार और संयम का रहस्य खूब समझते थे। उनकी संतान-संख्या भी इसी नियम के अधीन थी। उनके केवल दो बच्चे हुए, एक लड़का और एक लड़की। तीसरी सन्तान न हुई, इसलिए श्रीमती चड्ढा भी अभी जवान मालूम होती थीं। लड़की का तो विवाह हो चुका था। लड़का कालेज में पढ़ता था। वही माता-पिता के जीवन का आधार था। शील और विनय का पुतला, बड़ा ही रसिक, बड़ा ही उदार, विद्यालय का गौरव, युवक-समाज की शोभा। मुख मण्डल से तेज की छटा-सी निकलती थी। आज उसीकी बीसवीं सालगिरह थी।

सन्ध्या का समय था। हरी-हरी घास पर कुरसियाँ बिछी हुई थीं। शहर के रईस और हुक्काम एक तरफ, कालेज के छात्र दूसरी तरफ, बैठे भोजन कर रहे थे। बिजली के प्रकाश से सारा मैदान जगमगा रहा था। आमोद-प्रमोद का सामान भी जमा था। छोटा-सा प्रहसन खेलने की तैयारी थी। प्रहसन स्वयं कैलासनाथ ने लिखा था। वही मुख्य ऐक्टर भी था। इस समय वह एक रेशमी कमीज़ पहने, नंगे सिर, नंगे पाँव, इधर-से-उधर मित्रों की आव-भगत में लगा हुआ था। कोई पुकारता—कैलास, जरा इधर आना; कोई उधर से बुलाता - कैलास, क्या उधर ही रहोगे? सभी उसे छेड़ते थे, चुहलें करते थे। बेचारे को ज़रा दम मारने का अवकाश न मिलता था। सहसा एक रमणी ने उसके पास आकर कहा—क्यों कैलास, तुम्हारे साँप कहाँ हैं? जरा मुझे दिखा दो।

कैलास ने उससे हाथ मिलाकर कहा—मृणालिनी, इस वक्त क्षमा करो, कल दिखा दूँगा।

मृणालिनी ने आग्रह किया—जी नहीं, तुम्हें दिखाना पड़ेगा, मैं आज नहीं मानने की, तुम रोज़ कल-कल करते रहते हो।

मृणालिनी और कैलास दोनों सहपाठी थे और एक दूसरे के प्रेम में पगे हुए। कैलास को साँपों के पालने, खेलाने और नचाने का शौक था। तरह तरह के साँप पाल रखे थे। उनके स्वभाव और चरित्र की परीक्षा करता रहता था। थोड़े दिन हुए, उसने विद्यालय में 'साँपों' पर एक मारके का व्याख्यान दिया था। साँपों को नचा-

कर दिखाया भी था। प्राणि-शास्त्र के बड़े-बड़े पण्डित भी यह व्याख्यान सुनकर दंग रह गये थे। यह विद्या उसने एक बूढ़े सपेरे से सीखी थी। साँपों की जड़ी-बूटियाँ जमा करने का उसे मरज़ था। इतना पता भर मिल जाय कि किसी व्यक्ति के पास कोई अच्छी जड़ी है, फिर उसे चैन न आता था। उसे लेकर ही छोड़ता था। यही व्यसन था। इस पर हज़ारों रुपये फूँक चुका था। मृणालिनी कई बार आ चुकी थी; पर कभी साँपों के देखने के लिए इतनी उत्सुक न हुई थी। कह नहीं सकते, आज उसकी उत्सुकता सचमुच जाग गई थी या वह कैलास पर अपने अधिकार का प्रदर्शन करना चाहती थी, पर उसका आग्रह बेमौक़ा था। उस कोठरी में कितनी भीड़ लग जायगी, भीड़ को देखकर साँप कितने चौंकेंगे और रात के समय उन्हें छेड़ा जाना कितना बुरा लगेगा, इन बातों का उसे ज़रा भी ध्यान न आया।

कैलास ने कहा - नहीं, कल ज़रूर दिखा दूँगा। इस वक्त अच्छी तरह दिखा भी तो न सकूँगा, कमरे में तिल रखने की जगह भी न मिलेगी।

एक महाशय ने छेड़कर कहा—दिखा क्यों नहीं देते जी, जरा-सी बात के लिए इतना टालमटोल कर रहे हो। मिस गोविन्द, हर्गिज न मानना। देखें, कैसे नहीं दिखाते!

दूसरे महाशय ने और रद्दा चढ़ाया—मिस गोविन्द इतनी सीधी और भोली हैं, तभी आप इतना मिज़ाज करते हैं; दूसरी सुन्दरी होती, तो इसी बात पर बिगड़ खड़ी होती।

तीसरे साहब ने मज़ाक़ उड़ाया—अजी, बोलना छोड़ देती। भला कोई बात है! इस पर आपको दावा है कि मृणालिनी के लिए जान हाज़िर है।

मृणालिनी ने देखा कि ये शोहदे उसे चंग पर चढ़ा रहे हैं, तो बोली—आप लोग मेरी वकालत न करें, मैं खुद अपनी वकालत कर लूँगी। मैं इस वक्त साँपों का तमाशा नहीं देखना चाहती। चलो, छुट्टी हुई।

इस पर मित्रों ने ठट्ठा लगाया। एक साहब बोले—देखना तो आप सब कुछ चाहें, पर कोई दिखाये भी तो?

कैलास को मृणालिनी की झेंपी हुई सूरत देखकर मालूम हुआ कि इस वक्त उसका इनकार वास्तव में उसे बुरा लगा है। ज्योंही प्रीति-भोज समाप्त हुआ और गाना शुरू हुआ, उसने मृणालिनी और अन्य मित्रों को साँपों के दरबे के सामने ले

जाकर महुअर बजाना शुरू किया। फिर एक-एक खाना खोलकर एक-एक साँप को निकालने लगा। वाह! क्या कमाल था! ऐसा जान पड़ता था कि ये कीड़े उसकी एक-एक बात, उसके मन का एक-एक भाव समझते हैं। किसीको उठा लिया, किसी-को गरदन में डाल लिया, किसीको हाथ में लपेट लिया। मृणालिनी बार-बार मना करती कि इन्हें गरदन में न डालो, दूर ही से दिखा दो। बस, जरा नचा दो। कैलास की गरदन में साँपों को लिपटते देखकर उसकी जान निकली जाती थी। पछता रही थी कि मैंने व्यर्थ ही इनसे साँप दिखाने को कहा, मगर कैलास एक न सुनता था। प्रेमिका के सम्मुख अपने सर्प-कला-प्रदर्शन का ऐसा अवसर पाकर वह कब चूकता! एक मित्र ने टीका की—दाँत तोड़ डाले होंगे?

कैलाश हँसकर बोला—दाँत तोड़ डालना मदारियों का काम है। किसीके दाँत नहीं तोड़े गये। कहिए तो दिखा दूँ? यह कहकर उसने एक काले साँप को पकड़ लिया और बोला—मेरे पास इससे बड़ा और ज़हरीला साँप दूसरा नहीं है। अगर किसीको काट ले, तो आदमी आनन-फानन मे मर जाय। लहर भी न आये। इसके काटे का मन्त्र नहीं। इसके दाँत दिखा दूँ?

मृणालिनी ने उसका हाथ पकड़कर कहा—नहीं, नहीं, कैलास, ईश्वर के लिए इसे छोड़ दो। तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ।

इस पर एक दूसरे मित्र बोले—मुझे तो विश्वास नहीं आता, लेकिन तुम कहते हो तो मान लूँगा।

कैलाश ने साँप की गरदन पकड़कर कहा—नहीं साहब, आप आँखों से देखकर मानिए। दाँत तोड़कर वश मे किया, तो क्या किया। साँप बड़ा समझदार होता है। अगर उसे विश्वास हो जाय कि इस आदमी से मुझे कोई हानि न पहुँचेगी, तो वह उसे हर्गिज़ न काटेगा।

मृणालिनी ने जब देखा कि कैलास पर इस वक्त भूत सवार है; तो उसने यह तमाशा बन्द करने के विचार से कहा—अच्छा भई, अब यहाँ से चलो, देखो, गाना शुरू हो गया। आज मैं भी कोई चीज सुनाऊँगी। यह कहते हुए उसने कैलास का कंधा पकड़कर चलने का इशारा किया और कमरे से निकल गई, मगर कैलास विरोधियों का शंका-समाधान करके ही दम लेना चाहता था। उसने साँप की गरदन पकड़कर ज़ोर से दबाई, इतनी ज़ोर से दबाई कि उसका मुँह लाल हो गया, देह की सारी

नसें तन गई । साँप ने अब तक उसके हाथों ऐसा व्यवहार न देखा था। उसकी समझ में न आता था कि यह मुझसे क्या चाहते हैं। उसे शायद-भ्रम हुआ कि यह मुझे मार डालना चाहते हैं, अतएव वह आत्मरक्षा के लिए तैयार हो गया।

कैलास ने उसकी गरदन खूब दबाकर मुँह खोल दिया और उसके ज़हरीले दाँत दिखाते हुए बोला—जिन सज्जनों को शक हो, आकर देख ले। आया विश्वास, या अब भी कुछ शक है? मित्रों ने आकर उसके दाँत देखे और चकित हो गये। प्रत्यक्ष प्रमाण के सामने सन्देह को स्थान कहाँ। मित्रों का शका-निवारण करके कैलास ने साँप की गरदन ढीली कर दी और उसे ज़मीन पर रखना चाहा, पर वह काला गेहुवन क्रोध से, पागल हो रहा था। गरदन नरम पड़ते ही उसने सिर उठाकर कैलास को उँगली में ज़ोर से काटा और वहाँ से भागा। कैलास की उँगली से टप-टप खून टपकने लगा। उसने ज़ोर से उँगली दबा ली और अपने कमरे की तरफ दौड़ा। वहा मेज की दराज़ मे एक जड़ी रखी हुई थी, जिसे पीसकर लगा देने से घातक विष भी रफ़ू हो जाता था। मित्रों में हलचल पड़ गई। बाहर महफिल में भी खबर हुई। डाक्टर साहब घबड़ाकर दौड़े। फौरन उँगली की जड़ कसकर बाँधी गई और जड़ी पीसने के लिए दी गई। डाक्टर साहब जड़ी के क़ायल न थे। वह उँगली का डसा भाग नश्तर से काट देना चाहते थे, मगर कैलास को जड़ी पर पूर्ण विश्वास था। मृणालिनी प्यानो पर बैठी हुई थी। यह खबर सुनते ही दौड़ी, और कैलास की उँगली से टपकते हुए खून को रूमाल से पोंछने लगी। जड़ी पीसी जाने लगी, पर उसी एक मिनट मे कैलास की आँखें झपकने लगीं, ओठों पर पीलापन दौड़ने लगा। यहाँ तक कि वह खड़ा न रह सका। फर्श पर बैठ गया। सारे मेहमान कमरे में जमा हो गये। कोई कुछ कहता था, कोई कुछ। इतने में जड़ी पिसकर आ गई। मृणालिनी ने उँगली पर लेप किया। एक मिनट और बीता। कैलास की आँखें बन्द हो गई। वह लेट गया और हाथ से पखा झलने का इशारा किया। माँ ने दौड़कर उसका सिर गोद में रख लिया और बिजली का टेबुल-फैन लगा दिया गया।

डाक्टर साहब ने झुककर पूछा—कैलास, कैसी तबीयत है? कैलास ने धीरे से हाथ उठा दिया। पर कुछ बोल न सका। मृणालिनी ने करुण-स्वर में कहा—क्या जड़ी कुछ असर न करेगी? डाक्टर साहब ने सिर पकड़कर कहा—क्या बतलाऊँ, मैं इसकी बातों में आ गया। अब तो नश्तर से भी कुछ फायदा न होगा।

आध घण्टे तक यही हाल रहा। कैलास की दशा प्रति क्षण बिगड़ती जाती थी। यहाँ तक कि उसकी आँखें पथरा गईं, हाथ-पाँव ठंढे हो गये, मुख की कान्ति मलिन पड़ गई, नाड़ी का कहीं पता नहीं। मौत के सारे लक्षण दिखाई देने लगे। घर में कुहराम मच गया। मृणालिनी एक ओर सिर पीटने लगी, माँ अलग पछाड़ें खाने लगी। डाक्टर चड्ढा को मित्रों ने पकड़ लिया, नहीं तो वह नश्तर अपनी गरदन पर मार लेते।

एक महाशय बोले—कोई मन्त्र झाड़नेवाला मिले, तो सम्भव है, अब भी जान बच जाय।

एक मुसलमान सज्जन ने इसका समर्थन किया—अरे साहब, क़ब्र में पड़ी हुई लाशें ज़िन्दा हो गई हैं। ऐसे-ऐसे बाकमाल पड़े हुए हैं।

डाक्टर चड्ढा बोले—मेरी अक्ल पर पत्थर पड़ गया था कि इसकी बातों में आ गया। नश्तर लगा देता, तो यह नौबत ही क्यों आती। बार-बार समझाता रहा कि बेटा, साँप न पालो, मगर कौन सुनता था। बुलाइए, किसी झाड़-फूँक करनेवाले ही को बुलाइए। मेरा सब कुछ ले ले, मैं अपनी सारी जायदाद उसके पैरों पर रख दूँगा। लँगोटी बाँधकर घर से निकल जाऊँगा, मगर मेरा कैलास, मेरा प्यारा कैलास उठ बैठे। ईश्वर के लिए किसीको बुलाइए।

एक महाशय का किसी झाड़नेवाले से परिचय था। वह दौड़कर उसे बुला लाये; मगर कैलास की सूरत देखकर उसे मन्त्र चलाने की हिम्मत न पड़ी। बोला—अब क्या हो सकता है सरकार, जो कुछ होना था, हो चुका।

अरे मूर्ख, यह क्यों नहीं कहता कि जो कुछ न होना था, हो चुका। जो कुछ होना था, वह कहाँ हुआ? माँ-बाप ने बेटे का सेहरा कहाँ देखा? मृणालिनी का कामना-तरु क्या पल्लव और पुष्प से रंजित हो उठा? मन के वह स्वर्ण-स्वप्न, जिनसे जीवन आनन्द का स्रोत बना हुआ था, क्या वह पूरे हो गये? जीवन के नृत्यमय, तारिका-मण्डित सागर मे आमोद की बहार लूटते हुए क्या उनकी नौका जलमग्न नहीं हो गई? जो न होना था, वह हो गया।

वही हरा-भरा मैदान था, वही सुनहरी चाँदनी एक निःशब्द संगीत की भाँति प्रकृति पर छाई हुई थी, वही मित्र-समाज था। वही मनोरंजन के सामान थे। मगर जहाँ हास्य की ध्वनि थी, वहाँ अब करुण-क्रन्दन और अश्रु-प्रवाह था।

(३)

शहर से कई मील दूर एक छोटे-से घर में एक बूढ़ा और एक बुढ़िया अँगीठी के सामने बैठे जाड़े की रात काट रहे थे। बूढ़ा नारियल पीता था, और बीच-बीच में खाँसता था। बुढ़िया दोनों घुटनियों में सिर डाले आग की ओर ताक रही थी। एक मिट्टी के तेल की कुप्पी ताक पर जल रही थी। घर में न चारपाई थी, न बिछौना। एक किनारे थोड़ी-सी पुआल पड़ी हुई थी। इसी कोठरी में एक चूल्हा था। बुढ़िया दिन-भर उपले और सूखी लकड़ियाँ बटोरती थी। बूढ़ा रस्सी बटकर बाजार में बेच लाता था। यही उनकी जीविका थी। उन्हें न किसीने रोते देखा, न हँसते। उनका सारा समय जीवित रहने में कट जाता था। मौत द्वार पर खड़ी थी, रोने या हँसने की कहाँ फ़ुर्सत। बुढ़िया ने पूछा—कल के लिए सन तो है ही नहीं, काम क्या करोगे?

'जाकर झगड़ू साह से दस सेर सन उधार लाऊँगा।'

'उसके पहले के पैसे तो दिये ही नहीं, और उधार कैसे देगा?'

'न देगा न सही। घास तो कहीं नहीं गई है। दोपहर तक क्या दो आने की भी न काटूँगा?'

इतने में एक आदमी ने द्वार पर आवाज़ दी—भगत, भगत, क्या सो गये? ज़रा किवाड़ खोलो।

भगत ने उठकर किवाड़ खोल दिये। एक आदमी ने अन्दर आकर कहा—कुछ सुना, डाक्टर चड्ढा बाबू के लड़के को साँप ने काट लिया।

भगत ने चौंककर कहा—चड्ढा बाबू के लड़के को! वही चड्ढा बाबू हैं न, जो छावनी में बँगले रहते हैं?

'हाँ-हाँ वही। शहर में हल्ला मचा हुआ है। जाते हो तो जाओ, आदमी बन जाओगे?'

बूढ़े ने कठोर भाव से सिर हिलाकर कहा—मैं नहीं जाता। मेरी बला जाय। वही चड्ढा है। खूब जानता हूँ। भैया को लेकर उन्हींके पास गया था। खेलने जा रहे थे। पैरों पर गिर पड़ा कि एक नज़र देख लीजिए; मगर सीधे मुँह बात तक न की। भगवान् बैठे सुन रहे थे। अब जान पड़ेगा कि बेटे का ग़म कैसा होता है। कई लड़के हैं?

'नहीं जी, यही तो एक लड़का था। सुना है, सबने जवाब दे दिया है।'

'भगवान् बड़ा कारसाज है। उस बखत मेरी आँखों से आंसू निकल पड़े थे पर उन्हें तनिक भी दया न आई थी। मैं तो उनके द्वार पर होता, तो भी बात न पूछता।'

'तो न जाओगे? हमने जो सुना था सो कह दिया।'

'अच्छा किया—अच्छा किया। कलेजा ठण्डा हो गया, आँखें ठण्डी हो गई। लड़का भी ठण्डा हो गया होगा! तुम जाओ। आज चैन की नींद सोऊँगा। (बुढिया से) जरा तमाखू ले ले। एक चिलम और पीऊँगा। अब मालूम होगा लाला को! सारी साहिबी निकल जायगी, हमारा क्या बिगड़ा। लड़के के मर जाने से कुछ राज तो नहीं चला गया? जहाँ छ बच्चे गये थे, वहाँ एक और चला गया, तुम्हारा तो राज सूना हो जायगा। उसी के वास्ते सबका गला दबा-दबाकर जोड़ा था न! अब क्या करोगे? एक बार देखने जाऊँगा; पर कुछ दिन बाद। मिजाज का हाल पूछूँगा।'

आदमी चला गया। भगत ने किवाड़ बन्द कर लिये, तब चिलम पर तमाखू रखकर पीने लगा।

बुढ़िया ने कहा—इतनी रात गए जाड़े-पाले मे कौन जायगा?

'अरे, दोपहर ही होता, तो मैं न जाता। सवारी दरवाजे पर लेने आती, तो भी जानता। भूल नहीं गया हूँ। पन्ना की सूरत आज भी आँखों में फिर रही है। इस निर्दयी ने उसे एक नजर देखा तक नहीं! क्या मैं न जानता था कि वह न बचेगा? खूब जानता था। चड्ढा भगवान् नहीं थे कि उनके एक निगाह देख लेने से अमृत बरस जाता। नहीं, खाली मन की दौड़ थी। जरा तसल्ली हो जाती। बस, इसीलिए उनके पास दौड़ा गया था। अब किसी दिन जाऊँगा और कहूँगा—क्यों साहब, कहिए, क्या रग हैं? दुनिया बुरा कहेगी, कहे, कोई परवाह नहीं। छोटे आदमियों में तो सब ऐब होते ही हैं। बड़ों में कोई ऐब नहीं होता। देवता होते हैं।'

भगत के लिए जीवन में यह पहला अवसर था कि ऐसा समाचार पाकर वह बैठा रह गया हो। ८० वर्ष के जीवन में ऐसा कभी न हुआ कि साँप की खबर पाकर वह दौड़ा न गया हो। माघ-पूस की अँधेरी रात, चैत-बैसाख की धूप और लू, सावन-भादों की चढी हुई नदी और नाले, किसीकी उसने कभी परवाह न की। वह तुरन्त

घर से निकल पड़ता था, निःस्वार्थ, निष्काम। लेने-देने का विचार कभी दिल में आया ही नहीं। यह ऐसा काम ही न था। जान का मूल्य कौन दे सकता है? यह एक पुण्य-कार्य था। सैकड़ों निराशों को उसके मन्त्रों ने जीवन दान दे दिया था, पर आज वह घर से कदम नहीं निकाल सका। यह खबर सुनकर भी सोने जा रहा है।

बुढ़िया ने कहा—तमाखू अंगीठी के पास रखी हुई है। उसके भी आज ढाई पैसे हो गये। देती ही न थी।

बुढ़िया यह कहकर लेटी। बूढ़े ने कुप्पी बुझाई, कुछ देर खड़ा रहा, फिर बैठ गया। अन्त को लेट गया, पर यह खबर उसके हृदय पर बोझ की भाँति रखी हुई थी। उसे मालूम हो रहा था, उसकी कोई चीज खो गई है, जैसे सारे कपड़े गीले हो गये हैं, या पैरों में कीचड़ लगा हुआ है, जैसे कोई उसके मन में बैठा हुआ उसे घर से निकलने के लिए कुरेद रहा है। बुढ़िया जरा देर में खर्राटे लेने लगी। बूढ़े बातें करते-करते सोते हैं और जरा सा खटका होते ही जागते हैं। तब भगत उठा, अपनी लकड़ी उठा ली, और धीरे से किवाड़ खोले।

बुढ़िया ने पूछा—कहाँ जाते हो?

'कहीं नहीं, देखता था कितनी रात है।'

'अभी बहुत रात है, सो जाओ।'

'नींद नहीं आती।'

'नींद काहे को आयेगी? मन तो चड्ढा के घर पर लगा हुआ है।

'चड्ढा ने मेरे साथ कौन-सी नेकी कर दी है जो वहाँ जाऊँ? वह आकर पैरों पड़े, तो भी न जाऊँ।'

'उठे तो तुम इसी इरादे से हो?'

'नहीं री, ऐसा पागल नहीं हूँ कि जो मुझे काँटे बोए, उसके लिए फूल बोता फिरूँ।'

बुढ़िया फिर सो गई। भगत ने किवाड़ लगा दिये और फिर आकर बैठा। पर उसके मन की कुछ वही दशा थी, जो बाजे की आवाज़ कान में पड़ते ही, उपदेश सुननेवालों की होती है। आँखें चाहे उपदेशक की ओर हों; पर कान बाजे ही की ओर होते हैं। दिल में भी बाजे की ध्वनि गूँजती रहती है। शर्म के मारे जगह से

नहीं उठता। निर्दयी प्रतिघात का भाव भगत के लिए उपदेशक था ; पर हृदय उस अभागे युवक की ओर था, जो इस समय मर रहा था, जिसके लिए एक-एक पल का विलम्ब घातक था।

उसने फिर किवाड़ खोले, इतने धीरे से कि बुढ़िया को भी खबर न हुई। बाहर निकल आया। उसी वक्त गाँव का चौकीदार गश्त लगा रहा था। बोला—कैसे उठे भगत ? आज तो बड़ी सरदी है ! कहीं जा रहे हो क्या ?

भगत ने कहा—नहीं जी, जाऊँगा कहाँ ! देखता था, अभी कितनी रात है, भला के बजे होंगे ?

चौकीदार बोला—एक बजा होगा और क्या, अभी थाने से आ रहा था, तो डाक्टर चड्ढा बाबू के बँगले पर बड़ी भीड़ लगी हुई थी। उनके लड़के का हाल तो तुमने सुना होगा, कीड़े ने छू लिया है। चाहे मर भी गया हो। तुम चले जाओ, तो साइत बच जाय। सुना, दस हजार तक देने को तैयार हैं।

भगत—मैं तो न जाऊँ, चाहे वह दस लाख भी दें। मुझे दस हजार या दस लाख लेकर करना क्या है ? कल मर जाऊँगा, फिर कौन भोगनेवाला बैठा हुआ है।

चौकीदार चला गया। भगत ने आगे पैर बढ़ाया। जैसे नशे में आदमी की देह अपने काबू में नहीं रहती, पैर कहीं रखता है, पड़ता कहीं है, कहता कुछ है, जबान से निकलता कुछ है, वही हाल इस समय भगत का था। मन में प्रतीकार था, दम्भ था ; पर कर्म मन के अधीन न था। जिसने कभी तलवार नहीं चलाई, वह इरादा करने पर भी तलवार नहीं चला सकता। उसके हाथ काँपते हैं, उठते ही नहीं।

भगत लाठी खट-खट करता लपका चला जाता था। चेतना रोकती थी, उपचेतना ठेलती थी। सेवक स्वामी पर हावी था।

आधी राह निकल जाने के बाद सहसा भगत रुक गया। हिंसा ने क्रिया पर विजय पाई—मैं यों ही इतनी दूर चला आया। इस जाड़े-पाले में मरने की मुझे क्या पड़ी थी ? आराम से सोया क्यों नहीं ? नींद न आती, न सही, दो-चार भजन ही गाता। व्यर्थ इतनी दूर दौड़ा आया। चड्ढा का लड़का रहे या मरे, मेरी बला से ! मेरे साथ उन्होंने ऐसा कौन-सा सलूक किया था कि मैं उनके लिए मरूँ ? दुनिया में हजारों मरते हैं, हजारों जीते हैं। मुझे किसीके मरने-जीने से मतलब !

मगर उपचेतना ने अब एक दूसरा रूप धारण किया, जो हिंसा से बहुत-कुछ

मिलता-जुलता था — वह झाड़-फूँक करने नहीं जा रहा है, वह देखेगा कि लोग क्या कर रहे हैं, ज़रा डाक्टर साहब का रोना-पीटना देखेगा, किस तरह सिर पीटते हैं, किस तरह पछाड़ें खाते हैं। वह देखेगा कि बड़े लोग भी छोटों की भाँति रोते हैं, या सबर कर जाते हैं। वह लोग तो विद्वान् होते हैं, सबर कर जाते होंगे। हिंसा भाव को यों धीरज देता हुआ, वह फिर आगे बढ़ा।

इतने में दो आदमी आते दिखाई दिये। दोनों बातें करते चले आ रहे थे— चड्ढा बाबू का घर उजड़ गया, यही तो एक लड़का था। भगत के कान में यह आवाज़ पड़ी। उसकी चाल और भी तेज हो गई। थकन के मारे पाँव न उठते थे। शिरोभाग इतना बढ़ा जाता था, मानो अब मुँह के बल गिर पड़ेगा। इस तरह वह कोई १० मिनट चला होगा कि डाक्टर साहब का बँगला नज़र आया। बिजली की बत्तियाँ जल रही थीं, मगर सन्नाटा छाया हुआ था। रोने-पीटने की आवाज़ भी न आती थी। भगत का कलेजा धक्-धक् करने लगा। कहीं मुझे बहुत देर तो नहीं हो गई? वह दौड़ने लगा। अपनी उम्र में वह इतना तेज कभी न दौड़ा था। बस, यही मालूम होता था, मानो उसके पीछे मौत दौड़ी आ रही है।

(४)

दो बज गये थे। मेहमान बिदा हो गये थे। रोनेवालों में केवल आकाश के तारे रह गये थे। और सभी रो-रोकर थक गये थे। बड़ी उत्सुकता के साथ लोग रह-रहकर आकाश की ओर देखते थे कि किसी तरह सुबह हो और लाश गंगा की गोद में दी जाय।

सहसा भगत ने द्वार पर पहुँचकर आवाज़ दी। डाक्टर साहब समझे कोई मरीज आया होगा। किसी और दिन उन्होंने उस आदमी को दुत्कार दिया होता, मगर आज बाहर निकल आये। देखा, एक बूढ़ा आदमी खड़ा है, कमर झुकी हुई, पोपला मुँह, भौंहें तक सफेद हो गई थीं। लकड़ी के सहारे काँप रहा था। बड़ी नम्रता से बोले—क्या है भई, आज तो हमारे ऊपर ऐसी मुसीबत पड़ गई है कि कुछ कहते नहीं बनता, फिर कभी आना। इधर एक महीना तक तो शायद मैं किसी मरीज़ को न देख सकूँगा।

भगत ने कहा—सुन चुका हूँ बाबूजी, इसीलिए आया हूँ। भैया कहाँ हैं, ज़रा

मुझे भी दिखा दीजिए। भगवान् बड़ा कारसाज़ है, मुरदे को भी जिला सकता है। कौन जाने, अब भी उसे दया आ जाय!

चड्ढा ने व्यथित स्वर से कहा—चलो, देख लो, मगर तीन-चार घण्टे हो गये। जो कुछ होना था, हो चुका। बहुतेरे झाड़ने-फूँकनेवाले देख-देखकर चले गये।

डाक्टर साहब को आशा तो क्या होती, हाँ, बूढ़े पर दया आ गई; अन्दर ले गये। भगत ने लाश को एक मिनट तक देखा। तब मुसकिराकर बोला—अभी कुछ नहीं बिगड़ा है बाबूजी! वाह! नारायन चाहेंगे, तो आध घण्टे में भैया उठ बैठेंगे। आप नाहक दिल छोटा कर रहे हैं। जरा कहारों से कहिए, पानी तो भरें।

कहारों ने पानी भर-भरकर कैलास को नहलाना शुरू किया। पाइप बन्द हो गया था। कहारों की सख्या अधिक न थी। इसलिए मेहमानों ने अहाते के बाहर के कुएँ से पानी भर-भरकर कहारों को दिया। मृणालिनी कलसा लिये पानी ला रही थी। बूढ़ा भगत खड़ा मुसकिरा-मुसकिराकर मन्त्र पढ़ रहा था, मानो विजय उसके सामने खड़ी है। जब एक बार मन्त्र समाप्त हो जाता, तब वह एक जड़ी कैलास को सुँघा देता। इस तरह न जाने कितने घड़े कैलास के सिर पर डाले गये और न जाने कितनी बार भगत ने मन्त्र फूँका। आखिर जब उषा ने अपनी लाल-लाल आँखें खोलीं, तो कैलास की लाल-लाल आँखें भी खुल गईं। एक क्षण में उसने अँगड़ाई ली और पानी पीने को माँगा। डाक्टर चड्ढा ने दौड़कर नारायणी को गले लगा लिया, नारायणी दौड़कर भगत पैरों के पर गिर पड़ी और मृणालिनी कैलास के सामने आँखों में आँसू भरे पूछने लगी—अब कैसी तबीयत है?

एक क्षण मे चारों तरफ खबर फैल गई। मित्रगण मुबारक-बाद देने आने लगे। डाक्टर साहब बड़े श्रद्धा-भाव से हर एक के सामने भगत का यश गाते फिरते थे। सभी लोग भगत के दर्शनों के लिए उत्सुक हो उठे, मगर अन्दर जाकर देखा, तो भगत का कहीं पता न था। नौकरों ने कहा—अभी तो यहीं बैठे चिलम पी रहे थे। हम लोग तमाखू देने लगे, तो नहीं ली, अपने पास से तमाखू निकालकर भरी।

यहाँ तो भगत की चारों ओर तलाश होने लगी, और भगत लपका हुआ घर चला जा रहा था कि बुढ़िया के उठने से पहले घर पहुँच जाऊँ!

जब मेहमान लोग चले गये, तो डाक्टर साहब ने नारायणी से कहा—बुड्ढा न-जाने कहाँ चला गया। एक चिलम तमाखू का भी रवादार न हुआ।

नारायणी—मैंने तो सोचा था, इसे कोई बड़ी रकम दूँगी।

चड्ढा—रात को तो मैंने नहीं पहचाना, पर ज़रा साफ हो जाने पर पहचान गया। एक बार यह एक मरीज़ को लेकर आया था। मुझे अब याद आता है कि मैं खेलने जा रहा था और मरीज़ को देखने से इनकार कर दिया था। आज उस दिन की बात याद करके मुझे जितनी ग्लानि हो रही है, उसे प्रकट नहीं कर सकता। मैं उसे अब खोज निकालूँगा और उसके पैरों पर गिरकर अपना अपराध क्षमा कराऊँगा, वह कुछ लेगा नहीं, यह जानता हूँ। उसका जन्म यश की वर्षा करने ही के लिए हुआ है। उसकी सज्जनता ने मुझे ऐसा आदर्श दिखा दिया है, जो अबसे जीवन पर्यन्त मेरे सामने रहेगा।

———

प्रायश्चित्त

(१)

दफ्तर में ज़रा देर से आना अफसरों की शान है। जितना ही बड़ा अधिकारी होता है, उतनी ही देर में आता है। और उतने ही सवेरे जाता है। चपरासी की हाज़िरी चौबीसों घंटे की। वह छुट्टी भी नहीं जा सकता। अपना एवज़ देना पड़ता है। ख़ैर, जब बरेली ज़िला-बोर्ड के हेडक्लार्क बाबू मदारीलाल ग्यारह बजे दफ्तर आये, तब मानो दफ्तर नींद से जाग उठा। चपरासी ने दौड़कर पैरगाड़ी ली, अरदली ने दौड़कर कमरे की चिक उठा दी और जमादार ने डाक की किश्ती मेज़ पर लाकर रख दी। मदारीलाल ने पहला ही सरकारी लिफाफा खोला था कि उनका रंग फक़ हो गया। वे कई मिनट तक सकते की हालत में खड़े रहे, मानो सारी ज्ञानेन्द्रियाँ शिथिल हो गई हों। उन पर बड़े आघात हो चुके थे, पर इतने बदहवास वे कभी न हुए थे। बात यह थी कि बोर्ड के सेक्रेटरी की जो जगह एक महीने से खाली थी, सरकार ने सुबोधचन्द्र को यह जगह दी थी और सुबोधचन्द्र वह व्यक्ति था, जिसके नाम ही से मदारीलाल को घृणा थी। वह सुबोधचन्द्र, जो उनका सहपाठी था, जिसे ज़क देने को उन्होंने कितनी ही बार चेष्टा की और कभी सफल न हुए थे। वही सुबोध आज उनका अफसर होकर आ रहा था। सुबोध की इधर कई सालों से कोई खबर न थी। इतना मालूम था कि वह फौज में भरती हो गया था। मदारीलाल ने समझा था—वहीं मर गया होगा; पर आज वह मानो जी उठा और सेक्रेटरी होकर आ रहा था। मदारीलाल को उसकी मातहती में काम करना पड़ेगा। इस अपमान से तो मर जाना कहीं अच्छा था। सुबोध को स्कूल और कालेज की सारी बातें अवश्य ही याद होंगी। मदारीलाल ने उसे कालेज से निकलवा देने के लिए कई बार मंत्र चलाये, झूठे आरोप किये, बदनाम किया। क्या सुबोध सब कुछ भूल गया होगा? नहीं, कभी नहीं। वह आते-ही-आते पुरानी कसर निकालेगा। मदारी बाबू को अपनी प्राण-रक्षा का कोई उपाय न सूझता था।

मदारी और सुबोध के ग्रहों में ही विरोध था। दोनों एक ही दिन, एक ही शाला में भरती हुए, और पहले ही दिन से दिल में ईर्ष्या और द्वेष की वह चिनगारी पड़ गई, जो आज बीस वर्ष बीतने पर भी न बुझी थी। सुबोध का अपराध यही था कि वह मदारीलाल से हर एक बात में बढ़ा हुआ था। डील-डौल, रंग-रूप रीति-व्यवहार, विद्या-बुद्धि ये सारे मैदान उसके हाथ थे। मदारीलाल ने उसका यह अपराध कभी क्षमा नहीं किया। सुबोध बीस वर्ष तक निरन्तर उनके हृदय का काँटा बना रहा। जब सुबोध डिग्री लेकर अपने घर चला गया और मदारी फेल होकर इस दफ्तर में नौकर हो गये, तब उनका चित्त शान्त हुआ, और जब यह मालूम हुआ कि सुबोध बसरे जा रहा है, तब तो मदारीलाल का चेहरा खिल उठा। उनके दिल से वह पुरानी फाँस निकल गई। पर हा हतभाग्य! आज वह पुराना नासूर शतगुण टीस और जलन के साथ खुल गया। आज उनकी क़िस्मत सुबोध के हाथ में थी। ईश्वर इतना अन्यायी है! विधि इतना कठोर!

जब ज़रा चित्त शान्त हुआ, तब मदारी ने दफ्तर के क्लार्कों को सरकारी हुक्म सुनाते हुए कहा—अब आप लोग ज़रा हाथ-पाँव संभालकर रहिएगा। सुबोधचन्द्र वे आदमी नहीं हैं, जो भूलों को क्षमा कर दें?

एक क्लार्क ने पूछा—क्या बहुत सख्त हैं?

मदारीलाल ने मुसकिराकर कहा—वह तो आप लोगों को दो-चार दिन ही में मालूम हो जायगा। मैं अपने मुँह से किसी की क्यों शिकायत करूँ। बस, चेतावनी दे दी कि ज़रा हाथ-पाँव सँभालकर रहिएगा। आदमी योग्य है, पर बड़ा ही क्रोधी, बड़ा दम्भी। गुस्सा तो उसकी नाक पर रहता है। खुद हज़ारों हज़म कर जाय और डकार तक न ले, पर क्या मजाल कि कोई मातहत एक कौड़ी भी हजम करने पाये, ऐसे आदमी से ईश्वर ही बचाये। मैं तो सोच रहा हूँ कि छुट्टी लेकर घर चला जाऊँ। दोनों वक्त घर पर हाज़िरी बजानी होगी। आप लोग आज से सरकार के नौकर नहीं, सेक्रेटरी साहब के नौकर हैं। कोई उनके लड़के को पढ़ायेगा, कोई बाज़ार से सौदा-सुलफ लायेगा, और कोई उन्हें अखबार सुनायेगा। और चपरासियों के तो शायद दफ्तर में दर्शन ही न हों।

इस प्रकार सारे दफ़्तर को सुबोधचन्द्र की तरफ से भड़काकर मदारीलाल ने अपना कलेजा ठंडा किया।

(२)

इसके एक सप्ताह बाद सुबोधचन्द्र गाड़ी से उतरे तब स्टेशन पर दफ़्तर के सब कर्मचारियों को हाज़िर पाया। सब उनका स्वागत करने आये थे। मदारीलाल को देखते ही सुबोध लपककर उनके गले से लपट गये और बोले—तुम खूब मिले भाई। यहाँ कैसे आये ? ओह ! आज एक युग के बाद भेंट हुई !

मदारीलाल बोले—यहाँ ज़िलाबोर्ड के दफ्तर में हेड क्लार्क हूँ। आप तो कुशल से हैं ?

सुबोध—अजी, मेरी न पूछो। बसरा, फ्रांस, मिस्र और न-जाने कहाँ-कहाँ मारा-मारा फिरा। तुम दफ़्तर में हो, यह बहुत ही अच्छा हुआ। मेरी तो समझ ही में न आता था कि कैसे काम चलेगा। मैं तो बिलकुल कोरा हूँ ; मगर जहाँ जाता हूँ, मेरा सौभाग्य भी मेरे साथ जाता है। बसरे में सभी अफसर खुश थे। फ्रांस में भी खूब चैन किये। दो साल में कोई पच्चीस हज़ार रुपये बना लाया और सब उड़ा दिया। वहाँ से आकर कुछ दिनों कोआपरेशन के दफ्तर में मटरगश्त करता रहा। यहाँ आया तब तुम मिल गये। (क्लार्कों को देखकर) ये लोग कौन हैं ?

मदारी के हृदय पर बर्छियाँ-सी चल रही थीं। दुष्ट पच्चीस हज़ार रुपये बसरे से कमा लाया। यहाँ कलम घिसते-घिसते मर गये और पाँच सौ भी न जमा कर सके। बोले—ये लोग बोर्ड के कर्मचारी हैं। सलाम करने आये है।

सुबोध ने उन सब लोगों से बारी-बारी से हाथ मिलाया और बोला—आप लोगों ने व्यर्थ यह कष्ट किया। बहुत आभारी हूँ। मुझे आशा है कि आप सब सज्जनों को मुझसे कोई शिकायत न होगी। मुझे अपना अफसर नहीं, अपना भाई समझिए। आप सब लोग मिलकर इस तरह काम कीजिए कि बोर्ड की नेकनामी हो और मैं भी सुर्खरू रहूँ। आपके हेड क्लार्क साहब तो मेरे पुराने मित्र और लँगोटिया यार हैं।

एक वाक्चतुर क्लार्क ने कहा—हम सब हुजूर के ताबेदार हैं। यथाशक्ति आप को असन्तुष्ट न करेंगे, लेकिन आदमी ही हैं, अगर कोई भूल हो जाय तो हुजूर उसे क्षमा करेंगे।

सुबोध ने नम्रता से कहा—यही मेरा सिद्धान्त है। हमेशा यही सिद्धान्त रहा। जहाँ रहा, मातहतों से मित्रों का-सा बरताव किया। हम और आप दोनों ही किसी

तीसरे के गुलाम हैं। फिर रोब कैसा और अफसरी कैसी ? हाँ, हमें नेकनीयती के साथ अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए।

जब सुबोध से विदा होकर कर्मचारी लोग चले तब आपस में बातें होने लगीं—

"आदमी तो अच्छा मालूम होता है।"

"हेड क्लार्क के कहने से तो ऐसा मालूम होता था कि सब को कच्चा ही खा जायगा।"

"पहले सभी ऐसी ही बातें करते हैं।"

"ये दिखाने के दाँत हैं।"

(३)

सुबोध को आये एक महीना गुजर गया। बोर्ड के क्लार्क, अरदली, चपरासी सभी उसके बरताव से खुश हैं। वह इतना प्रसन्नचित्त है, इतना नम्र है कि जो उससे एक बार मिलता है, सदैव के लिए उसका मित्र हो जाता है। कठोर शब्द तो उसकी जबान पर आता ही नहीं। इनकार को भी वह अप्रिय नहीं होने देता, लेकिन द्वेष की आँखों में गुण और भी भयंकर हो जाता है। सुबोध के ये सारे सद्गुण मदारीलाल की आँखों में खटकते रहते हैं। उसके विरुद्ध कोई-न-कोई गुप्त षड्यन्त्र रचते ही रहते हैं। पहले कर्मचारियों को भड़काना चाहा, सफल न हुए। बोर्ड के मेम्बरों को भड़काना चाहा, मुँह की खाई। ठीकेदारों को उभारने का बीड़ा उठाया, लज्जित होना पड़ा। वे चाहते थे कि भुस में आग लगाकर आप दूर से तमाशा देखें। सुबोध से यों हँसकर मिलते, यों चिकनी-चुपड़ी बातें करते, मानो उसके सच्चे मित्र हैं, पर घात में लगे रहते। सुबोध में और सब गुण थे, पर आदमी पहचानना न जानते थे। वे मदारीलाल को अब भी अपना दोस्त ही समझते हैं।

एक दिन मदारीलाल सेक्रेटरी साहब के कमरे में गये तब कुरसी ख़ाली देखी। वे किसी काम से बाहर चले गये थे। उनकी मेज पर पाँच हजार के नोट पुलिन्दों में बँधे हुए रखे थे। बोर्ड के मदरसों के लिए कुछ लकड़ी के सामान बनवाये गये थे। उसी के दाम थे। ठीकेदार वसूली के लिए बुलाया गया था। आज ही सेक्रेटरी साहब ने चेक भेजकर खजाने से रुपये मँगवाये थे। मदारीलाल ने बरामदे में झाँककर देखा, सुबोध का कहीं पता नहीं। उनकी नीयत बदल गई। ईर्ष्या में लोभ का सम्मिश्रण हो गया। काँपते हुए हाथों से पुलिन्दे उठाये, पतलून की दोनों जेबों में

भरकर तुरन्त कमरे से निकले और चपरासी को पुकारकर बोले—बाबूजी भीतर हैं?

चपरासी आज ठीकेदार से कुछ वसूल करने की खुशी में फूला हुआ था। सामनेवाले तबोली की दूकान से आकर बोला—जी नहीं, कचहरी में किसी से बातें कर रहे हैं। अभी-अभी तो गये हैं।

मदारीलाल ने दफ्तर में आकर एक क्लार्क से, कहा—यह मिसिल ले जाकर सेक्रेटरी साहब को दिखाओ।

क्लार्क मिसिल लेकर चला गया और जरा देर मे लौटकर बोला—सेक्रेटरी साहब कमरे में न थे। फाइल मेज़ पर रख आया हूँ।

मदारीलाल ने मुँह सिकोड़कर कहा—कमरा छोड़कर कहां चले जाया करते हैं। किसी दिन धोखा उठायेंगे।

क्लार्क ने कहा—उनके कमरे में दफ्तरवालों के सिवा और जाता ही कौन है?

मदारीलाल ने तीव्र स्वर में कहा—तो क्या दफ्तरवाले सब-के-सब देवता हैं। कब किसकी नीयत बदल जाय, कोई नहीं कह सकता। मैंने छोटी-छोटी रकमों पर अच्छों-अच्छों की नीयतें बदलते देखी हैं। इस वक्त हम सभी साह हैं, लेकिन अवसर पाकर शायद ही कोई चूके। मनुष्य की यही प्रकृति है। आप जाकर उनके कमरे के दोनों दरवाज़े बन्द कर दीजिए।

क्लार्क ने टालकर कहा—चपरासी तो दरवाज़े पर बैठा हुआ है।

मदारीलाल ने झुँझलाकर कहा—आपसे मैं जो कहता हूँ वह कीजिए। कहने लगे, चपरासी बैठा हुआ है। चपरासी कोई ऋषि है, मुनि है? चपरासी ही कुछ उड़ा दे तो आप उसका क्या कर लेंगे? ज़मानत भी है तो तीन सौ की। यहाँ एक-एक काग़ज़ लाखों का है।

यह कहकर मदारीलाल खुद उठे और दफ्तर के द्वार दोनों तरफ से बन्द कर दिये। जब ज़रा चित्त शान्त हुआ तब नोटों के पुलिन्दे जेब से निकालकर एक आलमारी में काग़ज़ों के नीचे छिपाकर रख दिये। फिर आकर अपने काम मे व्यस्त हो गये।

सुबोधचन्द्र कोई घटे भर में लौटे तब उनके कमरे का द्वार बन्द था। दफ्तर में आकर मुसकिराते हुए बोले—मेरा कमरा किसने बन्द कर दिया है भाई? क्या मेरी बेदखली हो गई?

मदारीलाल ने खड़े होकर मृदु तिरस्कार दिखाते हुए कहा—साहब, गुस्ताखी माफ हो, आप जब कभी बाहर जाय, चाहे एक ही मिनट के लिए क्यों न हो, तब दरवाज़ा ज़रूर बन्द कर दिया करें। आपकी मेज़ पर रुपये-पैसे, और सरकारी कागज़-पत्र बिखरे पड़े रहते हैं न-जाने किस वक्त किसकी नीयत बदल जाय। मैंने अभी सुना कि आप कहीं बाहर गये हुए हैं, तब दरवाज़े बन्द कर दिये।

सुबोधचन्द्र द्वार खोलकर कमरे में गये और एक सिगार पीने लगे। मेज़ पर नोट रखे हुए हैं, इसकी खबर ही न थी।

सहसा ठीकेदार ने आकर सलाम किया। सुबोध कुरसी से उठ बैठे और बोले—तुमने बहुत देर कर दी, तुम्हारा ही इन्तज़ार कर रहा था। दस ही बजे रुपये मँगवा लिये थे। रसीद का टिकट लाये हो न?

ठीकेदार—हुज़ूर, रसीद लिखता लाया हूँ।

सुबोध—तो अपने रुपये ले जाओ। तुम्हारे काम से मैं बहुत खुश नहीं हूँ। लकड़ी तुमने अच्छी नहीं लगाई और काम में सफाई भी नहीं है। अगर ऐसा काम फिर करोगे तो ठीकेदारों के रजिस्टर से तुम्हारा नाम निकाल दिया जायगा।

यह कहकर सुबोध ने मेज़ पर निगाह डाली तब नोटों के पुलिन्दे न थे। सोचा, शायद किसी फाइल के नीचे दब गये हों। कुरसी के समीप के सब कागज उलट-पलट डाले; मगर नोटों का कहीं पता नहीं। ऐं! नोट कहाँ गये! अभी यहीं तो मैंने रख दिये थे। जा कहाँ सकते हैं। फिर फाइलों को उलटने-पलटने लगे। दिल में ज़रा-ज़रा धड़कन होने लगी। सारी मेज़ के कागज़ छान डाले, पुलिन्दों का पता नहीं। तब वे कुरसी पर बैठकर इस आध घटे में होनेवाली घटनाओं की मन में आलोचना करने लगे—चपरासी ने नोटों के पुलिन्दे लाकर मुझे दिये, खूब याद है, भला यह भी भूलने की बात है और इतनी जल्द! मैंने नोटों को लेकर यहीं मेज पर रख दिया, गिना तक नहीं। फिर वकील साहब आगये, पुराने मुलाकाती हैं, उनसे बातें करता हुआ ज़रा उस पेड़ तक चला गया, उन्होंने पान मँगवाये, बस इतनी ही देर हुई। जब गया हूँ तब पुलिन्दे रखे हुए थे। खूब अच्छी तरह याद है। तब ये नोट कहाँ गायब हो गये। मैंने किसी सन्दूक, दराज़ या आलमारी में नहीं रखे। फिर गये तो कहाँ! शायद दफ्तर में किसीने सावधानी के लिए उठाकर रख दिये हों। यही बात है। मैं व्यर्थ ही इतना घबरा गया। छि!

तुरन्त दफ़्तर में आकर मदारीलाल से बोले—आपने मेरी मेज़ पर से नोट तो उठाकर नहीं रख दिये ?

मदारीलाल ने भौचक्के होकर कहा—क्या आपकी मेज़ पर नोट रखे हुए थे ? मुझे तो खबर नहीं। अभी पण्डित सोहनलाल एक फाइल लेकर गये थे तब आपको कमरे में न देखा। जब मुझे मालूम हुआ कि आप किसीसे बातें करने चले गये हैं तब दरवाज़े बन्द करा दिये। क्या कुछ नोट नहीं मिल रहे हैं ?

सुबोध आँखें फैलाकर बोले--अरे साहब, पूरे पाँच हज़ार के हैं। अभी-अभी चेक भुनाया है।

मदारीलाल ने सिर पीटकर कहा—पूरे पाँच हज़ार ! या भगवान् ! आपने मेज़ पर खूब देख लिया ?

'अजी पन्द्रह मिनट से तलाश कर रहा हूँ।'

'चपरासी से पूछ लिया कि कौन-कौन आया था ?'

'आइए, ज़रा आप लोग भी तलाश कीजिए। मेरे तो होश उड़े हुए हैं।'

सारा दफ़्तर सेक्रेटरी साहब के कमरे की तलाशी लेने लगा। मेज़, आल्मारियाँ, सन्दूक सब देखे गये। रजिस्टरों के वर्क़ उलट-पलटकर देखे गये, मगर नोटों का कहीं पता नहीं। कोई उड़ा ले गया, अब इसमें कोई शुबहा न था। सुबोध ने एक लम्बी साँस ली और कुरसी पर बैठ गये। चेहरे का रङ्ग फक हो गया। ज़रा-सा मुँह निकल आया। इस समय कोई उन्हें देखता तो समझता, महीनों से बीमार हैं।

मदारीलाल ने सहानुभूति दिखाते हुए कहा—ग़ज़ब हो गया और क्या ! आज तक कभी ऐसा अन्धेर न हुआ था। मुझे यहाँ काम करते दस साल हो गये, कभी धेले की चीज़ भी ग़ायब न हुई। मैंने आपको पहले ही दिन सावधान कर देना चाहा था कि रुपये-पैसे के विषय में होशियार रहिएगा, मगर शुदनी थी, ख्याल न रहा। ज़रूर बाहर से कोई आदमी आया और नोट उड़ाकर ग़ायब हो गया। चपरासी का यही अपराध है कि उसने किसीको कमरे में जाने ही क्यों दिया। वह लाख क़समें खाये कि बाहर से कोई नहीं आया; लेकिन मैं इसे मान नहीं सकता। यहाँ से तो केवल पण्डित सोहनलाल एक फाइल लेकर गये थे, मगर दरवाज़े ही से झाँककर चले आये।

सोहनलाल ने सफाई दी—मैंने तो अन्दर क़दम ही नहीं रखा साहब। अपने जवान बेटे की क़सम खाता हूँ जो अन्दर क़दम भी रखा हो।

मदारीलाल ने माथा सिकोड़कर कहा—आप व्यर्थ में क़समें क्यों खाते हैं, कोई आपसे कुछ कहता है। (सुबोध के कान में) बैंक में कुछ रुपये हों तो निकालकर ठीकेदार को दे दिये जायँ, वरना बड़ी बदनामी होगी। नुक़सान तो हो ही गया, अब उसके साथ अपमान क्यों हो।

सुबोध ने करुण-स्वर में कहा--बैंक में मुश्किल से दो-चार सौ रुपये होंगे भाई-जान ! रुपये होते तो क्या चिन्ता थी। समझ लेता, जैसे पच्चीस हज़ार उड़ गये वैसे तीसँ हज़ार उड़ गये। यहाँ तो कफन को भी कौड़ी नहीं।

उसी रात को सुबोधचन्द्र ने आत्महत्या कर ली। इतने रुपयों का प्रबन्ध करना उनके लिए कठिन था। मृत्यु के परदे के सिवा उन्हें अपनी वेदना, अपनी विवशता को छिपाने की और कोई आड़ न थी।

(४)

दूसरे दिन प्रातःकाल चपरासी ने मदारीलाल के घर पहुँचकर आवाज़ दी। मदारी को रात-भर नींद न आई थी। घबराकर बाहर आये। चपरासी उन्हें देखते ही बोला—हजूर ! बड़ा ग़ज़ब हो गया, सिकट्टरी साहब ने रात को अपनी गर्दन पर छुरी फेर ली।

मदारीलाल की आँखें ऊपर चढ़ गईं, मुँह फैल गया और सारी देह सिहर उठी मानो उनका हाथ बिजली के तार पर पड़ गया हो।

'छुरी फेर ली ?'

'जी हाँ, आज सबेरे मालूम हुआ। पुलिसवाले जमा हैं। आपको बुलाया है।'

'लाश अभी पड़ी हुई है ?'

'जी हाँ, अभी डाक्टरी होनेवाली है ?'

'बहुत-से लोग जमा हैं ?'

'सब बड़े-बड़े अफसर जमा हैं। हजूर, लहास की ओर ताकते नहीं बनता। कैसा भलामानुस हीरा आदमी था ! सब लोग रो रहे हैं। छोटे-छोटे तो बच्चे हैं, एक सयानी लड़की है ब्याहने लायक। बहूजी को लोग कितना रोक रहे हैं; पर बार-बार दौड़कर लहास के पास आ जाती हैं। कोई ऐसा नहीं है जो रूमाल से आँखें न

पोंछ रहा हो। अभी इतने ही दिन आये हुए, पर सबसे कितना मेल जोल हो गया था। रुपये को तो कभी परवा ही नहीं थी। दिल दरियाव था?'

मदारीलाल के सिर में चक्कर आने लगा। द्वार की चौखट पकड़कर अपने को सँभाल न लेते तो शायद गिर पड़ते। पूछा—बहूजी बहुत रो रही थीं?

'कुछ न पूछिए हजूर! पेड़ की पत्तियाँ झड़ी जाती हैं। आँखें फूलकर गूलर हो गई हैं।'

'कितने लड़के बतलाये तुमने?'

'हजूर, दो लड़के हैं और एक लड़की।'

'हाँ-हाँ लड़कों को तो देख चुका हूँ! लड़की सयानी होगी?'

'जी हाँ, ब्याहने लायक है। रोते-रोते बेचारी की आँखें सूज आई हैं।'

''नोटों के बारे में भी बातचीत हो रही होगी?'

'जी हाँ, सब लोग यही कहते हैं कि दफ्तर के किसी आदमी का काम है। दरोगाजी तो सोहनलाल को गिरफ्तार करना चाहते थे; पर साइत आपसे सलाह लेकर करेंगे। सिकट्टरी साहब तो लिख गये हैं कि मेरा किसी पर शक नहीं है। नहीं तो अब तक तहलका मच जाता। सारा दफ्तर फँस जाता।'

'क्या सेक्रेटरी साहब कोई खत लिखकर छोड़ गये हैं?'

'हाँ, मालूम होता है, छुरी चलाते बखत याद आई कि सुबहे में दफ़्तर के सब लोग पकड़ लिये जायँगे। बस कलट्टर साहब के नाम चिट्ठी लिख दी।'

'चिट्ठी में मेरे बारे में भी कुछ लिखा है? तुम्हें यह क्या मालूम होगा?'

'हजूर, अब मैं क्या जानूँ, मुदा इतना सब लोग कहते थे कि आपकी बड़ी तारीफ लिखी है।'

मदारीलाल की साँस और तेज़ हो गई। आँखों से आँसू की दो बड़ी-बड़ी बूँदें गिर पड़ीं। आँखें पोंछते हुए बोले—वे और मैं एक साथ के पढ़े थे नन्दू! आठ-दस साल साथ रहा। साथ उठते-बैठते, साथ खाते, साथ खेलते, बस इसी तरह रहते थे जैसे दो सगे भाई रहते हों। खत में मेरी क्या तारीफ़ लिखी है? मगर तुम्हें यह क्या मालूम होगा।

'आप तो चल ही रहे हैं, देख लीजिएगा।'

'क़फ़न का इन्तज़ाम हो गया है?'

'नहीं हजूर, कहा न कि अभी लहास की डाक्टरी होगी। मुदा अब जल्दी चलिए। ऐसा न हो, कोई दूसरा आदमी बुलाने आता हो।'

'हमारे दफ्तर के सब लोग आ गये होंगे?'

'जी हाँ, इस मुहल्लेवाले तो सभी थे।'

'पुलिस ने मेरे बारे में तो उनसे कुछ पूछ-ताछ नहीं की?'

'जी नहीं, किसीसे भी नहीं।'

मदारीलाल जब सुबोधचन्द्र के घर पहुँचे, तब उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि सब लोग उनकी तरफ सन्देह की आँखों से देख रहे हैं। पुलिस-इन्स्पेक्टर ने तुरन्त उन्हें बुलाकर कहा—आप भी अपना बयान लिखा दें। और सबके बयान तो लिख चुका हूँ।

मदारीलाल ने ऐसी सावधानी से अपना बयान लिखाया कि पुलिस के अफसर भी दंग रह गये। उन्हें मदारीलाल पर कुछ शुबहा होता था, पर इस बयान ने उसका अंकुर भी निकाल डाला।

इसी वक्त सुबोध के दोनों बालक रोते हुए मदारीलाल के पास आये और कहा—चलिए, आपको अम्माँ बुलाती हैं। दोनों मदारीलाल से परिचित थे। मदारीलाल यहाँ तो रोज़ ही आते थे, पर घर में कभी न गये थे। सुबोध की स्त्री उनसे परदा करती थी। यह बुलावा सुनकर उनका दिल धड़क उठा—कहीं इसका मुझपर शुबहा न हो। कहीं सुबोध ने मेरे विषय में कोई सन्देह न प्रकट किया हो। कुछ झिझकते, कुछ डरते, भीतर गये तब विधवा का करुण-विलाप सुनकर कलेजा काँप उठा। इन्हें देखते ही उस अबला के आँसुओं का कोई दूसरा सोता खुल गया और लड़की तो दौड़कर इनके पैरों से लिपट गई। दोनों लड़कों ने भी घेर लिया। मदारीलाल को उन तीनों की आँखों में ऐसी अथाह वेदना, ऐसी विदारक याचना भरी हुई मालूम हुई कि वे उनकी ओर देख न सके। उनकी आत्मा उन्हें धिक्कारने लगी। जिन बेचारों को उन पर इतना विश्वास, इतना भरोसा, इतनी आत्मीयता, इतना स्नेह था, उन्हींकी गर्दन पर उन्होंने छुरी फेरी! उन्हीं के हाथों यह भरा-पूरा परिवार धूल में मिल गया! इन असहायों का अब क्या हाल होगा! लड़की का विवाह करना है। कौन करेगा, बच्चों के लालन पालन का भार कौन उठायेगा! मदारीलाल को इतनी आत्म-ग्लानि हुई कि उनके मुँह से तसल्ली का एक शब्द भी न निकला। उन्हें ऐसा जान

पड़ा कि मेरे मुख में कालिख पुती हुई है, मेरा क़द कुछ छोटा हो गया है। उन्होंने जिस वक्त नोट उड़ाये थे, उन्हें गुमान भी न था कि उसका यह फल होगा। वे केवल सुबोध को जिच करना चाहते थे। उनका सर्वनाश करने की इच्छा न थी।

शोकातुर विधवा ने सिसकते हुए कहा—भैयाजी, हम लोगों को वे मँझधार छोड़ गये। अगर मुझे मालूम होता कि मन में यह बात ठान चुके हैं तो अपने पास जो कुछ था, वह सब उनके चरणों पर रख देती। मुझसे तो वे यही कहते रहे कि कोई-न-कोई उपाय हो जायगा। आप ही की मारफत वे कोई महाजन ठीक करना चाहते थे। आपके ऊपर उन्हें कितना भरोसा था कि कह नहीं सकती।

मदारीलाल को ऐसा मालूम हुआ कि कोई उनके हृदय पर नश्तर चला रहा है। उन्हें अपने कंठ में कोई चीज़ फँसी हुई जान पड़ती थी।

रामेश्वरी ने फिर कहा—रात सोये तब खूब हँस रहे थे। रोज़ की तरह दूध पिया, बच्चों को प्यार किया, थोड़ी देर हारमोनियम बजाया और तब कुल्ली करके लेटे। कोई ऐसी बात न थी जिससे लेशमात्र भी सन्देह होता। मुझे चिन्तित देखकर बोले—तुम व्यर्थ घबराती हो। बाबू मदारीलाल से मेरी पुरानी दोस्ती है, आखिर वह किस दिन काम आयेगी। मेरे साथ के खेले हुए हैं। इस नगर में उनका सबसे परिचय है। रुपयों का प्रबन्ध आसानी से हो जायगा। फिर न-जाने कब मन में यह बात समाई। मैं नसीबों-जली ऐसी सोई कि रात को मिनकी तक नहीं। क्या जानूँ कि वे अपनी जान पर खेल जायँगे।

मदारीलाल को सारा विश्व आँखों से तैरता हुआ मालूम हुआ। उन्होंने बहुत ज़ब्त किया; मगर आँसुओं के प्रवाह को न रोक सके।

रामेश्वरी ने आँखें पोंछकर फिर कहा—भैयाजी, जो कुछ होना था वह तो हो चुका; लेकिन आप उस दुष्ट का पता ज़रूर लगाइए जिसने हमारा सर्वनाश कर दिया है। यह दफ़्तर ही के किसी आदमी का काम है। वे तो देवता थे, मुझसे यही कहते रहे कि मेरा किसी पर सन्देह नहीं है, पर है यह किसी दफ्तरवाले ही का काम। आपसे केवल इतनी विनती करती हूँ कि उस पापी को बचकर न जाने दीजिएगा। पुलिसवाले शायद कुछ रिशवत लेकर उसे छोड़ दें। आपको देखकर उनका यह हौसला न होगा। अब हमारे सिर पर आपके सिवा और कौन है। किससे अपना दुःख कहें।

को यह दुर्गति होनी भी लिखी थी।

मदारीलाल के मन में एक बार ऐसा उबाल उठा कि सब कुछ खोल दें। साफ कह दें, मैं ही वह दुष्ट, वह अधम, वह पामर हूँ। विधवा के पैरों पर गिर पड़ें और कहें, वही छुरी इस हत्यारे की गर्दन पर फेर दो। पर जबान न खुली, इसी दशा में बैठे-बैठे उनके सिर में ऐसा चक्कर आया कि वे जमीन पर गिर पड़े।

(५)

तीसरे पहर लाश की परीक्षा समाप्त हुई। अर्थी जलाशय की ओर चली। सारा दफ्तर, सारे हुक्काम और हज़ारों आदमी साथ थे। दाह-संस्कार लड़कों को करना चाहिए था, पर लड़के नाबालिग़ थे। इसलिए विधवा चलने को तैयार हो रही थी कि मदारीलाल ने जाकर कहा—बहूजी, यह संस्कार मुझे करने दो। तुम क्रिया पर बैठ जाओगी तो बच्चों को कौन सँभालेगा। सुबोध मेरे भाई थे। ज़िन्दगी में उनके साथ कुछ सलूक न कर सका, अब ज़िन्दगी के बाद मुझे दोस्ती का कुछ हक़ अदा कर लेने दो। आखिर मेरा भी तो उन पर कुछ हक़ था। रामेश्वरी ने रोकर कहा—आपको भगवान् ने बड़ा उदार हृदय दिया है भैयाजी, नहीं तो मरने पर कौन किसको पूछता है। दफ्तर के और लोग जो आधी-आधी रात तक हाथ बाँधे खड़े रहते थे, झूठों बात पूछने न आये कि ज़रा ढाढस होता।

मदारीलाल ने दाह-संस्कार किया। तेरह दिन तक क्रिया पर बैठे रहे। तेरहवें दिन पिण्डदान हुआ, ब्राह्मणों ने भोजन किया, भिखारियों को अन्नदान किया गया, मित्रों की दावत हुई, और यह सब कुछ मदारीलाल ने अपने खर्च से किया। रामेश्वरी ने बहुत कहा कि आपने जितना किया उतना ही बहुत है, अब मैं आपको और जेरबार नहीं करना चाहती, दोस्ती का हक़ इससे ज्यादा और कोई क्या अदा करेगा; मगर मदारीलाल ने एक न सुनी। सारे शहर में उनके यश की धूम मच गई, मित्र हो तो ऐसा हो!

सोलहवें दिन विधवा ने मदारीलाल से कहा—भैयाजी, आपने हमारे साथ जो उपकार और अनुग्रह किये हैं, उनसे हम मरते दम उऋण नहीं हो सकते। आपने हमारी पीठ पर हाथ न रखा होता, तो न-जाने हमारी क्या गति होती। कहीं रूख की भी छाँह तो नहीं थी। अब हमें घर जाने दीजिए। वहाँ देहात में खर्च भी कम होगा और कुछ खेती-बारी का सिलसिला भी कर लूँगी। किसी-न-किसी तरह विपत्ति के दिन कट ही जायँगे। इसी तरह हमारे ऊपर दया रखिएगा।

मदारीलाल ने पूछा — घर पर कितनी जायदाद है ?

रामेश्वरी—जायदाद क्या है, एक कच्चा मकान है और दस-बारह बीघे की काश्तकारी है। पक्का मकान बनवाना शुरू किया था; मगर रुपये पूरे न पड़े। अभी अधूरा पड़ा हुआ है। दस बारह हज़ार खर्च हो गये और अभी छत पड़ने की नौबत नहीं आई।

मदारी—कुछ रुपये बैंक में जमा हैं या बस खेती ही का सहारा है ?

विधवा — जमा तो एक पाई भी नहीं है भैयाजी ! उनके हाथ में रुपये रहने ही न पाते थे। बस, वही खेती का सहारा है।

मदारी—तो उन खेतों में इतनी पैदावार हो जायगी कि लगान भी अदा हो जाय और तुम लोगों की गुज़र-बसर भी हो ?

रामेश्वरी—और कर ही क्या सकते हैं भैयाजी, किसी-न-किसी तरह ज़िन्दगी तो काटनी ही है। बच्चे न होते तो मैं ज़हर खा लेती।

मदारी—और अभी बेटी का विवाह भी करना है ?

विधवा — उसके विवाह की अब कोई चिन्ता नहीं। किसानों में ऐसे बहुत-से मिल जायँगे जो बिना कुछ लिये-दिये विवाह कर लें।

मदारीलाल ने एक क्षण सोचकर कहा—अगर मैं कुछ सलाह दूँ, तो उसे मानेंगी आप ?

रामेश्वरी — भैयाजी, आपकी सलाह न मानूँगी तो किसकी सलाह मानूँगी। और दूसरा है ही कौन ?

मदारी—तो आप अपने घर जाने के बदले मेरे घर चलिए। जैसे मेरे बाल-बच्चे रहेंगे वैसे आपके भी रहेंगे। आपको कोई कष्ट न होगा। ईश्वर ने चाहा तो कन्या का विवाह भी किसी अच्छे कुल मे हो जायगा।

विधवा की आँखें सजल हो गईं। बोली— मगर भैयाजी, सोचिए·· मदारीलाल ने बात काटकर कहा—मैं कुछ न सोचूँगा और न कोई उज्र सुनूँगा। क्या दो भाइयों के परिवार एक साथ नहीं रहते ? सुबोध को मैं अपना भाई समझता था और हमेशा समझूँगा।

विधवा का कोई उज्र न सुना गया। उसी दिन मदारीलाल सबको अपने साथ ले

गये और आज दस साल से उनका पालन कर रहे हैं। दोनों बच्चे कालेज में पढ़ते हैं और कन्या का एक प्रतिष्ठित कुल में विवाह हो गया है। मदारीलाल और उनकी स्त्री तन-मन से रामेश्वरी की सेवा करते हैं और उसके इशारों पर चलते हैं। मदारी-लाल सेवा से अपने पाप का प्रायश्चित्त कर रहे हैं।

कप्तान साहब

(१)

जगतसिंह को, स्कूल जाना कुनैन खाने या मछली का तेल पीने से कम अप्रिय न था। वह सैलानी, आवारा, घुमक्कड़ युवक था। कभी अमरूद के बागों की ओर निकल जाता और अमरूदों के साथ माली की गालियाँ बड़े शौक से खाता। कभी दरिया की सैर करता और मल्लाहों की डोंगियों में बैठकर उस पार के देहातों में निकल जाता। गालियाँ खाने में उसे मज़ा आता था। गालियाँ खाने का कोई अवसर वह हाथ से न जाने देता। सवार के घोड़े के पीछे ताली बजाना, एक्कों को पीछे से पकड़कर अपनी ओर खींचना, बुड्ढों की चाल की नकल करना, उसके मनोरञ्जन के विषय थे। आलसी काम तो नहीं करता, पर दुर्व्यसनों का दास होता है, और दुर्व्यसन धन के बिना पूरे नहीं होते। जगतसिंह को जब अवसर मिलता, घर से रुपये उड़ा ले जाता। नक़द न मिले, तो बरतन और कपड़े उठा ले जाने में भी उसे सकोच न होता था। घर में जितनी शीशियाँ और बोतलें थीं, वह सब उसने एक-एक करके गुदड़ी-बाज़ार पहुँचा दीं। पुराने दिनों की कितनी चीजें घर में पड़ी थीं। उसके मारे एक भी न बची। इस कला में ऐसा दक्ष और निपुण था कि उसकी चतुराई और पटुता पर आश्चर्य होता था। एक बार वह बाहर-ही-बाहर, केवल कार्निसों के सहारे, अपने दो-मंजिला मकान की छत पर चढ़ गया और ऊपर ही से पीतल की एक बड़ी थाली लेकर उतर आया। घरवालों को आहट तक न मिली।

उसके पिता ठाकुर भक्तसिंह अपने क़स्बे के डाकखाने के मुंशी थे। अफसरों ने उन्हें घर का डाकखाना बड़ी दौड़-धूप करने पर दिया था; किन्तु भक्तसिंह जिन इरादों से यहाँ आये थे, उनमें से एक भी पूरा न हुआ। उल्टो हानि यह हुई कि देहातों में जो भाजी-साग, उपले-ईंधन मुफ्त मिल जाते थे, यहाँ बन्द हो गये। यहाँ सबसे पुराना घराँव था। किसी को न दबा सकते थे, न सता सकते थे। इस

दुरवस्था में जगतसिंह की हथ-लपकियाँ बहुत अखरतीं। उन्होंने कितनी ही बार उसे बड़ी निर्दयता से पीटा। जगतसिंह भीमकाय होने पर भी चुपके से मार खा लिया करता था। अगर वह अपने पिता के हाथ पकड़ लेता, तो वह हिल भी न सकते; पर जगतसिंह इतना सीनाज़ोर न था। हाँ, मार-पीट, घुड़की-धमकी किसीका भी उस पर असर न होता था।

'जगतसिंह ज्योंही घर में क़दम रखता, चारों ओर से काँव-काँव मच जाती — माँ दुर-दुर करके दौड़ती, बहनें गालियाँ देने लगतीं, मानो घर में कोई साँड़ घुस आया हो। बेचारा उलटे पाँव भागता। कभी-कभी दो-दो, तीन-तीन दिन भूखा रह जाता। घरवाले उसकी सूरत से जलते थे। इन तिरस्कारों ने उसे निर्लज्ज बना दिया था। कष्टों के ज्ञान से वह हत-सा हो गया था। जहाँ नींद आ जाती वहाँ पड़ रहता, जो कुछ मिल जाता वही खा लेता।

ज्यों-ज्यों घरवालों को उसकी चौर-कला के गुप्त साधनों का ज्ञान होता जाता था, वे उससे चौकन्ने होते जाते थे। यहाँ तक कि एक बार पूरे महीने-भर तक उसकी दाल न गली। चरसवाले के कई रुपये ऊपर चढ गये। गाँजेवाले ने धुआँधार तक़ाज़े करने शुरू किये। हलवाई कड़वी बातें सुनाने लगा। बेचारे जगत को निकलना मुश्किल हो गया। रात-दिन ताक-झाँक में रहता, पर घात न मिलती थी। आखिर एक दिन बिल्ली के भागों छींका टूटा। भक्तसिंह दोपहर को डाकखाने से चले, तो एक बीमा रजिस्ट्री जेब में डाल ली। कौन जाने कोई हरकारा या डाकिया शरारत कर जाय, किन्तु घर आये तो लिफाफे को अचकन की जेब से निकालने की सुधि न रही। जगतसिंह तो ताक लगाये हुए था ही। पैसों के लोभ से जेब टटोली, तो लिफाफा मिल गया। उस पर कई आने के टिकट लगे थे। वह कई बार टिकट चुराकर आधे दामों पर बेच चुका था। चट लिफाफ़ा उड़ा लिया। यदि उसे मालूम होता कि उसमें नोट हैं, तो कदाचित् वह न छूता, लेकिन जब उसने लिफ़ाफा फाड़ डाला और उसमें से नोट निकल पड़े, तो वह बड़े सकट में पड़ गया। वह फटा हुआ लिफाफा गला फाड़-फाड़कर उसके दुष्कृत्य को धिक्कारने लगा। उसकी दशा उस शिकारी की-सी हो गई, जो चिड़ियों का शिकार करने जाय और अनजान में किसी आदमी पर निशाना मार दे। उसके मन में पश्चात्ताप था, लज्जा थी, दुःख था; पर उस भूल का दण्ड सहने की शक्ति न थी। उसने नोट लिफाफे में रख दिये और बाहर चला गया।

गरमी के दिन थे। दोपहर को सारा घर सो रहा था ; पर जगत की आँखों में नींद न थी। आज उसकी बुरी तरह कुन्दी होगी। इसमें सन्देह न था। उसका घर पर रहना ठीक नहीं, दस-पाँच दिन के लिए उसे कहीं खिसक जाना चाहिए। तब तक लोगों का क्रोध शान्त हो जायगा। लेकिन कहीं दूर गये बिना काम न चलेगा। बस्ती में वह कई दिन तक अज्ञातवास नहीं कर सकता। कोई-न-कोई ज़रूर ही उसका पता दे देगा और वह पकड़ लिया जायगा। दूर जाने के लिए कुछ न-कुछ खर्च तो पास होना चाहिए। क्यों न वह लिफ़ाफे में से एक नोट निकाल ले। यह तो मालूम ही हो जायगा कि उसीने लिफाफा फाड़ा है, फिर एक नोट निकाल लेने में क्या हानि है। दादा के पास रुपये तो हैं ही, झक मारकर दे देंगे। यह सोचकर उसने दस रुपये का एक नोट उड़ा लिया ; मगर उसी वक्त उसके मन में एक नयी कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ। अगर ये सब रुपये लेकर किसी दूसरे शहर में कोई दूकान खोल ले, तो बड़ा मजा हो। फिर एक-एक पैसे के लिए उसे क्यों किसीकी चोरी करनी पड़े। कुछ दिनों में वह बहुत सा रुपया जमा करके घर आयेगा, तो लोग कितने चकित हो जायँगे।

उसने लिफ़ाफे को फिर निकाला। उसमें कुल २००) के नोट थे। दो सौ में दूध की दूकान खूब चल सकती है। आखिर मुरारी की दूकान में दो-चार कढाव और दो-चार पीतल के थालों के सिवा और क्या है ? लेकिन कितने ठाट से रहता है। रुपयों की चरस उड़ा देता है। एक-एक दाँव पर दस दस रुपये रख देता है। नफा न होता, तो यह ठाट कहाँ से निभाता। इस आनन्द कल्पना में वह इतना मग्न हुआ कि उसका मन उसके काबू से बाहर हो गया, जैसे प्रवाह में किसीके पाँव उखड़ जायँ और वह लहरों में बह जाय।

उसी दिन शाम को वह बम्बई चल दिया। दूसरे ही दिन मुंशी भक्तसिंह पर गबन का मुकदमा दायर हो गया।

(२)

बम्बई के किले के मैदान में बैंड बज रहा था और राजपूत रेजिमेंट के सजीले सुन्दर जवान क़वायद कर रहे थे। जिस प्रकार हवा बादलों को नये-नये रूप में बनाती और बिगाड़ती है, उसी भाँति सेना का नायक सैनिकों को नये-नये रूप में बना और बिगाड़ रहा था।

जब क़वायद खत्म हो गई, तो एक छरहरे डील का युवक नायक के सामने आकर खड़ा हो गया। नायक ने पूछा—क्या नाम है? सैनिक ने फौजी सलाम करके कहा—जगतसिंह।

'क्या चाहते हो?'

'फौज में भरती कर लीजिए।'

'मरने से तो नहीं डरते?'

'बिलकुल नहीं—राजपूत हूँ।'

'बहुत कड़ी मेहनत करनी पड़ेगी।'

'इसका भी डर नहीं।'

'अदन जाना पड़ेगा।'

'खुशी से जाऊँगा।'

कप्तान ने देखा, बला का हाज़िर-जवाब, मन-चला, हिम्मत का धनी जवान है, तुरत फौज में भरती कर लिया। तीसरे दिन रेजिमेंट अदन को रवाना हुआ। मगर ज्यों-ज्यों जहाज़ आगे चलता था, जगत का दिल पीछे रहा जाता था। जब तक ज़मीन का किनारा नज़र आता रहा, वह जहाज़ के डेक पर खड़ा अनुरक्त नेत्रों से उसे देखता रहा। जब वह भूमि-तट जल में विलीन हो गया, तो उसने एक ठंढी साँस ली और मुँह ढाँपकर रोने लगा। आज जीवन में पहली बार उसे प्रियजनों की याद आई। वह छोटा-सा अपना क़स्बा, वह गाँजे की दूकान, वह सैर-सपाटे, वह सुहृद्-मित्रों के जमघटे आँखों में फिरने लगे। कौन जाने फिर कभी उनसे भेंट होगी या नहीं। एक बार वह इतना बेचैन हुआ कि जी में आया, पानी में कूद पड़े।

(३)

जगतसिंह को अदन में रहते तीन महीने गुजर गये। भाँति-भाँति की नवीनताओं ने कई दिनों तक उसे मुग्ध रखा, लेकिन पुराने संस्कार फिर जागृत होने लगे। अब कभी-कभी उसे स्नेहमयी माता की याद भी आने लगी, जो पिता के क्रोध, बहनों के धिक्कार और स्वजनों के तिरस्कार में भी उसकी रक्षा करती थी। उसे वह दिन याद आया जब एक बार वह बीमार पड़ा था। उसके बचने की कोई आशा न थी, पर न तो पिता को उसकी कुछ चिन्ता थी, न बहनों को। केवल माता थी, जो रात-की-रात उसके सिरहाने बैठी अपनी मधुर, स्नेहमयी बातों से उसकी पीड़ा

शान्त करती रही थी। उन दिनों कितनी बार उसने उस देवी को नीरव रात्रि में रोते देखा था। वह स्वयं रोगों से जीर्ण हो रही थी; लेकिन उसकी सेवा-शुश्रूषा में वह अपनी व्यथा को ऐसी भूल गई थी, मानो उसे कोई कष्ट ही नहीं। क्या उसे माता के दर्शन फिर होंगे? वह इसी क्षोभ और नैराश्य में समुद्र तट पर चला जाता और घण्टों अनन्त जल-प्रवाह को देखा करता। कई दिनों से उसे घर पर एक पत्र भेजने की इच्छा हो रही थी, किन्तु लज्जा और ग्लानि के कारण वह टालता जाता था। आखिर, एक दिन उससे न रहा गया। उसने पत्र लिखा और अपने अपराधों के लिए क्षमा माँगी। पत्र आदि से अन्त तक भक्ति से भरा हुआ था। अन्त में उसने इन शब्दों में अपनी माता को आश्वासन दिया था—'माताजी, मैंने बड़े-बड़े उत्पात किये हैं, आप लोग मुझसे तङ्ग आ गई थीं, मैं उन सारी भूलों के लिए सच्चे हृदय से लज्जित हूँ और आपको विश्वास दिलाता हूँ कि जीता रहा, तो कुछ-न-कुछ कर दिखाऊँगा। तब कदाचित् आपको मुझे अपना पुत्र कहने में सकोच न होगा। मुझे आशीर्वाद दीजिए कि अपनी प्रतिज्ञा का पालन कर सकूँ।

यह पत्र लिखकर उसने डाक में छोड़ा और उसी दिन से उत्तर की प्रतीक्षा करने लगा; किन्तु एक महीना गुजर गया और कोई जवाब न आया। अब उसका जी घबड़ाने लगा। जवाब क्यों नहीं आता—कहीं माताजी बीमार तो नहीं हैं? शायद दादा ने क्रोधवश जवाब न लिखा होगा। कोई और विपत्ति तो नहीं आ पड़ी, कैम्प में एक वृक्ष के नीचे कुछ सिपाहियों ने शालिग्राम की एक मूर्त्ति रख छोड़ी थी, कुछ श्रद्धालु सैनिक रोज उस प्रतिमा पर जल चढाया करते थे। जगतसिंह उनकी हँसी उड़ाया करता; पर आज वह विक्षिप्तों की भाँति उस प्रतिमा के सम्मुख जाकर बड़ी देर तक मस्तक झुकाये बैठा रहा। वह इसी ध्यानावस्था में बैठा था कि किसीने उसका नाम लेकर पुकारा। यह दफ्तर का चपरासी था और उसके नाम की चिट्ठी लेकर आया था। जगतसिंह ने पत्र हाथ में लिया तो उसकी सारी देह काँप उठी। ईश्वर की स्तुति करके उसने लिफाफा खोला और पत्र पढा। लिखा था—'तुम्हारे दादा को गबन के अभियोग में ५ वर्ष की सजा हो गई है। तुम्हारी माता इस शोक में मरणासन्न है। छुट्टी मिले, तो घर चले आओ।'

जगतसिंह ने उसी वक्त कप्तान के पास जाकर कहा—हुजूर, मेरी माँ बीमार है, मुझे छुट्टी दे दीजिए।

कप्तान ने कठोर आँखों से देखकर कहा—अभी छुट्टी नहीं मिल सकती।

'तो मेरा इस्तीफा ले लीजिए।'

'अभी इस्तीफा भी नहीं लिया जा सकता।'

'मैं अब यहाँ एक क्षण नहीं रह सकता।'

'रहना पड़ेगा। तुम लोगों को बहुत जल्द लाम पर जाना पड़ेगा।'

'लड़ाई छिड़ गई? आह, तब मैं घर नहीं जाऊँगा। हम लोग कब तक यहाँ से जायँगे?'

'बहुत जल्द, दो ही चार दिन में।'

(४)

चार वर्ष बीत गये। कैप्टन जगतसिंह का-सा योद्धा उस रेजिमेंट में नहीं है। कठिन अवस्थाओं में उसका साहस और भी उत्तेजित हो जाता है। जिस मुहिम में सबकी हिम्मतें जवाब दे जाती हैं, उसे सर करना उसीका काम है। हल्ले और धावे में वह सदैव सबसे आगे रहता है, उसकी त्योरियों पर कभी मैल नहीं आता, इसके साथ ही वह इतना विनम्र, इतना गम्भीर, इतना प्रसन्नचित्त है कि सारे अफसर और मातहत उसकी बड़ाई करते हैं। उसका पुनर्जीवन-सा हो गया है। उस पर अफसरों को इतना विश्वास है कि अब वे प्रत्येक विषय में उससे परामर्श करते हैं। जिससे पूछिए, वह वीर जगतसिंह की विरुदावली सुना देगा—कैसे उसने जर्मनों की मेगज़ीन में आग लगाई, कैसे अपने कप्तान को मशीनगनों की मार से निकाला, कैसे अपने एक मातहत सिपाही को कन्धे पर लेकर निकल आया। ऐसा जान पड़ता है, उसे अपने प्राणों का मोह ही नहीं, मानो वह काल को खोजता फिरता है।

लेकिन नित्य रात्रि के समय जब जगतसिंह को अवकाश मिलता है, वह अपनी छोलदारी में अकेले बैठकर घरवालों को याद कर लिया करता है—दो-चार आँसू की बूँदें अवश्य गिरा देता है। वह प्रति मास अपने वेतन का बड़ा भाग घर भेज देता है, और ऐसा कोई सप्ताह नहीं जाता कि वह माता को पत्र न लिखता हो। सबसे बड़ी चिन्ता उसे अपने पिता की है, जो आज उसी के दुष्कर्मों के कारण कारावास की यातना झेल रहे हैं। हाय! वह कौन दिन होगा कि वह उनके चरणों पर सिर रखकर अपना अपराध क्षमा करायेगा और वह उसके सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद देंगे।

(५)

सवा चार वर्ष बीत गये। सन्ध्या का समय है। नैनी जेल के द्वार पर भीड़ लगी हुई है। कितने ही कैदियों की मीयाद पूरी हो गई है। उन्हें लिवा जाने के लिए उनके घरवाले आये हुए हैं; किन्तु बूढ़ा भक्तसिंह अपनी अँधेरी कोठरी में सिर झुकाये उदास बैठा हुआ है। उसकी कमर झुककर कमान हो गई है। देह अस्थिपजर-मात्र रह गई है। ऐसा जान पड़ता है, किसी चतुर शिल्पी ने एक अकाल-पीड़ित मनुष्य की मूर्ति बनाकर रख दी है। उसकी मीयाद भी पूरी हो गई है; लेकिन उसके घर से कोई नहीं आया। कौन आये? आनेवाला था ही कौन?

एक बूढे किन्तु हृष्ट-पुष्ट कैदी ने आकर उसका कधा हिलाया और बोला—कहो भगत, कोई घर से आया?

भक्तसिंह ने कपित कंठस्वर से कहा—घर पर है ही कौन?

'घर तो चलोगे हो?'

'मेरे घर कहाँ है?'

'तो क्या यहीं पड़े रहोगे?'

'अगर यह लोग निकाल न देंगे, तो यहीं पड़ा रहूँगा।'

आज चार साल के बाद भक्तसिंह को अपने प्रताड़ित, निर्वासित पुत्र की याद आ रही थी। जिसके कारण जीवन का सर्वनाश हो गया, आबरू मिट गई, घर बरबाद हो गया, उसकी स्मृति भी उन्हें असह्य थी; किन्तु आज नैराश्य और दुःख के अथाह सागर में डूबते हुए उन्होंने उसी तिनके का सहारा लिया। न-जाने उस बेचारे की क्या दशा हुई? लाख बुरा है, है तो अपना लड़का ही। खानदान की निशानी तो है, मरूँगा तो चार आँसू तो बहायेगा, दो चिल्लू पानी तो देगा। हाय! मैंने उसके साथ कभी प्रेम का व्यवहार नहीं किया। ज़रा भी शरारत करता, तो यमदूत की भाँति उसकी गर्दन पर सवार हो जाता। एक बार रसोई में बिना पैर धोये चले जाने के दड में मैंने उसे उलटा लटका दिया था। कितनी बार केवल जोर से बोलने पर मैंने उसे तमाचे लगाये। पुत्र-सा रत्न पाकर मैंने उसका आदर न किया। यह उसीका दड है। जहाँ प्रेम का बधन शिथिल हो, वहाँ परिवार की रक्षा कैसे हो सकती है?

(६)

सबेरा हुआ। आशा का सूर्य निकला। आज उसकी रश्मियाँ कितनी कोमल और मधुर थीं, वायु कितनी सुखद, आकाश कितना मनोहर, वृक्ष कितने हरे-भरे, पक्षियों का कल-रव कितना मीठा! सारी प्रकृति आशा के रङ्ग में रँगी हुई थी, पर भक्तसिंह के लिए चारों ओर घोर अन्धकार था।

जेल का अफसर आया। कैदी एक पंक्ति मे खड़े हुए। अफसर एक-एक का नाम लेकर रिहाई का परवाना देने लगा। कैदियों के चेहरे आशा से प्रफुल्लित थे जिसका नाम आता, वह खुश-खुश अफ़सर के पास जाता, परवाना लेता, झुककर सलाम करता और तब अपने विपत्ति-काल के सङ्गियों से गले मिलकर बाहर निकल जाता। उसके घरवाले दौड़कर उससे लिपट जाते। कोई पैसे लुटा रहा था, कहीं मिठाइयाँ बाँटी जा रही थीं, कहीं जेल के कर्मचारियों को इनाम दिया जा रहा था। आज नरक के पुतले विनम्रता के देवता बने हुए थे।

अन्त में, भक्तसिंह का नाम आया। वह सिर झुकाये, आहिस्ता-आहिस्ता जेलर के पास गये और उदासीन भाव से परवाना लेकर जेल के द्वार की ओर चले, मानो सामने कोई समुद्र लहरें मार रहा है। द्वार से बाहर निकलकर वह जमीन पर बैठ गये। कहाँ जायँ?

सहसा उन्होंने एक सैनिक अफसर को घोड़े पर सवार जेल की ओर आते देखा। उसकी देह पर खाकी वरदी थी, सिर पर कारचोबी साफा। अजीब शान से घोड़े पर बैठा हुआ था। उसके पीछे-पीछे एक फिटन आ रही थी। जेल के सिपाहियों ने अफसर को देखते ही बन्दूकें सँभालीं और लाइन में खड़े होकर सलाम किया।

भक्तसिंह ने मन में कहा—एक भाग्यवान् वह है जिसके लिए फिटन आ रही है और एक अभागा मैं हूँ, जिसका कहीं ठिकाना नहीं।

फ़ौजी अफसर ने इधर-उधर देखा और घोड़े से उतर कर सीधे भक्तसिंह के सामने आकर खड़ा हो गया।

भक्तसिंह ने उसे ध्यान से देखा और तब चौंककर उठ खड़े हुए और बोले—अरे! बेटा जगतसिंह! जगतसिंह रोता हुआ उनके पैरों पर गिर पड़ा।

इस्तीफ़ा

(१)

दफ्तर का बाबू एक बेज़बान जीव है। मज़दूर को आँखें दिखाओ, तो वह त्योरियाँ बदलकर खड़ा हो जायगा। कुली को एक डाँट बताओ, तो सिर से बोझ फेंककर अपनी राह लेगा। किसी भिखारी को दुतकारो, तो वह तुम्हारी ओर गुस्से की निगाह से देखकर चला जायगा। यहाँ तक कि गधा भी कभी-कभी तकलीफ पाकर दो-लत्तियाँ झाड़ने लगता है; मगर बेचारे दफ्तर के बाबू को आप चाहे आँखें दिखायें, डाँट बतायें, दुतकारें या ठोकरें मारें, उसके माथे पर बल न आयेगा। उसे अपने विचारों पर जो आधिपत्य होता है, वह शायद किसी संयमी साधु में भी न हो। सन्तोष का पुतला, सब्र की मूर्ति, सच्चा आज्ञाकारी, गरज़ उसमें तमाम मानवी अच्छाइयाँ मौजूद होती हैं। खँड़हर के भी एक दिन भाग्य जगते हैं। दीवाली के दिन उस पर भी रोशनी होती है, बरसात में उस पर हरियाली छाती है, प्रकृति की दिलचस्पियों में उसका भी हिस्सा है। मगर इस ग़रीब बाबू के नसीब कभी नहीं जागते। इसकी अँधेरी तक़दीर में रोशनी का जलवा कभी दिखाई नहीं देता। इसके पीले चेहरे पर कभी मुसकराहट की रोशनी नजर नहीं आती। इसके लिए सूखा-सावन है! कभी हरा भादों नहीं। लाला फतहचन्द ऐसे ही एक बेज़बान जीव थे।

कहते हैं, मनुष्य पर उसके नाम का भी कुछ असर पड़ता है। फतहचन्द की दशा में यह बात यथार्थ सिद्ध न हो सकी। यदि उन्हें 'हारचन्द' कहा जाय, तो कदाचित् यह अत्युक्ति न होगी। दफ्तर में हार, जिन्दगी में हार; मित्रों में हार, जीवन में उनके लिए चारों ओर हार और निराशाएँ ही थीं। लड़का एक भी नहीं, लड़कियाँ तीन, भाई एक भी नहीं, भौजाइयाँ दो, गाँठ में कौड़ी नहीं, मगर दिल में दया और मुरव्वत, सच्चा मित्र एक भी नहीं—जिससे मित्रता हुई उसने धोखा दिया, इस पर तन्दुरुस्ती अच्छी नहीं—बत्तीस साल की अवस्था में बाल खिचड़ी हो

गये थे। आँखों में ज्योति नहीं, हाज़मा चौपट, चेहरा पीला, गाल पिचके, कमर झुकी हुई, न दिल में हिम्मत, न कलेजे में ताक़त। नौ बजे दफ्तर जाते और छः बजे शाम को लौटकर घर आते। फिर घर से बाहर निकलने की हिम्मत न पड़ती। दुनिया में क्या होता है, इसकी उन्हें बिलकुल खबर न थी। उनकी दुनिया, लोक-परलोक जो कुछ था दफ्तर था। नौकरी की ख़ैर मनाते और ज़िन्दगी के दिन पूरे करते थे। न धर्म से वास्ता था, न दीन से नाता। न कोई मनोरंजन था, न खेल। ताश खेले हुए भी शायद एक मुद्दत गुज़र गई थी।

(२)

जाड़ों के दिन थे। आकाश पर कुछ-कुछ बादल थे। फ़तहचंद साढ़े पाँच बजे दफ्तर से लौटे तो चिराग जल गये थे। दफ्तर से आकर वह किसीसे कुछ न बोलते, चुपके से चारपाई पर लेट जाते और पन्द्रह-बीस मिनट तक बिना हिले-डुले पड़े रहते। तब कहीं जाकर उनके मुँह से आवाज़ निकलती। आज भी प्रतिदिन की तरह वे चुपचाप पड़े थे कि एक ही मिनट में बाहर से किसीने पुकारा। छोटी लड़की ने जाकर पूछा तो मालूम हुआ कि दफ़्तर का चपरासी है। शारदा पति के मुँह-हाथ धोने के लिए लोटा-गिलास माँज रही थी। बोली—उससे कह दे, क्या काम है। अभी तो दफ्तर से आये ही हैं, और अभी फिर बुलावा आगया?

चपरासी ने कहा—साहब ने कहा है, अभी बुला लाओ। कोई बड़ा ज़रूरी काम है।

फ़तहचन्द की खामोशी टूट गई। उन्होंने सिर उठाकर पूछा—क्या बात है?

शारदा—कोई नहीं, दफ्तर का चपरासी है।

फ़तहचंद ने सहमकर कहा—दफ्तर का चपरासी! क्या साहब ने बुलाया है?

शारदा—हाँ, कहता है, साहब बुला रहे हैं। यह कैसा साहब है तुम्हारा, जब देखो, बुलाया करता है। सबेरे के गये-गये अभी मकान को लौटे हो, फिर भी बुलावा आ गया?

फ़तहचंद ने सँभलकर कहा—जरा सुन लूँ, किस लिए बुलाया है। मैंने तो सब काम खतम कर दिया था, अभी आता हूँ।

शारदा—ज़रा जलपान तो करते जाओ, चपरासी से बातें करने लगोगे, तो तुम्हें अन्दर आने की याद भी न रहेगी।

यह कहकर वह एक प्याली में थोड़ी-सी दालमोट और सेव लाई। फ़तहचद उठकर खड़े हो गये, किन्तु खाने की चीजें देखकर चारपाई पर बैठ गये और प्याली की ओर चाव से देखकर डरते हुए बोले—लड़कियों को दे दिया है न?

शारदा ने आँखें चढ़ाकर कहा – हाँ-हाँ, दे दिया है, तुम तो खाओ।

इतने में छोटी लड़की आकर सामने खड़ी हो गई। शारदा ने उसकी ओर क्रोध से देखकर कहा—तू क्या आकर सिर पर सवार हो गई, जा बाहर खेल।

फ़तहचंद—रहने दो, क्यों डाँटती हो। यहाँ आओ चुन्नी, यह लो दालमोट ले जाओ।

चुन्नी माँ की ओर देखकर डरती हुई बाहर भाग गई।

फतहचद ने कहा—क्यों बेचारी को भगा दिया। दो-चार दाने दे देता, तो खुश हो जाती।

शारदा—इसमें है ही कितना कि सबको बाँटते फिरोगे? इसे देते तो बाकी दोनों न आ जातीं। किस-किसको देते?

इतने में चपरासी ने फिर पुकारा – बाबूजी, हमें बड़ी देर हो रही है।

शारदा—कह क्यों नहीं देते कि इस वक्त न आयेंगे।

फ़तहचंद—ऐसा कैसे कह दूँ भाई, रोज़ी का मामला है।

शारदा—तो क्या प्राण देकर काम करोगे? सूरत नहीं देखते अपनी। मालूम होता है छः महीने के बीमार हो।

फतहचद ने जल्दी-जल्दी दालमोट की दो-तीन फंकियाँ लगाईं, एक गिलास पानी पिया और बाहर की तरफ दौड़े। शारदा पान बनाती ही रह गई।

चपरासी ने कहा—बाबूजी! आपने बड़ी देर कर दी। अब ज़रा लपके चलिए, नहीं तो जाते ही डाँट बतायेगा।

फ़तहचद ने दो कदम दौड़कर कहा—चलेंगे तो भाई आदमी ही की तरह, चाहे डाँट बताये या दाँत दिखाये। हमसे दौड़ा तो नहीं जाता। बँगले ही पर है न?

चपरासी—भला वह दफ़्तर क्यों आने लगा। बादशाह है, कि दिल्लगी!

चपरासी तेज चलने का आदी था। बेचारे बाबू फ़तहचद धीरे-धीरे जाते थे। थोड़ी ही दूर चलकर हाँफ उठे। मगर मर्द तो थे ही, यह कैसे कहते कि भाई ज़रा और धीरे चलो। हिम्मत करके क़दम उठाते जाते थे, यहाँ तक कि जाँघों में दर्द

होने लगा और आधा रास्ता खतम होते-होते पैरों ने उठने से इनकार कर दिया। सारा शरीर पसीने में तर हो गया। सिर में चक्कर आ गया। आँखों के सामने तितलियाँ उड़ने लगीं।

चपरासी ने ललकारा—ज़रा क़दम बढ़ाये चलो बाबू!

फतहचद बड़ी मुश्किल से बोले—तुम जाओ, मैं आता हूँ।

वे सड़क के किनारे पटरी पर बैठ गये और सिर को दोनों हाथों से थामकर दम मारने लगे। चपरासी ने इनकी यह दशा देखी, तो आगे बढ़ा। फतहचद डरे कि यह शैतान जाकर न-जाने साहब से क्या कह दे, तो ग़जब ही हो जायगा। जमीन पर हाथ टेककर उठे और फिर चले। मगर कमज़ोरी से शरीर हाँफ रहा था। इस समय कोई बच्चा भी उन्हें जमीन पर गिरा सकता था। बेचारे किसी तरह गिरते-पड़ते साहब के बँगले पर पहुँचे। साहब बँगले पर टहल रहे थे। बार-बार फाटक की तरफ़ देखते थे और किसीको आते न देखकर मन-ही-मन में झल्लाते थे।

चपरासी को देखते ही आँखें निकालकर बोले—इतनी देर कहाँ था?

चपरासी ने बरामदे की सीढ़ी पर खड़े-खड़े कहा—हुजूर! जब वह आयें तब तो, मैं तो दौड़ा चला आ रहा हूँ।

साहब ने पैर पटककर कहा—बाबू क्या बोला?

चपरासी—आ रहे हैं हुजूर, घण्टा-भर में तो घर में से निकले।

इतने में फतहचद अहाते के तार के अन्दर से निकलकर वहाँ आ पहुँचे और साहब को सिर झुकाकर सलाम किया।

साहब ने कड़ककर कहा—अब तक कहाँ था?

फतहचद ने साहब का तमतमाता चेहरा देखा, तो उनका खून सूख गया। बोले—हुजूर! अभी-अभी तो दफ्तर से गया हूँ, ज्योंही चपरासी ने आवाज़ दी, हाज़िर हुआ।

साहब—झूठ बोलता है, झूठ बोलता है, हम घण्टे-भर से खड़ा है।

फतहचद—हुजूर, मैं झूठ नहीं बोलता। आने में जितनी देर हो गई हो; मगर घर से चलने में मुझे बिलकुल देर नहीं हुई।

साहब ने हाथ की छड़ी घुमाकर कहा—चुप रह, सुअर, हम घण्टा-भर से खड़ा

फतहचंद ने खून का घूँट पीकर कहा—हुजूर, मुझे दस साल काम करते हो गये, कभी………।

साहब—चुप रह, सुअर, हम कहता है अपना कान पकड़ो।

फतहचद—जब मैंने कोई कुसूर किया हो?

साहब—चपरासी! इस सुअर का कान पकड़ो।

चपरासी ने दबी ज़बान से कहा—हुज़ूर, यह भी मेरे अफसर हैं, मैं इनका कान कैसे पकड़ूँ?

साहब—हम कहता है, इसका कान पकड़ो, नहीं हम तुमको हण्टरों से मारेगा।

चपरासी—हुजूर, मैं यहाँ नौकरी करने आया हूँ, मार खाने नहीं। मैं भी इज्ज़तदार आदमी हूँ। हुजूर अपनी नौकरी ले लें। आप जो हुकुम दें, वह बजा लाने को हाज़िर हूँ; लेकिन किसीकी इज्ज़त नहीं बिगाड़ सकता। नौकरी तो चार दिन की है। चार दिन के लिए क्यों ज़माने-भर से बिगाड़ करें?

साहब अब क्रोध को न बरदाश्त कर सके। हण्टर लेकर दौड़े। चपरासी ने देखा, यहाँ खड़े रहने में खैरियत नहीं है, तो भाग खड़ा हुआ। फतहचद अभी तक चुपचाप खड़े थे। साहब चपरासी को न पाकर उनके पास आया और उनके दोनों कान पकड़कर हिला दिया। बोला—तुम सुअर, गुस्ताखी करता है? जाकर आफिस से फाइल लाओ।

फतहचन्द ने कान सहलाते हुए कहा—कौन-सा फाइल लाऊँ हुजूर!

साहब—फ़ाइल—फाइल और कौन-सा फाइल? तुम बहरा है, सुनता नहीं, हम फाइल माँगता है!

फतहचद ने किसी तरह दिलेर होकर कहा—आप कौन-सा फाइल माँगते हैं?

साहब—वही फाइल जो हम माँगता है। वही फाइल लाओ। अभी लाओ!

बेचारे फतहचद को अब और कुछ पूछने की हिम्मत न हुई। साहब बहादुर एक तो यों ही तेज़ मिज़ाज थे, इस पर हुकूमत का घमंड और सबसे बढ़कर शराब का नशा। हंटर लेकर पिल पड़ते, तो बेचारे क्या कर लेते। चुपके से दफ्तर की तरफ चल पड़े।

साहब ने कहा—दौड़कर जाओ—दौड़ो।

फतहचंद ने कहा—हजूर, मुझसे दौड़ा नहीं जाता।

साहब —ओ तुम बहुत सुस्त हो गया है। हम तुमको दौड़ना सिखायेगा। दौड़ो (पीछे से धक्का देकर) तुम अब भी नहीं दौड़ेगा ?

यह कहकर साहब हटर लेने चले। फतहचद दफ्तर के बाबू होने पर भी मनुष्य ही थे। यदि वह बलवान् होते, तो उस बदमाश का खून पी जाते। अगर उनके पास कोई हथियार होता, तो उस पर ज़रूर चला देते, लेकिन उस हालत में तो मार खाना ही उनकी तक़दीर में लिखा था। वे बेतहाशा भागे और फाटक से बाहर निकलकर सड़क पर आ गये।

(३)

फतहचद दफ्तर न गये। जाकर करते ही क्या! साहब ने फाइल का नाम तक न बताया। शायद नशा में भूल गया। धीरे-धीरे घर की ओर चले, मगर इस बेइज्ज़ती ने पैरों में बेड़ियाँ-सी डाल दी थीं। माना कि वह शारीरिक बल में साहब से कम थे, उनके हाथ में कोई चीज़ भी न थी, लेकिन क्या वह उसकी बातों का जवाब न दे सकते थे ? उनके पैरों में जूते तो थे। क्या वह जूते से काम न ले सकते थे ? फिर क्यों उन्होंने इतनी ज़िल्लत बरदाश्त की ?

मगर इलाज ही क्या था। यदि वह क्रोध मे उन्हें गोली मार देता, तो उनका क्या बिगड़ता। शायद एक-दो महीने की सादी कैद हो जाती। सम्भव है, दो-चार सौ रुपये जुर्माना हो जाता, मगर इनका परिवार तो मिट्टी में मिल जाता। ससार में कौन था जो इनके स्त्री-बच्चों की खबर लेता। वह किसके दरवाजे हाथ फैलाते। यदि उनके पास इतने रुपये होते, जिनसे उनके कुटुम्ब का पालन हो जाता, तो वह आज इतनी ज़िल्लत न सहते। या तो मर ही जाते या उस शैतान को कुछ सबक ही दे देते। अपनी जान का इन्हें डर न था। जिन्दगी में ऐसा कौन सुख था, जिसके लिए वह इस तरह डरते ? खयाल था सिर्फ परिवार के बरबाद हो जाने का।

आज फतहचद को अपनी शारीरिक कमज़ोरी पर जितना दुख हुआ, उतना कभी न हुआ था। अगर उन्होंने शुरू ही से तन्दुरुस्ती का ख्याल रखा होता, कुछ कसरत करते रहते, लकड़ी चलाना जानते होते, तो क्या इस शैतान की इतनी हिम्मत होती कि वह उनका कान पकड़ता! उसकी आँखें निकाल लेते। कम-से-कम इन्हें घर से एक छुरी लेकर चलना था। और न होता, दो-चार हाथ जमाते ही—पीछे देखा जाता, जेलखाना ही तो होता या और कुछ!

वे ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते थे, त्यों-त्यों उनकी तबीयत अपनी कायरता और बोदेपन पर और भी झल्लाती थी। अगर वह उचककर उसके दो-चार थप्पड़ लगा देते, तो क्या होता—यही न कि साहब के खानसामे, बहरे, सब उन पर पिल पड़ते और मारते-मारते बेदम कर देते। बाल-बच्चों के सिर पर जो कुछ पड़ती—पड़ती। साहब को इतना तो मालूम हो जाता कि किसी ग़रीब को बेगुनाह ज़लील करना आसान नहीं। आखिर आज मैं मर जाऊँ तो क्या हो? तब कौन मेरे बच्चों का पालन करेगा? तब उनके सिर जो कुछ पड़ेगी, वह आज ही पड़ जाती, तो क्या हर्ज था?

इस अन्तिम विचार ने फ़तहचंद के हृदय में इतना जोश भर दिया कि वह लौट पड़े और साहब से ज़िल्लत का बदला लेने के लिए दो-चार क़दम चले, मगर फिर खयाल आया, आखिर जो कुछ ज़िल्लत होती थी, वह तो हो ही ली। कौन जाने, बँगला पर हो या क्लब चला गया हो। उसी समय उन्हें शारदा की बेकसी और बच्चों का बिना बाप के हो जाने का खयाल भी आ गया। फिर लौटे और घर चले।

(४)

घर में जाते ही शारदा ने पूछा—किस लिए बुलाया था, बड़ी देर हो गई?

फ़तहचंद ने चारपाई पर लेटते हुए कहा—नशे की सनक थी, और क्या? शैतान ने मुझे गालियाँ दीं, ज़लील किया, बस यही रट लगाये हुए था कि देर क्यों की। निर्दयी ने चपरासी से मेरा कान पकड़ने को कहा।

शारदा ने गुस्से में आकर कहा—तुमने एक जूता उतारकर दिया नहीं सूअर को?

फ़तहचंद—चपरासी बहुत शरीफ़ है। उसने साफ कह दिया—हुजूर, मुझसे यह काम न होगा। मैंने भले आदमियों की इज्ज़त उतारने के लिए नौकरी नहीं की थी। वह उसी वक्त सलाम करके चला गया।

शारदा - यह बहादुरी है। तुमने उस साहब को क्यों नहीं फटकारा?

फ़तहचंद—फटकारा क्यों नहीं—मैंने भी खूब सुनाई। वह छड़ी लेकर दौड़ा—मैंने भी जूता सँभाला। उसने मुझे कई छड़ियाँ जमाईं—मैंने भी कई जूते लगाये।

शारदा ने खुश होकर कहा—सच? इतना-सा मुँह हो गया होगा उसका।

फ़तहचंद—चेहरे पर झाड़ू-सी फिरी हुई थी।

शारदा—बड़ा अच्छा किया तुमने, और मारना चाहिए था। मैं होती, तो बिना जान लिये न छोड़ती।

फतहचद—मार तो आया हूँ, लेकिन अब ख़ैरियत नहीं है। देखो, क्या नतीजा होता है? नौकरी तो जायगी ही, शायद सज़ा भी काटनी पड़े?

शारदा—सज़ा क्यों काटनी पड़ेगी? क्या कोई इन्साफ करनेवाला नहीं है? उसने क्यों गालियाँ दीं, क्यों छड़ी जमाई?

फतहचद—उसके सामने मेरी कौन सुनेगा? अदालत भी उसी की तरफ़ हो जायगी।

शारदा—हो जायगी, हो जाय, मगर देख लेना, अब किसी साहब की यह हिम्मत न होगी कि किसी बाबू को गालियाँ दे बैठे। तुम्हें चाहिए था, कि ज्योंही उसके मुँह से गालियाँ निकलीं, लपककर एक जूता रसीद करते।

फतहचद—तो फिर इस वक्त ज़िन्दा लौट भी न सकता। ज़रूर मुझे गोली मार देता।

शारदा—देखी जाती।

फतहचद ने मुस्कराकर कहा—फिर तुम लोग कहाँ जातीं?

शारदा—जहाँ ईश्वर की मरज़ी होती। आदमी के लिए सबसे बड़ी चीज़ इज्ज़त है। इज्ज़त गँवाकर बाल-बच्चों की परवरिश नहीं की जाती। तुम उस शैतान को मारकर आये हो, मैं गरूर से फूली नहीं समाती। मार खाकर आते, तो शायद मैं तुम्हारी सूरत से भी घृणा करती। यों ज़बान से चाहे कुछ न कहती, मगर दिल से तुम्हारी इज्ज़त जाती रहती। अब जो कुछ सिर पर आयेगी, खुशी से झेल लूँगी...। कहाँ जाते हो, सुनो-सुनो, कहाँ जाते हो?

फतहचद दीवाने होकर जोश में घर से निकल पड़े। शारदा पुकारती रह गई। वह फिर साहब के बँगले की तरफ जा रहे थे। डर से सहमे हुए नहीं, बल्कि गरूर से गर्दन उठाये हुए। पक्का इरादा उनके चेहरे से झलक रहा था। उनके पैरों में वह कमजोरी, आँखों में वह बेकसी न थी। उनकी कायापलट-सी हो गई। वह कमज़ोर बदन, पीला मुखड़ा, दुबले बदनवाला, दफ्तर के बाबू की जगह अब मर्दाना चेहरा, हिम्मत से भरा हुआ, मजबूत गठा हुआ जवान था। उन्होंने पहले एक दोस्त के घर जाकर उसका डंडा लिया और अकड़ते हुए साहब के बँगले पर जा पहुँचे।

(५)

इस वक्त नौ बजे थे। साहब खाने की मेज़ पर थे। मगर फतहचद ने आज उनके मेज़ पर से उठ जाने का इन्तजार न किया। खानसामा कमरे से बाहर निकला और वह चिक उठाकर अन्दर गया। कमरा प्रकाश से जगमगा रहा था। जमीन पर ऐसी कालीन बिछी हुई थी, जैसी फतहचद की शादी में नहीं बिछी होगी। साहब बहादुर ने उसकी तरफ क्रोधित दृष्टि से देखकर कहा—तुम क्यों आया, बाहर जाओ, क्यों अन्दर चला आया?

फतहचद ने खड़े-खड़े डंडा सँभालकर कहा—तुमने मुझसे अभी फाइल मांगा था, वही फाइल लेकर आया हूँ। खाना खा लो, तो दिखाऊँ। तब तक मैं बैठा हूँ। इतमीनान से खाओ, शायद यह तुम्हारा आखिरी खाना होगा। इसी कारण खूब पेट-भर खा लो।

साहब सन्नाटे में आ गये। फतहचद की तरफ डर और क्रोध की दृष्टि से देखकर काँप उठे। फतहचद के चेहरे पर पक्का इरादा झलक रहा था। साहब समझ गये, यह मनुष्य इस समय मरने-मारने के लिए तैयार होकर आया है। ताक़त में फतहचद उनके पासंग भी नहीं था। लेकिन यह निश्चय था कि वह ईंट का जवाब पत्थर से नहीं, बल्कि लोहे से देने को तैयार है। यदि वह फतहचद को बुरा भला कहते हैं, तो क्या आश्चर्य है कि वह डण्डा लेकर पिल पड़े। हाथापाई करने मे यद्यपि उन्हें जीतने में ज़रा भी सन्देह नहीं था, लेकिन बैठे-बिठाये डण्डे खाना भी तो कोई बुद्धिमानी नहीं है। कुत्ते को आप डण्डे से मारिए, ठुकराइए, जो चाहे कीजिए; मगर उसी समय तक, जब तक वह गुर्राता नहीं। एक बार गुर्राकर दौड़ पड़े, तो फिर देखें, आपकी हिम्मत कहाँ जाती है? यही हाल उस वक्त साहब बहादुर का था। जब तक यकीन था कि फतहचद घुड़की, धुरकी, हण्टर, ठोकर सब कुछ खामोशी से सह लेगा, तब तक आप शेर थे; अब वह त्योरियाँ बदले, डण्डा सँभाले, बिल्ली की तरह घात लगाये खड़ा है। ज़बान से कोई कड़ा शब्द निकला और उसने डण्डा चलाया। वह अधिक-से अधिक उसे बरखास्त कर सकते हैं। अगर मारते हैं, तो मार खाने का भी डर। उस पर फौजदारी में मुक़दमा दायर हो जाने का अंदेशा—माना कि वह अपने प्रभाव और ताकत से अन्त में फतहचद को जेल में डलवा देंगे, परन्तु परेशानी और बदनामी से किसी तरह न बच सकते थे। एक बुद्धिमान, और

दूरन्देश आदमी की तरह उन्होंने यह कहा—ओहो, हम समझ गया, आप हमसे नाराज़ हैं। हमने क्या आपको कुछ कहा है, आप क्यों हमसे नाराज़ हैं?

फ़तहचद ने तनकर कहा—तुमने अभी आध घण्टा पहले मेरे कान पकड़े थे और मुझे सैकड़ों ऊल-जलूल बातें कही थीं। क्या इतनी जल्दी भूल गये?

साहब—मैंने आपका कान पकड़ा, आ-हा हा-हा-हा! मैंने आपका कान पकड़ा—आ-हा-हा-हा! क्या मज़ाक है? क्या मैं पागल हूँ या दीवाना?

फतहचद - तो क्या मैं झूठ बोल रहा हूँ! चपरासी गवाह है। आपके नौकर-चाकर भी देख रहे थे।

साहब—कब का बात है?

फतहचद—अभी, अभी कोई आध घण्टा हुआ, आपने मुझे बुलवाया था और बिना कारण मेरे कान पकड़े और धक्के दिये थे।

साहब—ओ बाबूजी, उस वक्त हम नशा में था। बेहरा ने हमको बहुत दे दिया था। हमको कुछ खबर नहीं, क्या हुआ. माई गाड, हमको कुछ खबर नहीं।

फतहचद—नशा में अगर तुमने मुझे गोली मार दी होती, तो क्या मैं मर न जाता? अगर तुम्हें नशा था और नशा में सब कुछ मुआफ है, तो मैं भी नशा में हूँ। सुनो मेरा फैसला, या तो अपने कान पकड़ो कि फिर कभी किसी भले आदमी के सङ्ग ऐसा बर्ताव न करोगे; या मैं आकर तुम्हारे कान पकड़ूँगा। समझ गये कि नहीं? इधर-उधर हिलो नहीं, तुमने जगह छोड़ी और मैंने डण्डा चलाया। फिर खोपड़ी टूट जाय, तो मेरी खता नहीं। मैं जो कुछ कहता हूँ; वह करते चलो, पकड़ो कान!

साहब ने बनावटी हँसी हँसकर कहा—वेल बाबूजी, आप बहुत दिल्लगी करता है। अगर हमने आपको बुरा बात कहा है, तो हम आपसे माफी माँगता है!

फतहचद—(डण्डा तौलकर) नहीं, कान पकड़ो!

साहब आसानी से इतना ज़िल्लत न सह सके। लपककर उठे और चाहा कि फतहचद के हाथ से लकड़ी छीन लें, लेकिन फतहचद गाफिल न था। साहब मेज़ पर से उठने भी न पाये थे कि उसने डण्डे का भरपूर और तुला हुआ हाथ चलाया। साहब तो नगे सिर थे ही, चोट सिर पर पड़ गई। खोपड़ी भन्ना गई। एक मिनट तक सिर को पकड़े रहने के बाद बोले—हम तुमको बरखास्त कर देगा।

[illegible] — इसकी मुझे परवाह नहीं ; मगर आज मैं तुमसे बिना कान पकड़ाये नहीं जाऊँगा। कान पकड़कर वादा करो कि फिर किसी भले आदमी के साथ ऐसी बेअदबी न करोगे, नहीं तो मेरा दूसरा हाथ पड़ा ही चाहता है।

यह कहकर फतहचन्द ने फिर डण्डा उठाया। साहब को अभी तक पहली चोट न भूली थी। अगर कहीं यह दूसरा हाथ पड़ गया, तो शायद खोपड़ी खुल जाय। कान पर हाथ रखकर बोले — अब आप खुश हुआ ?

'फिर तो कभी किसी को गाली न दोगे ?'

'कभी नहीं।'

'अगर फिर कभी ऐसा किया, तो समझ लेना, मैं कहीं बहुत दूर नहीं हूँ।'

'अब किसी को गाली न देगा।'

'अच्छी बात है। अब मैं जाता हूँ, आज से मेरा इस्तीफा है। मैं कल इस्तीफा में यह लिखकर भेजूँगा कि तुमने मुझे गालियाँ दीं, इसलिए मैं नौकरी नहीं करना चाहता, समझ गये ?'

साहब — आप इस्तीफा क्यों देता है। हम तो बरखास्त नहीं करता।

फतहचंद—अब तुम-जैसे पाजी आदमी की मातहती न करूँगा।

यह कहते हुए फतहचद कमरे से बाहर निकले और बड़े इतमीनान से घर चले। आज उन्हें सच्ची विजय की प्रसन्नता का अनुभव हुआ। उन्हें ऐसी खुशी कभी नहीं प्राप्त हुई थी। यही उनके जीवन की पहली जीत थी।